ISSN 2277-5854 UGC Approved Journal No. 40949 UPNUL/2013/51445

षाण्मासिकी

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

गुरुवर जन्मशती विशेषांक

श्रीविद्या साधना पीठ
वाराणसी-उ.प्र.

वर्ष १५ फरवरी २०२६ अंक २

ब्रह्मलीन पूज्यपाद धर्मसम्राट् श्रीहरिहरानन्दसरस्वतीकरपात्रस्वामी
दीक्षानाम - षोडशानन्दनाथ

शिवसायुज्य प्राप्त पं० सीताराम कविराज
दीक्षानाम - दत्तात्रेयानन्दनाथ

UPNUL/2013/51445
अभिनिर्देशित एवं सन्दर्भित

ISSN 2277-5854
UGC CARE LISTED

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

गुरुवरजन्मशतीविशेषाङ्कः

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक
प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
पूर्व-समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र व
पूर्व-अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

सह-सम्पादक
डॉ. दीपक कुमार शर्मा
सहायक आचार्य, डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी

श्रीविद्यासाधनापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष 15 अङ्क 2

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी 13/90 सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

Website Link : https://shreevidyasadhanapeeth.com/home/our_pooja

फरवरी, **2026**

सम्पादक :
प्रो. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : 0542-2366622/9452917551

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : 250/-

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

प्रो. यज्ञेश्वर शास्त्री, पूर्व-कुलपति, साञ्ची विश्वविद्यालय, साञ्ची

प्रो. एस. सुदर्शन शर्मा, पूर्व-कुलपति, श्री वेंकटेश्वर वैदिक विश्वविद्यालय, तिरुपति।

प्रो. श्रीनिवास वरखेडी, कुलपति, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू वि. वि., वाराणसी-221005

प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, सदस्य, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, महरौली-बदरपुर रोड, नई दिल्ली-110062

प्रो. रमाकान्त आङ्गिरस, कालिदास प्रोफेसर एवं पूर्व-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।

प्रो. शीतलाप्रसाद पांडेय, अध्यक्ष, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या, धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

प्रो. गोपाल प्रसाद शर्मा, पूर्व अध्यक्ष, वेद विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

प्रो. रवीन्द्रनाथ भट्टाचार्य, संस्कृत विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता-700073

प्रो. चन्द्रकान्ता राय, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, आर्यमहिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी,-221002

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध में सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

UPNUL/2013/51445 Peer Reviewed & referred ISSN 2277-5854
Peer Reviewed & referred UGC CARE LISTED

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Guruvara Janmashatee Visheshanka

Founder-Editor
Sri Dattātreyānandanāth
(Sitaram Kaviraj)

Editor
Prof. Rajendra Prasad Sharma
Ex-Co-ordinator (UGC CAS)
Ex-Head, Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

Co-Editor
Dr. Deepak Kumar Sharma
Asstt. Professor, D.A.V. PG College, (Banaras Hindu University) Varanasi.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Varanasi (U.P.)

वर्ष 15 अङ्क 2

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nagwa, Varanasi.

Website Link : https://shreevidyasadhanapeeth.com/home/our_pooja

February, 2026

Editor :
Prof. Rajendra Prasad Sharma

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622 / 9452917551

UPNUL/2013/51445
ISSN. 2277-5854
UGC Approved Journal (No. 40949)
UGC CARE-listed

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 250/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shall be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	
संस्मरण आलेख			
1.	पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों का पावन संस्मरण	आचार्य हृदय रंजन शर्मा	1–2
2.	श्रीगुरु चरण स्मरण	प्रो. श्रीकिशोर मिश्र	3–5
3.	बन्दउँ गुरुपदपदुमपरागा	प्रो. कमलाकान्तत्रिपाठी	6–10
4.	गुरुवाग्विलास	प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय	11–15
5.	श्रीगुरुस्मरण	प्रो. उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी	16–18
6.	मेरी स्मृति में नित्य विद्यमान गुरुजी दत्तात्रेयानन्दनाथ (पं. सीताराम कविराज)	डॉ. पुष्पा त्रिपाठी (शिवपुरन्ध्रि)	19–21
7.	वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्	डॉ. दीपक कुमार शर्मा	22–23
8.	बंदऊ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि	रविशंकर शुक्ल	24–25
9.	मुक्तिदा गुरुवागेका	प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	26–29
शोधलेख			
10.	माँ ही संस्कृत है–संस्कृति है	आचार्य गुलाब कोठारी	30–32
11.	उशतीरिव मातरो मा विशन्तु	प्रो. हरीश	33–38
12.	मन्त्रसिद्धि की चाभी	डॉ. हर्षदेव माधव	39–44
13.	त्रिकागमे शून्यस्य पारमार्थिकस्वरूपविमर्शः	हरिप्रिया तिरुनगरि	45–53
14.	*नैषधचरिते* विवाहसंस्कारविधिः	डॉ .सुप्रीतिसाहा एवं डॉ. लोकेश–मण्डल	54–64
15.	'पञ्चस्तवी' स्तोत्र में प्रतिपादित शाक्त–आगम की प्रमुख अवधारणाएँ	डॉ. रमेश चन्द्र नैलवाल	65–73
16.	नाथ–दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया में शिव तथा ललिता तत्त्व की महत्ता	डॉ. रञ्जनलता	74–78

17.	वैष्णव पाञ्चरात्र आगम : परिचय	डॉ. बिंदिया त्रिवेदी	79–87
18.	श्रीनेत्रतन्त्रोक्त अष्टाङ्ग योग विमर्श	नवकान्त	88–94
19.	आगम तन्त्र : दार्शनिक, साधनात्मक एवं सांस्कृतिक अन्वेषण	सिद्धार्थ तिवारी	95–101
20.	निगम आगम में शिव तत्त्व	शुभम कुमार पाण्डेय	102–110
21.	मीमांसा दर्शन में लोक–अर्थ की प्रधानता	प्रो. गोपाल प्रसाद शर्मा	111–115
22.	कष्टार्तव की समस्या का योग द्वारा निवारण	कृष्णा दग्दी एवं डॉ राकेश गिरी	116–122
23.	Pāñcarātra Āgama and its Epigraphical Presence	Dr. Pankaj Kumar Mishra	123–133
24.	The Cultural Imprint of the Pāñcarātra Āgama	Sakshi Kumari	134–145
25.	Integrative Metaphysics of Consciousness: A Scientific Reinterpretation of Śiva-Śakti-Bindu Dynamics in Tantra Philosophy	Dr. Sunita Barman	146–154
26.	Abhinavan Tantric Interpretationof Knowledge in the *Gītārtha-Saṅgraha*	Shradha Aggarwal	155–162
27.	Śaṅkara, Rāmānuja and Madhva: Vedāntic Interpretations of the Upaniṣadic Vision with Reference to the Kathopaniṣad and the Āgama Tradition	Dr. Krushna Chandra Panda	163–170
28.	Contribution of Sri Aurobindo in the field of Indology: A Critical Study	Dibyajyoti Hazra & Dr. Subhrajit Sen	171–182

सम्पादकीय

प्रात:स्मरणीय परमपूज्य गुरुवर दत्तात्रेयनाथ (सीताराम कविराज) के चरणों में कोटिश: प्रणाम। हर्ष और परम सौभाग्य का विषय है कि गुरुदेव की जन्मशती फाल्गुन शुक्ल नवमी (25 फरवरी, 2026) को पूर्ण हो रही है। एतदर्थ *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का परिवर्धित विशेषांक प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें पत्रिका के पृष्ठों की वृद्धि करने का निर्णय भी श्री प्रकाशानन्दजी के द्वारा किया गया है। यह सौभाग्य एवं आनन्द का विषय है। गुरुजी के जन्मोत्सव को साधकों का सदा मानना ही चाहिये, यह तन्त्र की परम्परा है। अत: गुरुजी की इच्छा अनुरूप शोध पत्रिका का प्रकाशन अबाधित गति से हो रहा है। इससे श्रीविद्या साधकों को शास्त्रीय तत्त्व समझने में अति सरलता एवं सहजता होती है। यह एक सारस्वत यज्ञ है। इनकी निरन्तरता हमारे पर गुरुजी के आशीर्वाद का प्रतिफलन है।

आलेख परिचय

निम्नलिखित संस्मरण आलेख संख्या प्रथम से नवम तक सभी संस्मरण आलेख गुरुजी की जन्मशती पर उनके व्यक्तित्व एवं संस्मरण को समर्पित है—

1. पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों का पावन संस्मरण — आचार्य हृदय रंजन शर्मा
2. श्रीगुरु चरण स्मरण — प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
3. बन्दउँ गुरुपदपदुमपरागा — प्रो. कमलाकान्तत्रिपाठी
4. गुरुवाग्विलास — प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय
5. श्रीगुरुस्मरण — प्रो. उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी
6. मेरी स्मृति में नित्य विद्यमान गुरुजी दत्तात्रेयानन्दनाथ (पं. सीताराम कविराज) — डॉ. पुष्पा त्रिपाठी
7. वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् — डॉ. दीपक कुमार शर्मा
8. बंदऊ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु — रविशंकर शुक्ल
9. मुक्तिदा गुरुवागेका — प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

इनके लेखक वरेण्यों का सादर प्रणाम, साधुवाद व अभिनन्दन।

इस अङ्क के दशम आलेख 'माँ ही संस्कृत है–संस्कृति है' में राजस्थान पत्रिका के प्रधान सम्पादक एवं पं. मधुसूदन ओझा वैदिक अध्ययन संस्थान के आचार्य गुलाब कोठारी ने शब्द सृष्टि के रहस्य उद्घाटित

करते हुए संस्कृत भाषा की दिव्यरूपता को भारती या सरस्वती रूप में तथा पदार्थ जगत् को लक्ष्मी रूप में सिद्धान्तित किया है। परा और अपरा प्रकृति इन दोनों को सिद्ध किया है तथा मातृशक्ति के दिव्य पक्ष पर विवेचन किया है। अत: सादर प्रणाम और अभिनन्दन।

एकादश आलेख 'उशतीरिव मातरो मा विशन्तु' में प्रो. हरीश ने आगम साहित्य के स्तोत्र ग्रन्थों के आधार पर श्रीचक्र की महिमा प्रतिपादित की है। ब्रह्माण्ड का प्रतीक सिद्ध करते हुए मातृ साधना की सर्वोच्चता सिद्ध की है। मातृशक्ति की प्रसन्नता से ही मोक्ष सम्भव है। इस स्तुत्य प्रयास हेतु सादर प्रणमन एवं अभिनन्दन।

द्वादश आलेख 'मन्त्रसिद्धि की चाभी' में डॉ. हर्षदेव माधव [प्रकाशानन्दनाथ–महानित्याम्बा] ने सिद्ध कुञ्जिका स्तोत्र के आगमिक रहस्यों की व्याख्या का अनुपम प्रयास किया है। 'दुर्गामातृका' का नवीन चिन्तन प्रस्तुत कर साधकों को उपकृत किया है। अत: आचार्यवर को सादर प्रणाम।

त्रयोदश आलेख 'त्रिकागमे शून्यस्य पारमार्थिकस्वरूपविमर्शः' में हरिप्रिया तिरुनगरि ने त्रिकागम के आधार पर नवनादों की अनुपम व्याख्या प्रस्तुत की है। शून्य (बिन्दु) चक्र से महाबिन्दु तक की अन्तर्यागीय साधना का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत कर महान् कार्य किया है। शून्य यहाँ पूर्णता के अर्थ में है तथा शिव के प्रत्यक्ष में कारण रूप है। इनका विशिष्ट अभिनन्दन व वर्धापन।

चतुर्दश आलेख '*नैषधचरिते* विवाहसंस्कारविधि:' में डॉ .सुप्रीतिसाहा एवं डॉ. लोकेश–मण्डल ने *नैषधचरित* के आधार पर विवाह विधानों की वैदिकता को विवेचित किया है। स्वयंवर, मधुपर्क, लाजाहोम आदि शास्त्रीय विधि का निरूपण कर महनीय कार्य किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

पन्द्रहवें आलेख 'पञ्चस्तवी' स्तोत्र में प्रतिपादित शाक्त–आगम की प्रमुख अवधारणाएँ' में डॉ. रमेश चन्द्र नैलवाल ने पञ्चस्तवी स्तोत्र में निरूपित आगमिक विषयों का शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करते हुए दीक्षा, शिवशक्ति, सामरस्य एवं उपाय आदि का समालोचन कर महनीय कार्य किया है। इनके इस विवेचन से गम्भीर रहस्य उद्घाटित होते हैं। अत: सादर साधुवाद।

सोलहवें आलेख में 'नाथ–दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया में शिव तथा ललिता तत्त्व की महत्ता' में डॉ. रञ्जनलता ने गोरखनाथ के दर्शन में शिव तथा ललिता तत्त्व का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। सृष्टि प्रक्रिया में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका सिद्ध की है। अत: हार्दिक साधुवाद।

सत्रहवें आलेख 'वैष्णव पाञ्चरात्र आगम : परिचय' में डॉ. बिंदिया त्रिवेदी ने पञ्चरात्र के कई पारिभाषिक अर्थों का विवेचन किया है। इस दर्शन की संहिता, शास्त्र तथा पञ्चकाल एवं व्यूह की शास्त्रीय मीमांसा प्रस्तुत कर अनुपम कार्य किया है। एतदर्थ हार्दिक साधुवाद।

अट्ठारहवें आलेख 'श्रीनेत्रतन्त्रोक्त अष्टाङ्ग योग विमर्श' में नवकान्त ने पातञ्जल अष्टांगयोग तथा नेत्रतन्त्रोक्त अष्टांगयोग का भेद सुस्पष्ट किया है तथा *मालिनीविजयतन्त्र* के षडङ्ग योग की तुलना कर उल्लेखनीय कार्य किया है। एतदर्थ साधुवाद।

उन्नीसवें आलेख 'आगम तन्त्र : दार्शनिक, साधनात्मक एवं सांस्कृतिक अन्वेषण' में सिद्धार्थ तिवारी ने आगम और तन्त्र के विविध आयामों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत कर उत्तम कार्य किया है। अत: साधुवाद।

बीसवें आलेख 'निगम आगम में शिव तत्त्व' में शुभम कुमार पाण्डेय ने वैदिक रुद्र तथा आगमिक शिव की एकता को सप्रमाण सिद्ध किया है। शिव नाशक भी हैं और कल्याणकर्ता भी। भगवान् शिव की पाँच शक्तियों का भी विवेचन प्रस्तुत है। सादर साधुवाद।

इक्कीसवें आलेख 'मीमांसा दर्शन में लोक–अर्थ की प्रधानता' में प्रो. गोपाल प्रसाद शर्मा ने वेदों के अर्थ विचार की मीमांसक पद्धति पर शोध लेख लिखा है। पदों के अर्थ विचारणा में लोक अर्थ की प्रधानता रहती है। यह सिद्ध कर उत्तम कार्य किया है। आचार्यवर को सादर प्रणाम।

बाईसवें आलेख 'कष्टार्तव की समस्या का योग द्वारा निवारण' में कृष्णा दग्दी एवं डॉ राकेश गिरी ने योगसाधना द्वारा कष्टार्तव निदान प्रस्तुत कर अनुपम कार्य किया है। एतदर्थ सादर साधुवाद।

तेइसवें आलेख 'Pāñcarātra Āgama and its Epigraphical Presence' में प्रो. पंकज कुमार मिश्र ने पाञ्चरात्र का विशद विवेचन करते हुए संहिताओं के चार पाद—ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या का विवरण दिया है। पाञ्चरात्र के विविध अर्थों का स्पष्टीकरण करते हुए ऐतिहासिक विवेचन कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अत: सादर नमन व अभिनन्दन।

चौबीसवें आलेख 'The Cultural Imprint of the Pāñcarātra Āgama' में साक्षी कुमारी ने पाञ्चरात्र के सांस्कृतिक अवदानों की चर्चा करते हुए उनकी कला एवं संस्कृति के पक्ष का सुन्दर विवेचन किया है। काव्य, नृत्य व दान परम्परा का भी सम्यक् अध्ययन किया है तथा उसका प्रभाव भी विवेचित किया है। अत: साधुवाद।

पच्चीसवें आलेख 'Integrative Metaphysics of Consciousness: A Scientific Reinterpretation of Śiva-Śakti-Bindu Dynamics in Tantra Philosophy' में डॉ. सुनीता बर्मन ने शिव, शक्ति एवं बिन्दु के प्रतीकार्थ को परिभाषित किया है तथा शब्दशक्ति पर गम्भीर विवेचन किया है। आगमिक विषयों का संक्षिप्त विवेचन कर महनीय उपकार किया है। अत: बहुत–बहुत साधुवाद।

छब्बीसवें आलेख 'Abhinavan Tantric Interpretationof Knowledge in the *Gītārtha-Saṅgraha'* में श्रद्धा अग्रवाल ने अभिनव गुप्त की गीता की व्याख्या *'गीतार्थ संग्रह'* में प्राप्त आगमिक विषय—प्रकाश, विमर्श, शक्तिपात, प्रत्यभिज्ञा, शक्ति, भक्ति, स्पन्द तथा चतुर्विध उपाय का विवेचन कर अनुपम शोध कार्य किया है। अत: हार्दिक साधुवाद।

सत्ताइसवें आलेख 'Śaṅkara, Rāmānuja and Madhva: Vedāntic Interpretations of the Upaniṣadic Vision with Reference to the *Kathopaniṣad* and the Āgama Tradition' में डॉ. कृष्णचन्द्र पण्डा ने *कठोपनिषद्* के विविध भाष्यों की समीक्षा प्रस्तुत कर उत्तम कार्य किया है। एतदर्थ सादर साधुवाद।

अट्ठाइसवें आलेख 'Contribution of Sri Aurobindo in the field of Indology: A Critical Study' में दिव्य ज्योति हाजरा एवं शुभ्रजित् सेन ने अरविन्द के दर्शन की समीक्षा करते हुए उसकी संस्कृत कृतियाँ—*प्राण इदं सर्वम्, भवानी भारती तथा तान्त्रिक सिद्धि प्रकरणम्* आदि की विस्तृत विवेचना कर अनुपम कार्य किया है। अत: सादर साधुवाद।

यह अङ्क न केवल अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री को साधकों के लिये उपलब्ध कराता है अपितु नई अनुसन्धानपरक रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की सार्वकालिक उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। जो साधक इस सारस्वत यज्ञ में लेख रूपी आहुति देना चाहते हैं, वे इमेल पर 'वर्ड डाकुमेन्ट' में भेज सकते हैं।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
(शिवानन्दनाथ पूर्णाभिषिक्त)
सम्पादक
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर, जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों का पावन संस्मरण

आचार्य हृदय रंजन शर्मा

मेरे जीवन का यह परम सौभाग्य है कि काशी में पूज्य गुरुदेव का दर्शन एवं सत्संगति प्राप्त हुई। उनका सस्नेह और अनुग्रहपरक आशीषभाव मन के अन्तराल में ज्योतिर्मय पवित्र अनुभूति को स्पन्दित कर देने वाला रहा तथा आज भी स्पन्दन का वह पुनीत भाव उनके स्मरण मात्र से सर्वतोभावेन अभिसिंचित करते हुए जीवन को कृतार्थ कर रहा है। यथावसर उनके कृपापूर्ण सामीप्य में माँ भगवती के कतिपय दिव्य रहस्य आख्यानों को सुनकर धन्य होने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ।

पूज्य गुरुदेव की सुसंगति के क्रम में ही उनके सुयोग्य पुत्र एवं मेरे अनुज तुल्य चि. गोपी जी से भी, प्रकृतिगत स्वभाव की समरसता के कारण परिचय का सहजभाव प्रगाढ़ता के आत्मीयभाव में परिणत होता गया। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से अतिरिक्त समय में, यथा अवसर, अनुज गोपी जी के साथ पूजा-अर्चना एवं उपासना से सम्बन्धित वेदादिशास्त्रों में विहित आधिदैविक स्वरूपों पर चर्चा होती रहती थी।

इसी क्रम में कुछ दिनों बाद मंगलमय नवरात्र के शुभ अवसर पर, गुरुदेव के संकल्प के अनुसार, असम प्रदेश स्थित कामाख्या धाम की दिव्य यात्रा का कार्यक्रम निश्चित हुआ। चयनित शिष्य-मण्डली के साथ हम सभी लोग यथासमय कामाख्या धाम पहुँचे और गुरुदेव के निर्देश के अनुसार वहाँ के एक प्रतिष्ठित पण्डा जी के भवन में ठहरने की सुव्यवस्था की गई।

प्रातःकाल नित्यक्रिया, सन्ध्यावन्दन एवं जलपान के बाद हम सभी लोग पूज्य गुरुदेव के साथ भवन के एक विशाल कक्ष में बैठकर कुछ आवश्यक चर्चा कर रहे थे। तभी माननीय पण्डा जी गुरुदेव से मिलने उस सभाकक्ष में आए और गुरुदेव को प्रणाम करके उनके समीप ही बैठकर बातचीत करने लगे। कुछ समय बाद गुरुदेव ने मुखवास (`सौंफ-इलायची-केसर` आदि मिश्रित वस्तु) के डिब्बे को निकाला और एक चम्मच स्वयं लेकर पण्डा जी को वह डिब्बा देने लगे।

इसी समय एक चमत्कारी घटना घटी। पूज्य गुरुदेव के समीप ही बैठे हुए आधुनिक विषय के एक वयोवृद्ध आचार्य जी, जो स्वयं तन्त्र-मन्त्र के विशेषज्ञ थे, ने वह डब्बा अपने हाथ में गुरुदेव से ले लिया और बोले पण्डा जी को मैं दूंगा। इसके बाद मुखवास देने के लिए उस डब्बे में रखी चम्मच लेना चाहे परन्तु

दस, पन्द्रह क्षण तक उन्हें डब्बे में रखी चम्मच जब नहीं दिखी तो परेशान सा होकर, बोले चम्मच कहाँ गई? फिर एकाएक डब्बे में चम्मच दिखने पर बोले हाँ यह मिल गई।

तब पण्डा जी ने गरजती हुई आवाज में कहा कि- "आचार्य जी! अब नहीं" और फिर अपनी बात स्पष्ट करते हुए पण्डा जी बोले कि जब तक मैं डब्बी को देख रहा था तब चम्मच ढूंढ़ लेते तब आपकी सामर्थ्य मानते। फिर और जोर देकर बोले, ''पण्डित जी!'' गुरुदेव मुझे प्रेम से मुखवास देना चाह रहे थे, और आपने अभिमान वश व्यवधान करके उनके हाथ से डब्बा ले लिया। यह सुनकर आचार्य जी हतप्रभ से रह गए। तब पूज्य गुरुदेव ने स्थिति को संभालते हुए आचार्य जी से डब्बा अपने हाथ में लेकर कुछ हंसते हुए पण्डा जी से कहा कि कुछ अन्यथा न लें और इसे मेरे हाथ से स्वीकार करें। इस पर पण्डा जी ने भी सहज होकर गुरुदेव के प्रति सम्मान भाव प्रदर्शित करते हुए मुखवास को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

कुछ देर बाद जब पण्डा जी गुरुदेव से मिलकर चले गए तब गुरुदेव ने हम सब से कहा कि यह कामाख्या धाम का परिसर तन्त्र-मन्त्र की शक्ति से अत्यन्त जागृत क्षेत्र है। यहाँ सर्वत्र दिव्य शक्ति के विविध स्वरूप प्रकाशित होते रहते हैं। उन विविध आलोकित स्वरूपों से प्रभावित या भयभीत न होकर माँ भगवती का नाम स्मरण करते हुए यहाँ रहना चाहिए।

यहीं इस दिव्य धाम में पूज्य गुरुदेव के विशेष आशीर्वाद के रूप में मुझे मन्त्र-दीक्षा रूप अनुपम संस्कार से अभिसिंचित होने का परम सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।

पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में कतिपय दिव्य अनुभवों का स्मरण कर आज भी मन असीम आनन्द से आप्लावित हो उठता है। जीवन को धन्य कर देने वाले पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों में शत-शत सादर नमन एवं अभिवन्दन के साथ।

पूर्व अध्यक्ष एवं आजीवन मानोन्नत-
आचार्य, वेदविभाग,
सं. वि. ध. वि. सं.
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

श्रीगुरु चरण स्मरण

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र

'प्रज्ञां ददाति चाचार्यः तस्मात् स गुरुरुच्यते'—वाल्मीकि रामायण की इस उक्ति के अनुसार मानव में प्रज्ञा का आधान गुरु के माध्यम से होता है। इस के द्वारा व्यक्ति के जीवन की शैली का परिवर्तन और परिष्करण हो जाता है। आध्यात्मिक परिष्करण के प्रणेता पूज्य धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज के शिष्य पं.सीताराम कविराज जी का काशी में आगमन अपने गुरुजी की उपासना-परम्परा को प्रसारित करने के उद्देश्य से हुआ था। काशी के आस्तिक समाज ने श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी के रूप में उनके उपासक व्यक्तित्व को नमन करते हुये श्रीविद्या साधना के मार्ग में पुनर्जागरण प्राप्त किया। श्रीविद्या साधना पीठ और भगवती शाङ्करी देवी के देवालय की वाराणसी में स्थापना पूज्य गुरुवर्य श्री सीताराम कविराज जी द्वारा वाराणसी को समर्पित कालजयी अवदान है।

पूज्यचरण गुरुवर्य आचार्य दत्तात्रेयानन्दनाथजी महाराज का आरम्भिक सान्निध्य काशी में मुमुक्षु भवन परिसर में मुझे प्राप्त हुआ । अस्सी के दशक में अनेक व्यावहारिक झञ्झावातों के कारण मेरा चित्त उद्विग्न था और स्थिरता के लिये इतस्ततः आधार खोजने में व्यापृत रहता था । उद्वेग के कालखण्ड में प्रशान्त आश्रय की उपलब्धि जीवन की रीतियों को ही परिवर्तित कर सकती है। वर्ष 1985 के आसपास मुमुक्षुभवन के आवास पर पूज्य गुरुजी के दर्शन के अवसर पर पराम्बा भगवती की अर्चा का वैभव हृद्य शान्ति और पुण्यमय वातावरण के रूप में मुझे अनुभूत हुआ । पूज्य गुरुजी अपने अन्तेवासियों से अर्चा कार्य में सामान्य ही सहयोग लेते थे। स्वयं ही कठिन उपासना में निरत होकर अत्यन्त साधारण रीति से लोकचर्या का निर्वाह करते थे। एक बार मध्याह्न में पहुंच कर मैंने दत्तचित्त होकर पाकनिर्माण करते हुये गुरुजी का दर्शन किया तो उन्होंने निर्देश दिया कि अन्तेवासियों के रहते हुये भी श्री भगवती के लिये मैं स्वयं भोगप्रसाद बनाने में समर्थ हूँ। साधकों के लिये यह प्रेरणा गुरुजन अपने क्रियाकलाप से सहज ही प्रदान कर देते हैं। उपासना के प्रति पूज्य गुरुजी की शारीरिक कर्मठता पर अवस्था का प्रभाव कभी नहीं रहा। अवस्था अधिक हो जाने पर भी अर्चन, याग, पाठ उच्चारण में पूज्य गुरुदेव पूर्ण सक्रिय रहते थे। सत्रयाग आदि के बड़े आयोजनों में ब्राह्ममुहूर्त से प्रारम्भ कर अर्धरात्रि तक उनका उपासना-श्रम अविरत रहता था। मेरे लिये उनकी यह आत्मशक्ति आजीवन आश्चर्य का विषय रही है और मैं इसमें उनके आधिदैविक स्वरूप का अनुभव करता हूँ, क्योंकि अपनी युवावस्था में भी पूज्य गुरुजी के इस अर्चाश्रम का अनुकरण करने में मैं असमर्थ रहा हूँ।

पूज्य गुरुजी का यह आधिदैविक प्रभाव परिचितों, परिजनों के लिये अत्यन्त आनंद का आधायक था। इस आनन्द को प्राप्त करने अनेक विद्वान्, मनीषी, उद्योगपति, छात्र और सामान्य जन उनके दर्शनार्थ आते थे और अपनी रुचि के अनुकूल समाधान और परामर्श प्राप्त कर आनन्दित होते थे। मेरे द्वारा अपनी पुस्तक – *प्राचीन भारतीय सामाजिक धर्मः* को 1990 में पूज्य गुरुजी को समर्पित करने के अनन्तर आत्मगौरव का आभास होते ही उन्होंने कुछ पृष्ठों का अवलोकन करते हुये कहा कि इसमें उद्धृत *प्राणतोषिणी* ग्रन्थ का प्रामाण्य कैसे माना जा सकता है। इसको पूर्वाचार्यों ने समादृत नहीं किया है। गुरुजी के इस कथन से मुझे प्राचीन मनीषियों के द्वारा उद्धृत ग्रन्थों के अतिशय प्रामाण्य का निर्देश मिला । परम्परा और आर्ष शास्त्रीय निर्देशों के लाभ के लिये मूर्धन्य विद्वान् पूज्य गुरुजी के सान्निध्य हेतु उत्कण्ठित रहते थे। डॉ.मुरली मनोहर जोशी (पूर्व केन्द्रीय मंत्री), डॉ. टी.एन.चतुर्वेदी (पूर्व राज्यपाल), पं. विद्यानिवास मिश्र (पूर्व कुलपति), प्रो. मण्डन मिश्र (पूर्व कुलपति), प्रो. कमलेश दत्त त्रिपाठी (पूर्व कुलाधिपति), प्रो.युगल किशोर मिश्र (पूर्व कुलपति) तथा प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय (पूर्व कुलपति) पं.रेवा प्रसाद द्विवेदी, प्रो.आद्याप्रसाद मिश्र (पूर्व कुलपति), पं. वायुनन्दन पाण्डेय, डॉ. विनोद दूबे आदि ज्ञानवयोवरिष्ठ अथवा दीक्षाप्राप्त आचार्यों के समक्ष मेरी अवस्थिति अत्यन्त सामान्य थी। परन्तु गुरुजी ने सर्वदा महत्त्व प्रदान किया तथा अनेक कार्यों में मुझे संयोजित किया था। उनके अनुग्रह से शाकम्भरी धाम, कोलकाता आदि स्थानों में कोट्यर्चन अनुष्ठानों में भागग्रहण का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

उपासना की कर्मठता में पूज्य गुरुजी के सुदृढ अनुशासन से अनेक शिष्यों ने जीवन में सफलता प्राप्त की है। पण्डितराज ने इसका उचित ही उल्लेख किया है –

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति।।

पूज्य गुरुजी की ओजस्वी दृढ वाणी से अनुशासन का ग्रहण करने वाले शिष्यों ने जीवन में व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त की, अन्यथा कर्मभीरु व्यक्ति उस लाभ से वञ्चित रहे। वस्तुतः कठोर अनुशासन के मूल में उनकी कृपा और स्निग्धता का भाव रहता था । अन्तेवासियों के सर्वकल्याण की उनकी दृष्टि का मैंने अनेकशः अनुभव किया है। मुझे प्रथम दीक्षा प्राप्त करने के लिये गुरुजी ने दिन निश्चित किया तथा दीक्षोपकरणादि स्वयं देकर मुझे उपकृत किया। उनके द्वारा उस समय प्रदत्त जपमाला अभी भी मेरे पास नित्योपयोग के लिये निधिस्वरूप सुरक्षित है। अग्रिम दीक्षा के लिये भी गुरुजी ने अकस्मात् स्वयम् आदेश दिया था। मध्याह्नोत्तर चर्चाओं में उनका प्रसन्न वदन शास्त्रीय और लोकोपकारक अनुभवों के प्रकाशन से विद्वानों के लिये हृदयावर्जक होता था । कामन्दकीय उक्ति—

मनः प्रसादः श्रद्धा च तथा करणपाटवम् ।
सहायोत्थानसम्पच्च कर्मणां सिद्धिलक्षणम् ।।

के अनुरूप गुरुजी का आह्लादयुक्त, गुरु के प्रति श्रद्धा से परिपूर्ण, कर्मनिष्ठ, सर्वोपकार संवलित व्यक्तित्व उनके सिद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष करता था। अपने पूज्य गुरुजी धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज के प्रति अगाध श्रद्धा की अभिव्यक्ति उनकी सम्भवतः नित्यचर्या का अङ्ग थी। स्वामी जी महाराज की आविर्भाव जयन्ती का समारोह आयोजित करने की परम्परा उन्होने ही काशी में प्रारम्भ की थी। जिसका अनुकरण अनेक संस्थाओं ने कालान्तर में किया है। स्वामी करपात्री जी महाराज की कृपा और आशीर्वाद का निरन्तर स्मरण करते हुये उनके ग्रन्थों के प्रकाशन- सम्पादन का कार्य, उनकी स्मृति में पुरस्कार की योजना, अर्चन की प्रायोगिक परम्परा का प्रसार आदि नानाविध उपक्रमों के द्वारा गुरु के प्रति निर्व्याज भक्ति का उन्होंने आदर्श स्थापित किया है। मैंने भी पूज्य दत्तात्रेयानन्दनाथ गुरु जी के अमृतमहोत्सव में उनके निर्देशानुसार यथामति कार्य किया तथा *श्रीविद्यावार्ता* के *अमृत महोत्सव विशेषाङ्क* के संयोजन में कुछ सहयोग किया था। श्रीविद्या साधना पीठ के आयोजनों में मेरी सहभागिता से पूज्य गुरु जी अत्यन्त प्रसन्न रहते थे। उनके ही आध्यात्मिक प्रभाव और प्रत्यक्ष आशीर्वाद से मुझे शान्ति से समञ्चित परिपूर्णता का आनन्द जीवन में प्राप्त हुआ। वर्तमान में भी गुरुपीठाधिष्ठित पूज्य प्रकाशानन्दनाथ जी महाराज द्वारा मुझे गुरुवदनुग्रह प्राप्त हो रहा है, यह पात्रता मेरी अमूल्य निधि है।

गुरुवर्य की आविर्भाव शताब्दी के पुण्यप्रसङ्ग से उनके आशीर्वाद का स्मरण मेरे लिये सर्वविध-कल्याणप्रद है। इस अवसर देशिकप्रवर पूज्य दत्तात्रेयानन्दनाथजी के चरणों में प्रणति निवेदन कर मैं धन्यता का अनुभव करता हूँ।

(श्रीकिशोर मिश्र)
पूर्व प्रोफेसर,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।
मो. 9415685328

बन्दउँ गुरुपदपदुमपरागा

प्रो. कमलाकान्तत्रिपाठी

अखण्डं सहजं चैव सच्चिदाकारविग्रहम्। सर्वशेषितया भान्तं तमानन्दमुपास्महे।।1।।
ब्रह्मविद्याव्रतोत्कर्षसमुद्यद्ब्रह्मवर्चसम्। श्रीक्रमोपासनोद्दीप्तं सीतारामपदं भजे।।2।।

जिनके साथ बिताये क्षणों में यह सुना था कि सततोपासाप्रकर्षप्राप्तपरदेवतास्वरूप महाव्रत की तरह अनेक चित्रमय प्रमेयप्रयोगदक्ष गुरुपदप्रवाल स्वयमेव अपने अभीष्ट शिष्य को अन्वेषणपुर:सर प्राप्त कर लेते हैं उनके ही विषय में सुलब्ध लेखनीचालन परमप्रमोदमहाह्रद में अवगाहन से कम नहीं है। प्रात:स्मरणीयपदकञ्ज सहृदयतातिरेकप्रकटविमलप्रतिभान तिरस्कृतात्माभिमान समर्पितपरमेश्वरीनिध्यानप्राप्तश्रीविद्योत्कृष्टविज्ञान जगत्प्राण स्मितपूर्वोदीरितमाधुर्यमयगीर्वाण सकलविद्वदपश्चिमाराधितचरणनलिन विश्रुतश्रीसीतारामकविराज-मङ्गलमयनामधेय प्रपन्नजन-भागधेय गुरुदेवताप्रसादप्राप्तासाधारणकवित्वैकमात्रोदाहरण निजचरणकमल-मकरन्दपान-रसिकशिष्यषट्पदभवबाधाहरण नितान्तनिर्मलकरण श्रीचरण गुरुजी का स्मरण जब जब होता है तब तब सत्त्व नाना विकल्पों में भावभरित होकर तल्लीन हो जाता है। उनका नित्यनिरवद्य रूप पीयूषकूप की तरह हर प्रबोधपिपासापरीत भावत: विपरीत जन के भी चित्त को चित्ताकर्षणमोहमन्त्र की तरह आकृष्ट कर लेता था। अत एव हनुमान् घाट पर जब मैं पूज्यपाद अनारतवन्दनीयपादारविन्द श्रीपट्टाभिरामशास्त्रि-वन्द्याभिधान मीमांसाशास्त्रपरिपक्वविज्ञान मीमांसागुरुजी के यहाँ एकाकी *भाट्टदीपिका* पढ़ रहा था उसी समय आप का प्रथम दर्शन एक विशेष कौतूहल के साथ हुआ। अपने-अपने क्षेत्र के अप्रतिम दो महापुरुषों के मध्य परदेवतोपासना के विषय में ही चर्चा हुई। अल्पकाल के बाद ही वे नया प्रकाशित ग्रन्थरत्न 'श्रीविद्यारत्नाकर'गुरुजी को भेट करके चले गये। जाने के बाद तत्काल मैंने गुरुजी से पूछा कि प्रत्यक्षपरदेवतोपासनाप्रकाशपुञ्ज के समान आसादित परमभर्ग वे कौन महापुरुष हैं। गुरुजी ने मुझे बताया कि वे धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी के परमकृपाभाजनतया उनसे ही श्रीविद्यारहस्य का ज्ञान प्राप्त करके पूर्णाभिषिक्त होकर सुलब्धदत्तात्रेयानन्दनाथाभिख्य प्रख्योपाख्याविलसितकाय स्वीकृतपरविद्यारूपात्रेपुरानिकाय श्रीसीतारामकविराज जी हैं जो परमसमर्पणभावना से पैंतिस सालों तक सविधि साङ्ग सावरण श्रीविद्या की उपासना करके श्रीभगवती की प्रेरणा से काशीसेवन के लिए यहाँ आ गये हैं। श्रीमद्गुरुपादपद्म से प्रख्यातकविराजोपनाम वस्तुत: रूप-नाम से अस्पृष्ट महापुरुष के विषय में मेरे मानस में सकौतुक विचार आया—मातापिता का उपकार यथासंस्कारसंस्कृततया जन्म देकर पालनपोषण का है किन्तु गुरु आचार्य का परम उपकार दीक्षापुर:सर परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सद्विद्यासदाचारप्रदानद्वारा ब्राह्म कलेवर प्रदान करने से

है। गुरु ही एक ऐसा परमभर्गस्वरूप तत्त्व है कि जिसके प्रति श्रद्धासोपान पर आरूढ पुरुष परम प्राप्य अशेषविशेषविनिर्मुक्त सच्चिदानन्दघनप्राण जगज्जन्मादिकारण दयादाक्षिण्यपरम-सौकुमार्यसौशील्यमङ्गलाद्य-संख्येयानवधिक-गुणनिधान कल्याणैकतान प्रपन्नजनहृदयपुण्डरीकव्यापि-वैकुण्ठकृतविश्राम आत्माभिराम परब्रह्मपुरुषोत्तम श्रीभगवान् को प्राप्त कर लेता है। समग्रता में विराजमान ऐश्वर्य, वीर्य, यश, समृद्धि ज्ञान और वैराग्य की 'भग' संज्ञा है जो पुरुषोत्तम कामेश्वर की विमर्शशक्ति है—भग: शक्तिर्भगवान् काम ईश:। दोनों का अत्यन्त अविनाभावरूप तादात्म्य होने के कारण ही वेदान्त में ब्रह्म को ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना जाता है। चाहे स्त्रीरूप में या पुरुषरूप में उपासना हो एक ही उपासना मानी जाती है। इस भावना से धर्मसम्राट से रहस्यविद्याप्राप्तिपूर्वक श्रीविद्या की उपासना के वे फल ही हो सकते हैं, अन्यथा वैसा स्फीत देदीप्यमान लोकोत्तरतया अवस्थित स्वसंवेदनगोचर श्रीविग्रह के साक्षात् रूप में विद्यमान स्वरूप संभव ही नहीं है। योग्य साधकों के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए पराम्बा भगवती ही उन्हें अपने दिव्य लोक से भेजा है'। इस तरह विचारमग्न ही था कि गुरुजी ने मीमांसा का पाठ आगे चला दिया।

मैं मुमुक्षुभवन में अपने आवास पर आकर श्रीविद्योपासनासाक्षाद्विपाक कषाय के परिपाक से पाञ्चभौतिक शरीर में स्थित होकर भी परमब्रह्मवर्चसाकार दिव्यतीर्थ की तरह परमपावन गुरुजी का ही चिन्तन करता रहा। एक दिन वे स्वयम् मेरी अनुपस्थिति में हमारे यहाँ आये और साथ रह रहे मेरे पितामह से बोले कि सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय में सरस्वतीभवन में पाण्डुलिपिनिरीक्षक बनवा देते हैं, मुझे उनके पास भेज दें। आकर विदितवृत्तान्त होने के बाद यह आभास हुआ कि देशिकप्रवर स्वयम् अपने अनुरूप शिष्य का अन्वेषण करके अपने चरणकमलों में आश्रय देकर कृतार्थ करते हैं। गुरु जी से मिलने का ही प्रमोद था, वृत्ति तो प्रारब्धत: दु:खवत् प्राप्त हो जाती है। 'भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि', इस महाकवि कालिदास की सूक्ति के अनुसार प्राक्तन जन्म के अनुरूप किसी का किसी से समागम होता है।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ। समेत्य च व्यतीयातां तद्वद् भूतसमागम:।।

इस महाभारत के वचनानुसार प्राणियों का एक दूसरे से मिलन महासागर में एक काष्ठ से दूसरे काष्ठ के समान होता है जो स्वत: वियुक्त होकर फिर कभी नहीं होता। यह न्याय कुटुम्बसम्बन्ध को लेकर वैराग्यजनन के लिए प्रसृत है। परम प्राप्य प्रभु की ओर पहुंचने का मार्ग प्रशस्त करने वाले देशिकप्रवर श्रीगुरु के लिए नहीं है। वे तो जन्मजन्मान्तरों के पुण्यप्रकर्ष से कामेश्वराङ्निलया जगदम्बा की कृपा से ही प्राप्त होते हैं और अपनी दिव्यता से शिष्य को आप्लावित करते हुए परम लक्ष्य तक पहुंचाने में वैसी अनुभूतियों की छाप मानसपटल पर छोड़ देते हैं जिससे यावच्छ्वास पुरुष सन्मार्गस्थ होता हुआ वहीं पहुंचता है जहाँ सद्गुरु देशिकप्रवर पहले से ही अपने चिन्मयवपु में विराजमान रहते हैं। गुरु के विषय में गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी यह वचन उनको सदा अपने स्मृतिपटल पर रखना चाहिये जो ऐहिक और पारलौकिक दोनों सफलता की सीढ़ी पार उतरना चाहते हैं—

बन्दउ गुरुपदकञ्ज कृपासिन्धु नररूप हरि। महामोह तमपुञ्ज जासु वचन रविकरनिकर।।

पुण्डरीकाक्ष भगवान् श्रीनारायण ही परब्रह्म हैं जो 'तस्य कप्यासं पुण्डरीकमेवाक्षिणी', इस श्रुति से सिद्ध है। श्रीहरि भगवान् नारायण का ही नाम हैं। गुरु नररूप में नारायण ही हैं जो पारम्पर्यत:

भवसिन्धुतरणोपायरहस्यवित्तया अपनी उपासनासन्तति के प्रभाव से चिन्मयवपु में विराजमान रहते हैं। मन को संसार से ऊपर उठाने में गुरु की भूमिका रहती है, अत: श्रीहरिरूपी गुरु के भक्त चतुर्विध पुरुषार्थ प्राप्त करने में सफल होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

एते वेदोदिता: सर्वे पुरुषार्थाश्चतुर्विधा:। गुरुभक्तस्य हस्तस्था भवन्त्यत्र न संशय:।।

अत एव काम्य अग्निहोत्र आदि कर्मों से प्राप्त स्वर्ग आदि लोकों का परीक्षण करके उनकी क्षयिष्णुता का विचार करके नित्यताप्राप्ति की ओर अग्रसर ब्राह्मण के लिए वैसे गुरु के पास जाने का उपदेश प्राप्त होता है जो ब्रह्मनिष्ठ हो—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृत: कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। (*मुण्डक.* 2/12)

इसी श्रुति के अनुसार श्रद्धाभरिततया हृदय में हर्षप्रकर्ष से युक्त मैं उपासनारहस्य-विषयकासाधारणवैदुष्यसम्पन्न एवम् लब्धपरदेवताप्रसाद की तरह पूर्णत: प्रमोदघन में अवस्थित श्रीगुरुजी से मिलकर अपने जीवन को कृतार्थ समझा। शनै: शनै: गुरु जी मेरे स्वभाव से परिचित होकर पत्नी के साथ मुझे विधिवत् संस्कारोद्दीप्तकलेवर करके मन्त्र प्रदान किये। वे हमेशा यही कहते थे कि पुरश्चरण के द्वारा जब मन्त्र को चैतन्य कर दिया जाता है तभी वह ब्रह्मरूपतापन्न प्रसन्न होकर साधकाभिलाष को साभिलाष पूर्ण करता है। गुरु जी यह जानते थे कि मैं शास्त्राभ्यास में तल्लीन हूँ तो यथावत् पुरश्चरण नहीं कर पाऊँगा। इसीलिए अपने आराधनकाल में मुझे बुलाकर करीब तीन घण्टे बैठाकर मन्त्रजप कराते थे। एवञ्च, गुरु जी के सन्निधान में ही उनके अद्भुतप्रकारक समाराधन के मध्य पुरश्चरण करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। एक बार चन्द्रग्रहण में मुझे गुरु जी का आदेश प्राप्त हुआ कि उनके पावन सन्निधान में ही यथावत् मन्त्रजप करूँ। वैसा ही हुआ। गुरु जी अपने पर्यङ्क पर ही थे और मुझे पूर्वाभिमुख जपार्थ बैठा दिये। मेरे मन में विचार आया कि गुरु जी मुझे जप में बैठाकर स्वयम् आराम कर रहे हैं। मेरा भ्रमभूधर तब दूर हुआ जब मैं दैर्घकालिक जप करके तन्द्रा में आने लगा। प्रायग्रहणकाल के जप में लोग तन्द्रालीनचेतस्क अन्यमनस्कतया या प्रत्युपस्थितानेकजन्मसंचित-दुष्कृतप्रभावाक्रान्तसत्त्वतया हो जाते हैं। उसी बीच मुझे वैसा देखकर गुरुजी ने अपनी मन्दहुङ्कर से जागरित कर दिया जिससे पूरे काल तक निस्तन्द्र होकर मैंने अपना जप पूर्ण किया। ज्ञात यह भी हुआ कि गुरु अपने लोकोत्तर समर्चा में लीन होकर भी मेरी ओर अपनी दृष्टि रखे हुए थे। वह मेरे जीवन का अविस्मरणीय क्षण था।

गुरु के प्रति शिष्य का क्या और वैसा भाव होना चाहिये इसे कुछ अंश में मुझे ज्ञान था क्योंकि पहले से ही मैं महाभारत, श्रीमद्भागवत और अन्य महाकवियों के प्रबन्धों को पढ़ लिया था। सहृदयचक्रवर्ती प्रात:स्मरणीयपदपद्म श्रीमदखण्डानन्दसरस्वती जी महाराज का यह निदेश मुझे प्राप्त था कि मैं निर्विराम अध्ययनशील ही रहूँ और द्रव्यलाभप्रयुक्त प्रवचनव्यासङ्गमहावागुरा में न फंसूं। पं.प्र. श्रीराजवंशीद्विवेदी, पं.प्र. श्रीवैद्यनाथझा, महामहोपाध्याय साहित्यशास्त्र के पारदृश्वा मनीषी श्रीवायुनन्दनपाण्डेय, पं.प्र. श्रीशशिधरमिश्र, पण्डितप्रवर श्रीरामप्रसादत्रिपाठी आदि गुरुओं से अध्ययन किया था तो गुरुमहत्त्व का ज्ञान प्राप्त ही था। विशेषत: ज्ञान तो गुरुजी से प्राप्त हुआ जब वे मुझे अपने गुरु धर्मसाम्राट् स्वामिश्रीकरपात्री जी के चरणसंवाहन

की चर्चा कर रहे थे। श्रीस्वामीजी के चरण वस्तुत: विकच कमल की तरह कोमल और रक्तिमा के साथ आभा में नवपल्लव जैसे थे। बहुत ही भावपूर्ण प्रकार से गुरुजी ने अपने उस सेवासौभाग्यसंभार का प्रतिपादन मुझसे किया था। तभी से गुरुसेवा वैसी होनी चाहिये इसका मुझे ज्ञान परोक्षात्मक होते हुए भी स्वलक्षणमात्रपर्यवसित साक्षात्कारात्मक हो गया था। आराधना में श्रीगुरुस्मरण ही व्यवधायक नहीं होता, अन्य सारे कौटुम्बिकविषयक स्मरण व्यवधायक ही होते हैं। इसीलिए जब भी गुरुजी से वार्ता का क्रम चलता तो शास्त्रसम्बन्धी ही चर्चा होती।

आगमशास्त्र में उनका कितना अधिकार था वह संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय से प्रकाशित *स्पन्दकारिका* आदि ग्रन्थों की व्याख्या और *श्रीविद्यार्णवतन्त्र* की विवृत्ति के अवलोकन से समझा जा सकता है। वे स्वयं कहते थे कि स्पन्दकारिरका का अवगमन विना सिद्धगुरु के संभव ही नहीं है। अन्य शास्त्रों के विद्वानों का स्वतन्त्र रूप से उसमें चञ्चूप्रवेश भी नहीं होगा। साहित्य में काव्यप्रकाश और कुवलयानन्द पर उनका एकाधिकार था। कवित्व की धारा तो उनके प्रतिभान में विराजमान थी। अनेकों कविसम्मेलनों का आयोजन वे किया करते थे जिनमें काशी के सभी विद्वत्कवि बड़ी ही श्रद्धा से भाग लिया करते थे। वहाँ अद्भुत काव्य का श्रवण अन्त में आप के श्रीमुख से होता था। श्रीरामानन्दतीर्थ और श्रीभास्करराय के भाष्य के साथ मेरी भाषाव्याख्या से संवलित *त्रिपुरोपनिषत्* का जो प्रकाशन हुआ है वह गुरु जी के साथ आगमविषयकचर्चा का ही फल है। एक बार *नित्योत्सव* में प्रतिपादित देवी को भक्तभोग समर्पित करने के लिए व्यञ्जन में 'लशुन' का भी उपयोग मुझे देखने को मिला। सन्देह हुआ कि लशुन जैसे दुर्गन्ध से पूर्ण निषिद्ध पदार्थ जहाँ मिला हो उसे भगवती को वैसे समर्पित किया जा सकता है। गुरु जी से पूछा तो उन्होंने बताया कि तन्त्रविद्या में शूद्र-म्लेच्छ आदि का भी अधिकार है। लशुनभक्षण का निषेध त्रैवर्णिकों के लिए ही है, शूद्र आदि के लिए नहीं है तो लशुनसंस्कृत व्यञ्जनों का उपयोग करने वाले शूद्र आदि देवी के भोग में उसका उपयोग कर सकते हैं। हो गया समाधान। *नित्योत्सव* श्रीविद्या का प्रयोगात्मक ग्रन्थ है। मेरा गुरुजी के साथ मित्रात्मक व्यवहार था इसीलिए किसी भी विषय में उनसे मेरी वार्ता खुल कर होती थी। प्रतिभाधनी व्याकरण पढ़ने वाले श्रीवेदप्रकाश जी भी गुरुजी से दीक्षा लेकर जप में लग गये थे। उनकी प्रशंसा गुरु जी मुझसे किया करते थे। वेद-प्रकाश जी मुझसे *मीमांसान्यायप्रकाश* पूरा पढ़े थे। वे श्रीविष्णुआश्रमस्वामी जी महाराज से नैष्ठिकब्रह्मचारी की दीक्षा ले लिये तो मैंने जाकर गुरुजी को बताया कि वे साधू हो गये। गुरुजी ने तत्काल कहा कि बहुत अच्छा हुआ कि उन्होंने अपना उचित मार्ग चुन लिया। गुरु जी की बात मुझे बड़ी अटपटी लगी। मैंने उनसे कहा कि आप श्रीशङ्कराचार्य की गृहस्थपरम्परा को विशेष महत्त्व श्रीविद्या में देते हैं और स्वयम् भी गार्हस्थ्य आश्रम को स्वीकार किये हुए हैं तो वेदप्रकाशजी के विषय में ऐसा क्यों कह रहे हैं। गुरुजी ने प्रकरण को तत्काल हास्यरस में परिणत कर दिया। उन्होंने कहा कि उसको न दाढ़ी और न मूछ है तो क्या गृहस्थाश्रम में जाकर करेगा।

गुरुजी अपने मन को शास्त्र या परदेवता में ही लगाये रखते थे। पारिवारिक निर्वाह जो करना है वह कर देते थे किन्तु उसमें लीन नहीं रहते थे। मेरे सुहृद्वर्य श्रीपांडे जी एक बार गुरु जी के समक्ष ही अपने किसी पुत्र

के वर्णन में तल्लीन होकर भावविभोर हो गये थे। गुरु जी ने तत्काल कहा कि यह मायावी आदमी है, पारिवारिक चर्चा में रम जाता है। आगे मेरे विषय में भी उन्होंने पांडे जी के समक्ष ही कहा था—'तुम महात्मा आदमी हो'। श्रीमद्भागवतमहापुराण के भी वे मर्मज्ञ थे। 'स एष जीवो विवरप्रसूतिः' इत्यादि रहस्यात्मक श्लोकों की व्याख्या करके मन्त्रमुग्ध कर देते थे। आचार्य श्रीरामजीमालवीय जैसे आगम के विद्वान् उनके यहाँ आते थे। प्रयोगविद्या में उनकी कुशलता जो थी वह बाद में मुझे प्रातःस्मरणीय अयोध्या, कोसलेशसदन के महाराज जी में दिखायी दी। गुरुजी पूर्णताप्राप्त महापुरुष थे। वे चर्चा में कहे थे कि लक्षार्चन बहुत हुए, अब कोट्यर्चन भी होना चाहिये। बाद में उन्होंने अनेकों कोट्यर्चन भी कराये जिनमें सपत्नीक संमिलित होने का सौभाग्य मुझे भी मिला। गुरु जी का उत्साह इतना था कि वार्धक्य में भी '*श्रीविद्यार्णवतन्त्र*' का संशोधन करा कर प्रकाशन करा दिये। संशोधन का कार्यभार मुझे और श्रीगिरीश पाण्डेय जी को दिया गया था। हिन्दीविवरण गुरुजी का ही लिखा हुआ है। गुरु जी आत्मा की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित थे। कोई कृत्रिमता उनमें नहीं थी। हम दोनों के लिए एकाकी ही दुकान में जाकर शीतोपयुक्त कपड़ा लाकर दिये थे। एक बार उनके साथ मैं केदारघाट, श्रीकरपात्रधाम में गया। वे ऊपर स्वामीश्रीसर्वेश्वरानन्दसरस्वती जी के यहाँ आयासबहुलता के कारण नहीं गये। मन्दिर में दर्शन करने गये थे तो वहीं पर स्वामी जी शीघ्र ही नाना उपहारों को लेकर आये और कृतकृत्य होकर गुरुजी का सम्मान किये। इससे यह पता चलता है कि गुरुजी के प्रति धर्मसम्राट्स्वामीकरपात्री जी के शिष्यों का भी कितना आदरभाव था।

देवोपासक केवल देवतासंबन्धी ही कार्य करें, अन्यत्र ध्यान न दें तो उनमें समुत्पन्न विशेषापन्न मनोरथ को देवता ही पूर्ण कर देते हैं ऐसा 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'से श्रीभगवान् ने ही सुस्पष्ट कर दिया है। गुरु जी इसके उदाहरण हैं। मैं भी उनकी उस विशेषता में ढलने का प्रयास किया है और परमार्थातिरिक्त कार्यों में ध्यान नहीं दिया है। एक बार गुरु जी पूर्णतः अस्वस्थ हो गये थे। मैंने जाकर उन्हें देखा तो अन्दर से हिल गया और कहा कि वे पूर्णतः स्वस्थ होकर पहले जैसे ही विद्वानों के मध्य शास्त्रीयवृत्तों के आमोद-प्रमोद में मग्न होंगे। गुरु जी पूर्णतः स्वस्थ हुए और कई कविगोष्ठियों का आयोजन कराये और वहाँ उनके मुखारविन्द से सुमधुर काव्यसौरभ के आघ्राण का सौभाग्य हम सभी को प्राप्त हुआ। गुरुजी के विषय में असीमित संस्मरण मेरे हृदय में हैं जिसे आगे भी मैं सहृदयों के मध्य व्यक्त करूँगा। अन्त में पुनः मैं यही कहना चाहूँगा कि श्रीगुरुचरणरजःसुसिक्तकलेवर पुरुषवर गुरुओं के प्रति श्रीभगवदनतिरिक्त श्रद्धा के बल पर सब कुछ प्राप्त कर लेता है। जो नहीं प्राप्त किये हैं उनके अन्दर अवश्य उस श्रद्धा की न्यूनता है। गुरुपुत्र में भी गुरुवद्वृत्ति का निदेश शास्त्रों में है। आज श्रीप्रकाशानन्द नाथ जी महाराज श्रीगुरुजी के अपर रूप में हमें कृतार्थ कर रहे हैं। उनका भी गुरुजी जैसा प्रेम हमें प्राप्त है जो अन्त तक निःश्रेयसपथ में बना रहे, यही गुरुचरणों से मुझे आशीर्वाद के रूप में अपेक्षित है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

गुरुवाग्विलास

प्रो. शीतलाप्रसाद पाण्डेय

महतामुदयो धन्यः येन विश्वं प्रकाश्यते।
पूर्यते तेजसा विश्वमुदये जगदात्मनः।।

महापुरुषों का उदय, आविर्भाव तथा जन्म स्वयं में धन्य है क्योंकि उनसे सम्पूर्ण संसार प्रकाशित हो उठता है, जैसे भगवान् भास्कर के उदय होने पर सारा जगत् प्रकाशमय होता है।

पूज्य गुरुप्रवर आचार्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी श्रीविद्या के उपासक थे। काशी के प्रकाश: धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी से मन्त्र-दीक्षा प्राप्त कर इन्होंने अपनी साधना से जो सिद्धि प्राप्त की उसका वैभव वे अपनी वाग्मिता तथा लेखनी के माध्यम से अशेष देश-विदेश के जिज्ञासुओं के लिए आजीवन सुलभ करते रहे। संस्कृत, हिन्दी तथा बंगला आदि अनेक भाषाओं के वे विद्वान् थे। इन भाषाओं में वे अधिकारपूर्वक लिखते तथा बोलते थे और एक आचार्य की तरह जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान करते थे। काशी में श्रीविद्या साधनापीठ की न केवल स्थापना की अपितु अपनी तेजस्विता से मण्डित किया। यद्यपि इनकी जन्मभूमि राजस्थान सीकर, मानस-भूमि कलकत्ता तथा कर्मभूमि काशी रही तथापि वे श्री-उपासना में देश-काल के किसी बन्धन को स्वीकार नहीं करते थे। सरस्वती के ऐसे साधक द्वारा सम्पादित एवम् अनूदित साहित्य- *श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीविद्या-वरिवस्या, श्रीभुवनेश्वरी-वरिवस्या, महागणपति-वरिवस्या, ललितासहस्रनामस्तोत्र, मन्त्रमहायोग, श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र-एक परिचय, श्रीविद्या-अष्टाङ्गम्, उपचारमीमांसा, साम्बपञ्चाशिका, विरुपाक्षपञ्चाशिका, श्रीविद्यारण्य, षट्त्रिंशत्तत्त्वमीमांसा* तथा *भावनोपनिषद्* आदि हैं।[1]

गुरुवर्य आचार्य की दृष्टि "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा" से सम्पन्न थी। यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि वे जिस गुरु-परम्परा से आते हैं- वे धर्मसम्राट् थे जिनका आज ज्ञानशरीर वेदार्थपारिजात तथा भावशरीर भक्तिसुधा तथा भागवतसुधा है।[2] गुरुदेव में निगमागम की पारगामिता विद्यमान थी। निगमागम सम्मत रचना में विभिन्न विचारधाराओं का समन्वय प्रस्तुत कर इच्छा, ज्ञान व क्रिया की त्रिवेणी से अपने कृतित्व को सर्वार्थता तथा समग्रता दे गये। श्रीकृष्ण के शब्दों में 'स्वभाव' तथा 'स्वरूप' की उपलब्धि से ही मनुष्य के मंगल का वाग्द्वार खोलकर उसके निःश्रेयस सिद्धि के सोपान बता गये। गीता का उद्घोष है- 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'।[3] स्वभाव और स्वरूपोपलब्धि के अतिरिक्त अध्यात्म और है भी क्या?

महर्षि व्यास कहते हैं—'प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञालाभः परो मतः।'[4] अर्थात् बुद्धि और कर्म ही सफलता के लिए अनिवार्य है। गुरुवर्य दत्तात्रेयानन्दनाथ के व्यक्तित्व में स्वभाव-स्वरूप के साथ बुद्धि और कर्म का भी अद्भुत मेल था।

आत्मस्वरूप के परम साधन एवं जीवन के रचनात्मक आदर्शों की अनिवार्य के लिए सर्वात्म समर्पण ही उपाय है। एकाग्रता ही पूर्ण व्यक्तित्व का विकास कर उसे चरमता और परमता देती है। पराभक्ति ही एकाग्रता की वह अवस्था है, जहाँ विषमता, समता, दीनता, महनीयता और कलुषता निर्मलता बन जाती है क्योंकि 'नान्यं जाने नैवजाने न जाने'[5] अथवा गुरुदेव के शब्दों में- "प्रत्यक्चैतन्याभिन्न चितिरूपा पञ्चकृत्यपरायणा पराम्बा भगवती भवनाटकनिपुणा के पादारविन्द में भावाञ्जलि की कल्पना करता हूँ, जिसके उन्मेष निमेष से विश्व का प्रभव व प्रलय होता है।"[6] यह अटूट आस्था ही मनुष्य की उच्चतमभक्ति है जो गुरुदेव में विद्यमान रही। पूज्य गुरुदेव प्रथम बार मेरा दर्शन 1990 ई. में हुआ था। उन दिनों गुरुदेव मुमुक्षु भवन अस्सी पर रहते थे। आचार्य प्रथम वर्ष धर्मागम का बी.एच.यू. में छात्र था। हमारे गुरुदेव प्रातःस्मरणीय गुरुदेव आचार्य कमलेशदत्त त्रिपाठी जी ने गुरुजी के विषय में बताया था कि बहुत अच्छे हैं। प्रशंसा सुनकर मैं गया। गुरुदेव को परिचय दिया गुरुदेव बड़े प्रेम से मिले प्रसाद भी दिया। सन् 1992 में जब मैं पी-एच.डी. का छात्र था। तब गुरुदेव युवा मारवाड़ी सेवा संघ, लक्सा रोड, वाराणसी में एक भव्य भगवती के आराधना, अर्चना का कार्यक्रम रखा, जिसमें मैं सपत्नीक उपस्थित रहा। रात्रिजागरण के अवसर पर भी मैं सपरिवार विद्यमान था। देश के बड़े-बड़े पण्डित विद्वान् उपस्थित रहे। उस समय गुरुदेव मेरे गुरुदेव त्रिपाठी जी से कहते थे कि *जयाख्यसंहिता* वाले विद्यार्थी बुलाइए। उसे दीक्षा देनी चाहिए। गुरुदेव के उस चमत्कार से मैं प्रभावित हुआ था। फिर क्रम चलता रहा और आज भी है।

भारतीय साधना और अध्यात्म परम्परा में भगवत्तत्त्व की प्राप्ति के लिए या जीव और ब्रह्म के ऐक्य बोध के लिए गुरु ही एकमात्र साधन है। अतः उसकी सर्वोच्चता तथा अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। यही कारण है कि पुराणों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, दर्शन-शास्त्रों और तन्त्रागमों में गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है और उसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव का साक्षात् स्वरूप कहा गया है—

गुरुः साक्षादादिनारायणपुरुषः[7]

तन्त्र और योगशास्त्र में तो गुरु के बिना साधना राज्य में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता। साधना प्रणाली, इष्ट की प्राप्ति और योग सिद्धि के लिए गुरु ही सर्वसामर्थ्यवान सिद्ध पुरुष है-

इष्टदेवस्वरूपो यः सच्चिदानन्दविग्रहः।
शुद्धो बुद्धः प्रमुक्तश्च गुरुरादर्शमानवः।।[8]

स्वयं आचार्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ के शब्दों में—

तस्यै दिशे सततमञ्जलिरेष पौष्पः, प्रक्षिप्यते मुखरितो भ्रमितद्विरेफैः।
जागर्ति यत्र भगवान् गुरुचक्रवर्तीविश्वोदय-प्रलय-नाटक-नित्यसाक्षी।[9]

यह गुरुदेव के जीवन का दूसरा 'असाधारण क्षण' था गुरु कृपा और शक्तिपात का। वहीं आगे चलकर लोक का आलोक और वाग्देव बन गया। सुरसरि सम सबका मंगल कर गया यह भी आचार्य दत्तात्रेयानन्द नाथ के व्यक्तित्व के विकास का एक पहलू है। इनके वैयक्तिक जीवन से भी हम उतना ही सीख सकते हैं, जितना उनके कृतित्व से। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। उनका जीवन इस कथन का साख्य है—

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः।[10]

ऐसा व्यक्ति पलायन न कर परिस्थितियों 'कर्मलक्षण' से स्वामी बनता है। दुःख, विरोध और कष्ट उसे कभी हतोत्साहित नहीं करते। जो मनुष्य अपने जीवन में शिव संकल्प युक्त होते हैं, वे ही राष्ट्र व मानवता के अक्षय निधि हैं। मनुष्य की समस्त अभिव्यक्तियाँ, चाहे किसी प्रकार की हों, उसकी उत्कृष्टता के सारे भाव और सफलता के फल सारे निर्माण सनातन सत्य व सत्य की अभिव्यक्ति है—काल भी वही, कला भी वही। (डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय)।[11]

त्रिपुरसुन्दरी माँ भगवती के सच्चे भक्त थे। आजीवन माता त्रिपुरसुन्दरी राजराजेश्वरी ललिता की प्रतिदिन पूजन करते रहे, तब तक, जब तक कि उनमें ऐसा करने की शक्ति क्षीण न हो गयी। बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी आचार्य से प्रभावित लोगों की कमी नहीं रही। श्रीविद्या का प्रभाव साधक के जीवन पर तो था ही, इसका प्रभाव शिल्पशास्त्र पर भी पड़ा। 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थापक निरञ्जन महापात्र द्वारा विरचित एक पुस्तक 'शिल्परत्नकोश' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें उड़ीसा (कलिंग) के मन्दिर स्थापत्य के विषय में एक संक्षिप्त विवरण दिया गया है। राजराणी मंजूश्री नाम का एक शक्तिमन्दिर का उल्लेख इस पुस्तक में किया गया है। मञ्जुश्री का अभिप्राय मञ्जुलश्री देवी के मन्दिर से है, जो श्रीचक्र के आधार पर निर्मित है। इसमें मेरुप्रस्तार, भूप्रस्तार तथा वैमानिक आदि पर प्रतीकात्मक ढंग से विचार इसकी चतुर्दश शिखरिकाएँ, चतुर्दशार का गर्भगृह वाला स्वरूप उद्घाटित करता है। दूसरी गणना के अनुसार शिखरिकाओं के आधार पर षोडशी का स्वरूप भी प्रतिबिम्बित होता है। श्रीचक्र का बिन्दुकलश के द्वारा अभिव्यक्त होता है तथा श्रीचक्र का वृत्तभाग आमलक के द्वारा चित्रित किया गया है। राजराणी मंजुश्री के मन्दिर में मातृमूर्ति स्थापित है। इसकी पर्वताकार ऊँचाई आधिभौतिक, बाहरी अभिव्यक्ति मेरुप्रस्तार द्वारा आधिदैविक स्वरूप का प्रतिपादन करता है और मनुष्य शरीर आध्यात्मिक पहलू पर दृष्टिपात करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण श्रीचक्र प्रतीकात्मक रूप में अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि तथा उसका अनुपालन द्योतित करता है।[12] ध्यातव्य है कि बौद्धसाधना पद्धति में मंजुश्री एक सफल बोधिसत्व के रूप में चित्रित किये गये हैं, किन्तु श्रीविद्या से इनका कोई सम्बन्ध है कि नहीं, यह अनुसन्धान का विषय है। यह गुरु प्रेरणा का उत्स ही है, जो उपर्युक्त पंक्तियों को लेखक द्वारा प्रकट किया गया।

प्राज्ञ पुरुष विद्या-विनय से सम्पन्न होकर सदाचारी होता है। वह पापी के प्रति पापमय व्यवहार नहीं करता, कुटिल के प्रति भी मृदु रहता है तथा उसका अन्तःकरण मैत्री से द्रवीभूत रहता है।[13] चरक के अनुसार मति, धृति तथा स्मृति ही प्रज्ञावान की विशेषताएँ हैं- ये ही सद्वृत्त हैं- 'तद्ध्यनुष्ठानं युजपत्संपादयत्यर्थ द्वयमारोग्यमिन्द्रिय विजयं चेति।'[14] प्रज्ञापराधी सद्वृत्त का विरोधी होता है। प्रज्ञापराध मूलतः आयुर्वेद का शब्द है। चरक[15], सुश्रुत तथा वाग्भट्ट ने इस पर विचार किया है। प्रज्ञापराध में कर्म से 'रजोमोहसमुत्थितम्' होता है। कदाचारलीन व कुलाचारहीन होना प्रज्ञापराध है। तुलसी ने मानसरोग में विशद् विवेचन किया है—

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहि बहुसूला।

ये व्याधियाँ और शूल ही मानसरोग है। मानसिक तनाव शारीरिक व्याधि बन जाता है। अनेक अनुसन्धानों से, जिनमें 'किलीयन फोटोग्राफी' मुख्य है यही बताया गया है- क्रोधी, अभिमानी, विषयी के चरित्रों में समसंगति (हारमोनी) नहीं होती। यहाँ तक कि फूल पौधे भी विकसित नहीं होते। सभी व्याधियों की अनुत्पत्ति और उत्पन्न व्याधियों की शान्ति का उपाय भी निर्दिष्ट है- प्रज्ञापराधों का परित्याग, इन्द्रियोपशम, स्मृति, देशकालात्म विज्ञान एवं शास्त्रोक्त सदाचार का अनुष्ठान[16] मैं यह इसलिए कह रहा हूँ कि गुरुदेव एक कुशल वैद्य भी थे।

समग्र सन्तुलित साम्यदशा का प्रतीक श्रीमद्भागवत के आराध्यदैवत श्रीकृष्ण को महामानव जीवन का वैभव तथा कांस्य स्वीकार रहा, इसलिए सुदामा की दरिद्रता और दुर्बलता मिटाने में वे अग्रसर हुए किन्तु मदान्ध विलासी उपभोगवृत्ति तथा भयग्रस्त आक्रमक क्रूरता उन्हें मंजूर नहीं थी, इसलिए हिरण्यकश्यप, कंस या यादवों की आसुरी या विलासी महत्त्वाकांक्षा को गलत माना। सृष्टि मातृस्वरूपा है, इसलिए वात्सल्य भाव से उसका दोहन अभिप्रेत था, लेकिन लालची वृत्ति से सृष्टि पर विनाशकारी विषदृष्टि डालना उन्हें आत्मघातक पाप कृत्य लगा। जीवन के समग्र सौन्दर्य की और पूर्ण पुष्टि भी श्रीकृष्ण की अभीप्सा थी, इसलिए एकान्तिक त्याग या आत्मविस्मृत करने वाले भोग की कुरूपता उन्हें अपने जीवन से हटानी पड़ी। इसी सन्तुलन वृत्ति से जीने पर मानव और प्रकृति निरुपाधिक निष्पाप खेल में आनन्दपूर्ण पारस्परिकता से एकरस हो सकते हैं यह उन्होंने रासलीला से साबित किया। "रसानां समूहोरासः" के रहस्य के अप्रतिम व्याख्या गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जी भोक्ता और प्रयोक्ता प्रतीत होते थे। हो भी क्यों न स्वामी करपात्री जी महाराज जैसे श्रीगुरुचरणपञ्कज ही इनका एकमात्र लक्ष्य था।

अपने मन में सदा, सर्वदा, सर्वथा अपनी आराध्या भगवती त्रिपुरसुनदरी राजराजेश्वरी को रखा। अनन्य भाव से भक्ति की। समाज की हेयता को श्रेयस बनाने का संकल्प लिया। सांस्कृतिक पतन का घोर विरोध कर नव निर्माण की भूमिका दी। गुरुदेव कल्पवृक्ष हैं, जिसकी वरद शक्ति अमोघ है, इसके नीचे खड़े होकर शिवसंकल्प से हम अमृत प्राप्त कर सकते हैं। अतएव मैं इस पुनीत अवसर पर उनको नमन करके उनके अनुसरण की कामना को दोहराता हूँ। माँ के चरणों में—

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसारचक्रात्मकम्,
विख्यातं तद्धिष्ठिताक्षरशिवं ज्योतिर्मयं सर्वतः।
एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिररुणं श्रीसुन्दरीभिवृत्तं,
श्रीमाताललिताम्बिका देवी सदा प्रीयताम्।।

सन्दर्भ

1. श्रीविद्या साधनापीठ, शिवसदन, नगवाँ, वाराणसी, 2007 ई0
2. *देशधर्म और साहित्य*, पं0 विद्यानिवास मिश्र, राधाकृष्णप्रकाशन, दिल्ली, 1992, पृ0 51
3. *गीता* 8/3
4. *आदिपर्व* 180/2
5. *स्तोत्ररत्नावली,* रामस्तोत्राणि-30।
6. *श्रीविद्यावार्ता*- पृ0 7।
7. *महानारायणोपनिषद्*
8. *पूजातत्त्व*, पंडित गोपीनाथकविराज
9. *श्रीविद्यावार्ता*, पृ0 5
10. *अश्वमेधपर्व* 40/20
11. उद्धृत, वाग्द्वार, पृ0 44
12. *शिल्परत्नकोश*, अनुवादक एवं सम्पादक, डॉ0 बेट्टिना बामर एवं श्रीराजेन्द्रदास, प्रकाशित, इन्दिरा राष्ट्रीय कलाकेन्द्र जनपथ, नई दिल्ली, 1994 ई0, भूमिका, पृ0 5-6
13. *विष्णुपुराण*- 3/12/41
14. *चरकसंहिता*, शरीरस्थानम्- 8/2
15. *चरकसंहिता,* शरीरस्थानम्- 102
16. *चरकसंहिता,* सूत्रस्थानम्- 8/53

धर्मागम विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

श्रीगुरुस्मरण

प्रो. उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी

श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य दत्तात्रेयानन्दनाथ (पण्डित सीताराम कविराज) गुरुजी का प्रथम दर्शन मुझे मारवाड़ी सेवा संघ लक्सा के कोटि अर्चन बर्ष 1993 के उपलक्ष्य में आयोजित विद्वत्सपर्या में हुआ था, मैं अपने पूज्यपितामह वेदमूर्ति स्व. आचार्य जगन्नाथ त्रिपाठी जी के साथ कार्यक्रम में सम्मिलित हुआ था। उस समय सम्भवतः उत्तर मध्यमा कक्षा में पढ़ रहा था। उसी समय गुरु जी के मुखमण्डल पर अपूर्व तेज एवं स्नेहासिक्त आशीर्वाद मुझे प्राप्त हुआ, गुरुजी से मुझे एक मोती का माला तथा मोदकार्चन का प्रसाद लड्डू प्राप्त हुआ।उसके अनन्तर गुरु जी काशी स्थित मुमुक्षु भवन में रहने लगे। मेरे घर से मुमुक्षु भवन पास में हैं, मैं अक्सर गुरु जी के पास जाने लगा था गुरु जी के यहाँ जाकर उनके पास बैठने मात्र से एक अलग दिव्य-अनुभूति होती थी। गुरुजी में एक विशेष प्रकार का आकर्षण था,जो उनसे जुड़ता वह उनके दिव्य आभा के वशीभूत हो जाता था। मुझे गुरु जी के पास जाने से तात्कालिक लाभ मोदक एवं गुरु जी का स्नेह प्राप्त होने लगा था।वह हमें श्री विद्या उपासना के लिए सदैव प्रेरित करते थे। काशी मुमुक्षु भवन में ही मै गणेश मन्त्र की दीक्षा प्राप्त की। तदनन्तर श्री विद्या साधना पीठ की स्थापना हो गयी। वहाँ भी मैं गुरु जी के पास सप्ताह में दो या तीन दिन सायम् जाते रहता था। गुरु जी के आदेशानुसार वही मुझे बाला षड्क्षरी की दीक्षा प्राप्त हुई। वे मुझे उपासना के लिए सदैव प्रेरित करते रहते थे जबकि मैं थोड़ा प्रमादि प्रकृति का था तथा गुरुजी से मुह-बोला था,निःसंकोच कुछ भी खुलकर बात करता था। एक बार मैंने गुरु जी से कहा कि मुझे बाला मंत्र सदैव खाली समय में भी कही भी सोते उठते-चलते फिरते जप हुआ करता है,गुरुजी ने बताया कि यह बड़ा ही उत्तम पक्ष है यह तो अन्तर्यागी उपासकों को होता है, लगता है तुम्हारा पूर्वजन्म के संस्कार का फल है। वे हमें इस उपसाना में बढ़ाने के लिए सदैव प्रेरित करते रहे परन्तु मेरा ही दुर्भाग्य रहा कि गुरुजी से उपासना क्रम में आगे बढ़ा नही पाया परन्तु गुरु जी का आशीर्वाद मेरे साथ सदैव बना रहा। मैं ही नहीं मेरा पूरा परिवार मेरी धर्म-पत्नी, बेटी एवं मेरी तीन बहनों ने भी दीक्षा प्राप्त कर इस उपासना मार्ग के साथ गार्हस्थ्य जीवन सुखमय व्यतीत कर रही है। मैने काशी के अनेक संस्कृत विद्वानों को इस उपासना हेतु इस पीठ से जोड़ा जो इसके लिए हमें सदैव साधुवाद करते रहे हैं। गुरुजी शास्त्र व साधना के साथ-साथ लोक व्यवहार के भी कुशल आचार्य थे। वे मेरे पूज्य दादाजी एवं पूज्य पिताजी के गोलोकवासी होने पर शोक संवेदना प्रेषित करने हेतु कृपा पूर्वक घर पर पधारे थे तथा आत्मसम्बल व धैर्य प्रदान किये थे।

मेरी पत्नी तो गुरुजी के प्रति विशेष प्रकार का अस्था रखती हैं। हमारे बालक (प्रथमेश) का असामयिक निधन के समय वे अक्सर कहती रहती थी कि गुरुजी होते तो उसे बचा लेते।

वस्तुतः श्रीविद्योपासना पद्धति उत्तर भारत में प्रचार-प्रसार का श्रेय अभिनव शंकर स्वरूप धर्म-सम्राट यतिचक्र चूड़ामणि स्वामी हरिहरानंद सरस्वती (करपात्रीजी)महाराजजी को जाता हैं।गुरुजी नें उन्हीं से दीक्षा प्राप्त कर तथा आगमशास्त्र के गूढ़ पद्धतियों,रहस्यों को आत्मसात कर इस उपासना पद्धति के प्रचार-प्रसार में सम्पूर्ण जीवन सतत लगे रहें। इसके लिए वे निरन्तर काशी में अनेक लक्षार्चन,कोट्यर्चन शृङ्खला आरम्भ की अपितु काशी के बाहर—प्रयागराज, मुम्बई, कामाख्या धाम, विन्ध्याचल, शाकम्भरी देवी (राजस्थान) कोलकात्ता आदि स्थानों पर आयोजन किया। मुझे भी शाकम्भरी देवी (राजस्थान) विन्ध्याचल, कामाख्या, प्रयागराज, काशी आदि में आयोजित लक्षार्चनों कोट्यर्चनों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हैं।सम्प्रति भी गुरुजी के आविर्भाव शताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य में वह परम्परा गतिमान् हैं—दिनाङ्क 3 जनवरी 2026 से 23 जनवरी 2026 तक कोट्यर्चन श्रीविद्या साधना पीठ में आयोजित है।

प्रातः स्मरणीय परमश्रद्धेय पं. सीताराम कविराज दीक्षा नाम श्रद्धेय दत्तात्रेयानन्दनाथ गुरुजी ने उत्तर भारत में श्री विद्या साधना के प्रचार प्रसार हेतु काशी में कुछ विशिष्ट प्रकल्प स्थापित किये जो निरन्तर उनके संकल्पित स्वप्नों को आगे बढ़ा रहा है।

श्रीविद्या साधनापीठ (शिव-सदन) जिसमें श्रीविद्या साधकों को जिज्ञासकों को सुलभता से दिग्दर्शन प्राप्त करा रहा हैं।

- ✻ राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी का मन्दिर निर्माण एवं भगवती शाङ्करी देवी मूर्ति स्थापना ।
- ✻ वेद पाठशाला की स्थापना तथा श्रीविद्यासाधना की प्रायोगिक प्रशिक्षणशाला की स्थापना।
- ✻ श्रीविद्योपासना सम्बद्ध विशिष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन ।

उपर्युक्त सभी प्रकल्प श्रीविद्योपासना हेतु महनीय है उनमें भी विशिष्ट प्रकल्प ग्रन्थ प्रकाशन का है,जो पूज्य गुरुदेव ने अपने जीवन काल में ही आगमिक साधना से सन्दर्भित दशाधिक मौलिक ग्रंथों,धर्म सम्राट स्वामी करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित *श्रीविद्यारत्नाकर* व *श्रीविद्यावारिवस्या* का सफलतम सम्पादन, 'श्री विद्या-वार्ता' (षाण्मासिक शोध पत्रिका), तान्त्रिक-पञ्चाङ्ग एवं विभिन्न आगामिक शोध पत्रिकाओं में लगभग 15 से अधिक तात्विक शोध लेख प्रकाशित हुये हैं।

सम्मान एवं पुरस्कार के दृष्टि से देखें तो गुरुजी के साधना से वशीभूत होकर तात्कालीन काशी एवं राष्ट्रीय स्तरके उद्भट्ट विद्वानों, प्रबुद्धजनों व प्रशासनिक अधिकरीगणों ने गुरु जी से दीक्षा प्राप्तकर अपनी आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त किये उनमें प्रमुखरूप से—पद्मभूषण पण्डित विद्यानिवास मिश्र जी, प्रो. मण्डन मिश्रजी, पद्मविभूषण प्रो. मुरलीमनोहर जोशीजी, महालेखा निरीक्षक भारत सरकार श्री टी. एन चतुर्वेदीजी, प्रो रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठीजी, प्रो.वैपट कुटुम्ब शास्त्रीजी, श्रीमान् विनोद दूबेजी (विश्वबैंक), प्रो. रेवती रमण पाण्डेयजी, प्रो. सुरेश चन्द्रपाडेयजी, प्रो.व्यास मिश्रजी, प्रो.हृदय रंजन शर्माजी, प्रो. रमेश चन्द्र पण्डाजी, प्रो. युगल किशोर मिश्रजी, प्रो.श्रीकिशोर मिश्रजी, प्रो.राजेन्द्र प्रसाद शर्माजी, श्री हिमांशु कुमार (पूर्व अपर मुख्य सचिव उ.प्र.), श्रीमती स्मिता चौधरी (पूर्व उपनियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक

भारत सरकार) एवं श्री अनन्त देव तिवारी (पूर्व डी.आई.जी.) आदि अनेकानेक रहे हैं। गुरु जी को दशाधिक संस्थानों द्वारा पुरस्कार व सम्मान प्राप्त हैं, विशेष रूप में वर्ष 2002 का संस्कृत वाङ्मय एवं आगम शास्त्र में नैपुण्य हेतु भारत सरकार द्वारा राष्ट्रपति सम्मान प्राप्त हुआ था।

गुरुजी द्वारा स्थापित महनीय प्रकल्पों के साथ गुरुजी के सुयोग्य उत्तराधिकारी "आत्मा वै जायते पुत्रः" गुरु जी के कनिष्ठ पुत्र परमादरणीय आचार्य श्री प्रकाशानन्दनाथ जी, जिन्होंने गुरुजी से ही श्री विद्या-साधना की दीक्षा प्राप्तकर पूर्णाभिषेक विधि से अभिषिंचित है, आगे बढ़ा रहे हैं। आपने उस आध्यात्मिक साधना के सभी पक्षों को ध्यान रखते हुए दृढ-अनुशासन, सुव्यवस्थित, समय की पाबन्दी, आहार विहार की पवित्रता के साथ श्रीविद्या साधना पीठ का निरंतर भौतिक विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक वातावरण के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। वे आज भी सुयोग्य साधक पात्र का परीक्षणोपरान्त ही दीक्षा प्रदान करते है।

गुरु जी द्वारा प्रकल्पित उपासना के साथ-साथ भारतीय विद्याओं एवं आगमिक शास्त्रों पर प्रकाशन का कार्य भी निरन्तर हो रहा है। गुरुजी के जाने के अनन्तर एक गोशाला, सुव्यवस्थित पुस्तकालय, साधक अतिथियों के लिए अतिथि निवास निर्माण, एक भू-खण्ड का क्रय एवं सुव्यवस्थित वेद पाठशाला, श्रीविद्या वार्ता (षाण्मासिक) का नियमित प्रकाशन, वृहत्तम पत्र-पुष्पों से आच्छादित श्रीविद्या साधना पीठ अपने सुरम्य वातावरण के साथ-साथ पूर्ण पवित्रतम स्वरूप द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान को प्रसृत कर रहा है।

सौभाग्यभास्कर की उक्ति—

गुकारः सदिति प्रोक्ता रुकारो ज्ञानवाचकः।
ब्रह्मज्ञानैकरूपत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते। ।

गुरु तत्व ब्रह्मज्ञानैक रूप वाला होता हैं। इस तादात्म्य की समग्र अनुभूति गुरुवर्य के जीवन में चरितार्थ थी। अपनी गुरुपरम्परा के प्रति उनका अनन्यभाव सम्पूर्ण शिष्यवर्ग के लिए आदर्श हैं। उन्होंने शिव सदन में स्वामी हरिहरानंद सरस्वती करपात्रीजी महाराज की प्रतिमा भी स्थापित किया था,बाद में शिष्यवर्ग नें गुरुजी की प्रतिमा भी बगल में स्थापित करवाया।गुरुजी द्वारा प्रत्येक वर्ष करपात्र-जयन्ती महोत्सव का आयोजन होता रहा जो आज भी बड़े धूम-धाम से करपात्र जयन्ती महोत्सव पीठ में मनाया जाता हैं। इस अवसर पर पीठ द्वारा श्रीविद्या साधक विद्वान को एक लाख रुपये का करपात्र रत्न सम्मान भी प्रदान किया जाता है।

पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में कतिपय दिव्य अनुभवों को स्मरण कर मन परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। मै तो प्रतिदिन गुरुजी स्मरण करता हूँ, कोई भी कार्य हो बिना गुरु-स्मरण विना पूर्ण नही होता है। ऐसे परमानन्द प्रदान करने वाले गुरुजी के शताब्दी महोत्सव के महापर्व पर कोटिशःभाव पुष्पांजलि द्वारा सश्रद्ध कोटिशः नमन-वन्दन ।

आचार्य-वेदविभाग एवं संस्थापक, समन्वयक वैदिक विज्ञान केन्द्र
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
dr.upendrabhu@gmail.com

मेरी स्मृति में नित्य विद्यमान गुरुजी दत्तात्रेयानन्दनाथ (पं. सीताराम कविराज)

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी (शिवपुरन्ध्रि)

फाल्गुन शुक्लपक्ष, दिनांक 25 फरवरी 2026 का पावन दिवस भारतीय आध्यात्मिक इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्मृति-पर्व के रूप में अंकित हो रहा है। इसी शुभ तिथि को श्रीविद्यासाधनापीठ के संस्थापक, परम श्रद्धेय गुरुवर्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ (पं. सीताराम कविराज) जी का आविर्भाव शताब्दी महोत्सव श्रद्धा, कृतज्ञता और आत्मचिन्तन के साथ मनाया जा रहा है।

परम श्रद्धेय गुरुजी का आविर्भाव केवल एक महापुरुष का जन्म नहीं था, अपितु श्रीविद्या परम्परा में एक ऐसे दिव्य प्रकाश का प्राकट्य था, जिसने साधना, सेवा और साधुता—तीनों को एक सूत्र में बाँध दिया। उनका सम्पूर्ण जीवन आत्मोद्धार के साथ-साथ लोकमंगल की अखण्ड साधना को समर्पित रहा। गुरुजी श्रीविद्यासाधनापीठ के संस्थापक तथा परम्परा के प्रकाशस्तम्भ थे। यह पीठ केवल साधना-केन्द्र नहीं, बल्कि श्रीविद्या की शुद्ध, मर्यादित और गुरु-परम्परा से संयुक्त साधना का जीवंत केन्द्र रहा है। गुरुजी की दृष्टि में श्रीविद्या कोई प्रदर्शनात्मक तान्त्रिक प्रक्रिया नहीं बल्कि आत्मशुद्धि, संयम और करुणा से युक्त पराशक्ति की आराधना थी। उनके लिए श्रीचक्र कोई बाह्य यन्त्र नहीं, बल्कि साक्षात् महात्रिपुरसुन्दरी का जीवन्त साक्षात्कार था। वे मानते थे कि—'साधना वही है, जो साधक के अहंकार को गलाकर उसे विवेक और करुणा में प्रतिष्ठित कर दे।"

गुरुजी का जीवन अहर्निश साधना का जीवन्त आदर्श था। जप, ध्यान और स्वाध्याय यही उनकी जीवन-शैली थी। उन्होंने साधना को किसी विशेष समय या अनुष्ठान तक सीमित नहीं किया, बल्कि उसे जीवन की स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास बना दिया। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सहज, सौम्य और तेजस्वी था। उनके सान्निध्य में आने मात्र से ही शांति, विश्वास और आध्यात्मिक ऊर्जा का अनुभव होता था।

आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ गुरुजी एक सिद्ध आयुर्वेदाचार्य भी थे। आयुर्वेद उनके लिए केवल रोग-निवारण की पद्धति नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन-दर्शन था। वे मानते थे कि जब तक शरीर, मन और आत्मा—तीनों में सामंजस्य न हो, तब तक वास्तविक आरोग्य संभव नहीं। जड़ी-बूटियों, देशज औषधियों और सात्त्विक जीवन-शैली के माध्यम से उन्होंने असंख्य रोगियों का निःस्वार्थ भाव से उपचार किया। उनकी चिकित्सा में करुणा, अनुभव और आध्यात्मिक चेतना का अद्भुत समन्वय दिखाई देता था। साधक हो या रोगी, शिष्य हो या आगन्तुक—सभी के प्रति उनका व्यवहार समान रूप से करुणामय और मार्गदर्शक था। उनका गुरु-भाव औपचारिक दीक्षा से कहीं आगे जाकर जीवन जीने की कला सिखाने में प्रकट होता था।

गुरुकृपा के सान्निध्य में : कुछ अविस्मरणीय क्षण

परम श्रद्धेय गुरुजी का सान्निध्य केवल आध्यात्मिक पथदर्शन तक सीमित नहीं था, वह जीवन के प्रत्येक मोड़ पर अदृश्य रूप से साथ चलता हुआ एक सशक्त सम्बल था। उनके प्रति मेरी श्रद्धा अनुभवैकगम्य है, जिन्हें शब्दों में बाँधना सरल नहीं, फिर भी स्मृति के रूप में उन्हें सहेजना आवश्यक है। नागपुर विश्वविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफेसर पद के लिए मैंने आवेदन किया था। इंटरव्यू लेटर आया तो जाने के एक दिन पूर्व वह पत्र गुरुजी के श्रीचरणों में रख दिया। उन्होंने सहज भाव से पूछा—"क्या है?" मैंने निवेदन किया कि इंटरव्यू के लिए बुलावा आया है, आशीर्वाद चाहिए। गुरुजी कुछ क्षण मौन रहे। फिर गंभीर स्वर में बोले—"सारी दुनिया काशी आना चाहती है और तुम काशी छोड़कर जाने की बात करती हो! ठीक है, तुम्हारी इच्छा है तो जाओ।"

उनके शब्दों में न रोष था, न आग्रह—केवल संकेत था। मैं उदास मन से वहाँ से लौटी। नागपुर में मेरा चयन नहीं हुआ। आज जब पीछे मुड़कर देखती हूँ, तो स्पष्ट अनुभव होता है कि उनकी इच्छा थी कि मैं काशी में ही रहूँ और उन्हीं के आशीर्वाद से आर्य महिला पी. जी. कॉलेज में स्थान प्राप्त हुआ। उस समय गुरुजी देह रूप में उपस्थित नहीं थे परन्तु उनका आशीर्वाद पूर्णतः मेरे साथ था।

एक अन्य घटना मेरे जीवन की सबसे संवेदनशील स्मृतियों में से है। एक समय मेरा स्वास्थ्य अत्यन्त खराब चल रहा था। डॉक्टरों को हृदय अथवा किडनी की समस्या का संदेह था। पैरों में अत्यधिक सूजन थी और मन आशंकाओं से घिरा हुआ था। मैंने अपने पतिदेव से कहा कि किसी भी जाँच से पूर्व गुरुजी का आशीर्वाद लेना चाहती हूँ। उस रात हम दोनों ही अत्यन्त चिंतित थे। मुझे अपने बच्चे की बहुत चिंता हो रही थी । भावावेश में, हल्के मज़ाक के स्वर में मैंने कह दिया—"आप तो दूसरी शादी कर लेंगे, लेकिन मेरे बच्चे का क्या होगा?" वे नाराज़ हो गए। वह एक नितांत निजी क्षण था। हम दोनों के अतिरिक्त कोई साक्षी नहीं था। अगले दिन गुरुजी के पास पहुँचे। उन्होंने गंभीर दृष्टि से मेरे पतिदेव से पूछा—"माधव! पुष्पा रात में तुमसे क्या कह रही थी?" हम दोनों स्तब्ध रह गए। कोई उत्तर नहीं। फिर गुरुजी बोले—"यह तुमसे जाने की बात कर रही थी?" मेरी आँखें भर आईं। मैं उनकी ओर देख भी नहीं पा रही थी। उन्होंने स्नेह और अधिकार से कहा—"मैं बैठा रहूँगा और तुम चली जाओगी? जाओ, जाँच करवाओ—कुछ नहीं निकलेगा।" और सचमुच, जाँच में कुछ भी गंभीर नहीं निकला। उस दिन अनुभव हुआ कि गुरु केवल उपदेश नहीं देते वे शिष्य के मन के भीतर उतरकर उसकी पीड़ा हर लेते हैं।

गुरुकृपा का एक स्नेहिल प्रसंग

एक बार गुरु जी ने सहज भाव सेपतिदेव से कहा—"माधव! कल मुझे बी.एच.यू. की नर्सरी ले चलो। वहाँ देखकर कुछ पौधे ले आएँगे।"दूसरे दिन हम लोग नर्सरी पहुँचे। चारों ओर हरियाली फैली थी और बड़े-बड़े गुलाब के फूल पूर्ण वैभव में लहलहा रहे थे। उन पुष्पों की आभा ऐसी थी कि मन स्वतः ही आकृष्ट हो उठा। गुरु जी आगे-आगे चल रहे थे और हम दोनों उनके पीछे। सुन्दर -सुन्दर गुलाब को देखकर मेरा मन ललचा गया। मैंने चुपके से पतिदेव को संकेत किया—कितना सुन्दर पुष्प है! गुरु जी हमारी ओर देखे बिना ही, मानो मन की बात पढ़ ली हो, मुस्कराते हुए बोले— "तोड़ लो पुष्पा! भगवती के लिए की गई चोरी, चोरी नहीं होती।"

गुरु की आज्ञा मिलते ही हम दोनों ने वह पुष्प तोड़ लिया। वह क्षण अत्यन्त सहज, स्नेहिल और आनन्द से भरा हुआ था जहाँ गुरु का वात्सल्य, विनोद और करुणा एक साथ प्रकट हो उठे। आज भी जब उस प्रसंग को स्मरण करती हूँ, तो अनुभव होता है कि गुरु जी के साथ बिताया गया प्रत्येक क्षण केवल स्मृति नहीं, बल्कि

जीवन की अमूल्य धरोहर है। ऐसे ही असंख्य छोटे-छोटे, किन्तु गहन अर्थ से भरे क्षण मेरे जीवन को आज भी आलोकित करते हैं।

गुरुजी के साथ कार्य करना स्वयं में एक साधना थी। *पंचरत्नम्* तथा *श्रीविद्यार्णवतन्त्रम्* जैसे ग्रंथों का निर्माण गुरुजी की दूरदर्शिता का प्रमाण है। *श्रीविद्या पंचरत्नम्* के लेखन के समय वे अत्यन्त उत्साह से भरे रहते थे। 'महापूजा' के प्रायोगिक पक्ष को लिखवाते समय वे प्रतीकात्मक रूप से पात्र सजाकर स्वयं पूजा करते जाते और विधि लिखवाते जाते। गर्मी की दोपहर में, आज जहाँ लाइब्रेरी है, वहीं चटाई पर बैठकर यह दुर्लभ कार्य हो रहा था। बीच-बीच में मुस्कराकर कहते—"तुम इतना तेज लिखती हो कि मैं बोलने में पीछे हो जाता हूँ।"लिखे हुए को वे बार-बार पढ़वाते, संशोधन करवाते—"नहीं, इसे ऐसे लिखा जाए तो बात अधिक स्पष्ट होगी। पढ़ने वाले को कहीं संशय नहीं होना चाहिए।" वे कहते—"पुष्पा! यह बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। जब यह पूर्ण होगा, तो साधकों के लिए महापूजा सुगम हो जाएगी। इससे 'महापूजा" करने वाले साधकों की संख्या बढ़ेगी और विश्व का कल्याण होगा।" उनकी दृष्टि सदैव व्यापक थी—व्यक्तिगत से ऊपर, सार्वभौमिक कल्याण की ओर उन्मुख।

पंचरत्नम् के पश्चात् *श्रीविद्यार्णवतन्त्रम्* का कार्य आरम्भ हुआ। कहीं-कहीं वे अर्थ छोड़ देते। पूछने पर कहते— "यह गुप्त विद्या है। सब कुछ लिख देना उचित नहीं। यह अनुभवैकगम्य है। यदि सब लिख दिया जाएगा तो गुरु की आवश्यकता ही क्या रह जाएगी?" उन दिनों ऐसा लगता था मानो कोई उत्सव चल रहा हो। लेखन, टाइपिंग और प्रूफ-रीडिंग साथ-साथ। उनके मुखमंडल पर तेज और प्रसन्नता निरन्तर झलकती रहती थी। आज भी जब उन दिनों को स्मरण करती हूँ, तो स्पष्ट अनुभव होता है गुरुजी केवल ग्रन्थ नहीं गढ़ रहे थे, वे परम्परा को भविष्य के लिए सुरक्षित कर रहे थे। उनका का व्यक्तित्व इस युग में विरल था, जहाँ साधना, ज्ञान और सेवा का ऐसा संतुलित समन्वय दुर्लभ है। उनका जीवन यह सन्देश देता है कि सच्ची आध्यात्मिकता संसार से पलायन नहीं, बल्कि संसार के मध्य रहकर भी निष्काम, निर्मल और करुणामय बने रहने की साधना है। उनका सान्निध्य मेरे जीवन की सबसे बड़ी पूँजी है।

आविर्भाव शताब्दी महोत्सव केवल स्मरण का पर्व नहीं, बल्कि आत्मचिन्तन, आत्मानुकरण और कृतज्ञता का महायज्ञ है। गुरुजी की साधना, सेवा और जीवन-दर्शन आज भी असंख्य साधकों के लिए प्रकाशपथ एवं प्रेरणापुंज है। है। इस पावन अवसर पर परम श्रद्धेय गुरुवर्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ (पं. सीताराम कविराज) जी के श्रीचरणों में कोटि-कोटि नमन करते हुए यही प्रार्थना है कि हम उनके प्रदर्शित मार्ग पर चलकर अपने जीवन को अधिक सात्त्विक, सार्थक और लोकमंगलकारी बना सकें। ऐसे दिव्य महापुरुष के श्रीचरणों में नमन करते हुए यही कामना है कि उनके द्वारा प्रदर्शित साधना, सेवा और समर्पण के मार्ग पर चलकर हम अपने जीवन को अधिक सार्थक, सात्त्विक और लोकमंगलकारी बना सकें।

संस्कृत विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी, उ.प्र.

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्

डॉ. दीपक कुमार शर्मा

प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव के प्रथम कृपा कटाक्ष ने ही सम्पूर्ण जीवन यात्रा की दशा एवं दिशा दोनों ही बदल दीं जो जीवन उपासना से दूर मात्र अध्ययन और दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किये जाने वाले कर्मो तक ही सीमित था उसमें एक नया प्रकाश नवीन ऊर्जा तथा नूतन उद्देश्यों का सृजन हुआ जिसका उद्देश्य मात्र गुरुदेव के आदेश का पालन था, न जिसमे कोई सांसारिक उद्देश्य न ही अपना पूर्वाग्रह। उस प्रथम साक्षात्कार में गुरुजी की दिव्य छटा एवं अद्भुत देवतुल्य व्यक्तित्व ने सदैव के लिए गुरुजी का बना दिया था ठीक उसी प्रकार जैसे भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" बात सन2008 की है जब मैंने प्रथम गुरुजी के दिव्य दर्शन किये मेरा परम सौभाग्य था कि वेदाध्ययन के उपरान्त वेदाध्यापन हेतु मुझे पूज्य गुरुजी प्रो. युगल किशोर मिश्र जी ने पूज्य आचार्य चरण डॉ.अरुण कुमार मिश्र जी के द्वारा वाराणसी बुलवाया। वेदाध्यापन हेतु काशी में बुलाना मेरे लिए अत्यंत आह्लादास्पद था उस समय में मैं श्रीमद्भागवत कथा व्यास के रूप में समाज में कार्यरत था परन्तु प्रभु से सदैव यही निवेदन करता था कि माता मुझे जीवन-निर्वाह हेतु कथा वाचन न करना पड़े। क्योंकि मुझे अनुभव हो गया था कि शास्त्रोक्त सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी यजमान के मिजाज को देखना पडता था जो कि मुझे असह्य था तथा बाल्य स्वभाववश या मानवीय दुस्त्यज स्वभाववश अन्य व्यासों से प्रतिस्पर्धा भी होने लग गयी थी जिसके परिणामस्वरूप मेरा मन खिन्न हो गया था। भगवान् ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया तथा मुझे अध्यापन का अवसर प्रदान किया परन्तु उस समय जो दुर्भाग्य दिख रहा था वो वास्तव में सौभाग्य के रूप में परिणत हुआ जहाँ के लिए मुझे बुलाया गया था उस स्थान पर मेरे आने के पूर्व ही अन्य अध्यापक को नियुक्त कर दिया एवं वेद विद्या प्रतिष्ठान से मुझे मध्यप्रदेश में कटनी में अध्यापन हेतु जाने के लिए तत्कालीन सचिव प्रो. श्रीकिशोर मिश्र गुरुजी ने आदेशित किया। इस हेतु मैंने आपसे निवेदन किया कि मैं काशी आ गया हूँ, अब कहीं अन्यत्र जाने की कोई कामना नहीं है। आपने कहा कि अभी तो कोई स्थान रिक्त नहीं है। अभी किसी अध्यापक के अवकाश-अवधि में पं.पट्टाभिराम शास्त्री वेद मीमांसा केंद्र, वाराणसी में आप सेवा कीजिये। आपके कार्य के अनुसार विचार किया जाएगा। मैंने 09 माह वहां अध्यापन के साथ ही जो अन्य दायित्व दिए गए उनका यथामति पालन किया।

एक दिन भगवती की कृपा से मेरा सुषुप्त भाग्य जागृत् हुआ और मुझे वेद विद्या प्रतिष्ठान के तत्कालीन सचिव प्रो. श्रीकिशोर मिश्र गुरुजी ने श्रीविद्या साधना पीठ में पूज्य गुरुदेव के पास भेजा और साथ में मुझसे कहा कि गुरुजी अनुशासन में दृढ हैं वहां निरंतरता तथा समर्पण दोनों ही परमावश्यक हैं। आपके आदेश को शिरोधार्य करके मैं पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ अपने प्रिय मित्र डॉ.विमलचन्द्र कांडपाल जी (गुरुजी के दीक्षित शिष्य) के साथ गुरुदेव के दर्शनार्थ पीठ में आया गुरुदेव के दिव्य मुखमंडल पर अलौकिक दिव्यता एवं विशिष्ट गाम्भीर्य था। आपकी

वाणी में ऐसा अद्भुत ओज था जो कि अद्यावधि पर्यंत अन्यत्र देखने को नहीं मिला फलस्वरूप आपने मुझसे भागवत का एक श्लोक सप्रसंग सुना और मुझे वेदाध्यापनार्थ आदेशित किया। अपनी दैनिकचर्या में नवीन अध्याय का प्रारम्भ श्रीविद्या साधना पीठ में पूज्य गुरुदेव के चरण-शरण से हुआ प्रतिदिन मैं अध्यापनार्थ आता था प्रत्युत प्रतिदिन गुरुजी का दर्शन लाभ नहीं हो पाता था। आपके सेवकों द्वारा निर्देश दिया गया था कि गुरुजी को चिकित्सकीय परामर्श के अनुसार बहुत ज्यादा लोगों से नहीं मिलना है अस्तु मैंने कभी दुराग्रह भी नहीं किया। एक दिन पूज्य गुरुदेव ने मुझे बुलाया तथा अभिभावाकोचित डांट लगाते हुए कहा कि तुम मुझसे मिलने क्यों नहीं आते हो? मैंने गुरुजी से निवेदन किया कि आपकी अस्वस्थता के कारण संकोच होता है तब गुरुजी ने कहा कि तुम अवश्य ही मुझसे मिलने आओगे मैं पूर्णरूपेण स्वस्थ हूँ।

मुझे अध्यापन करते हुए प्रायः 08 माह व्यतीत हो गए थे परन्तु अभी तक वेद विद्या प्रतिष्ठान से कोई मानदेय प्राप्त नहीं हुआ था एक दिन गुरुजी ने मुझसे पूछा कि तुमको कितना दिन हुआ और क्या वेतन मिला मैंने कहा गुरुजी सब आपका आशीर्वाद है, मिल जायेगा। तब गुरुजी द्रवित हो गये अरे! तुम्हें अभी तक कुछ भी नहीं मिला कैसे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है बस मैं शरणागत था। गुरुजी ने अत्यंत स्नेहपूर्वक मुझे अनेक आशीर्वचन प्रदान किये जो कि अनेकगुणित होकर फलीभूत हो रहे हैं। गुरुजी ने *श्रीविद्यारत्नाकर* का कुछ अंश पढ़ने के लिया दिया, तदुपरांत गुरुजी अत्यंत प्रसन्न हुए और श्रीविद्या साधना हेतु मुझे अंगीकार किया तथा उत्तम मुहूर्त में दीक्षा प्रदान करते हुए जप की महिमा श्रीविद्या का स्वरूप बोध करवाया। यद्यपि वह अप्रौढावस्था थी तथापि आपकी क्रियाशक्ति ने मन में ऐसा प्रवेश किया कि उपासना जीवन की मूल हो गयी अन्य समस्त क्रियाकलाप स्वतः गौण हो गए।

पूज्य गुरुदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग से जो भी अनुभव प्राप्त हुए हैं वो सब अनिर्वचनीय हैं बस यही कहा जा सकता है कि गुरुदेव की कृपा से सब संभव है श्रीमद्भागवत के पद्मपुराणोक्त माहात्म्य में आया है—

चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्ग सम्पदम्।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्।।

निश्चित ही समर्थ महापुरुष की प्राप्ति किसी सामान्य पुण्य का फल नहीं है, अपितु जन्म-जन्मान्तर में कहीं भगवान या उनके किसी भक्त की किसी सेवाके फलस्वरूप समर्थ महापुरुष की प्राप्ति संभव है। पूज्य गुरुदेव की चरण सन्निधि ने भगवती से जोड़ दिया अब जीवन में कोई अभिलाषा शेष नहीं है। पूज्य गुरुदेव के उपदिष्ट मार्ग पर चलने की शक्ति भी आपकी ही कृपा से संभव है। आपके चरण कमल के स्मरण को ही जीवन का सर्वस्व मानता हूँ। पूज्य गुरुदेव के चरणों में रति प्राप्त हो एकमात्र यही कामना है। इति शम्।

सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग,
डी.ए.वी.पी.जी.कॉलेज,
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय),वाराणसी

बंदऊ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि

रविशंकर शुक्ल

मैं 2003 में बरेली में सहायक आबकारी आयुक्त / जिला आबकारी अधिकारी के पद पर नियुक्त था। माह सितम्बर में जिलाधिकारी के पद पर श्री हिमांशु जी की नियुक्ति हुई मुझे घर बनारस आना था, अवकाश के लिए जिलाधिकारी महोदय से अनुमति लेने गया । वे पूछे कि कहाँ जाना है, मैंने बताया बनारस, पूछे बनारस में कहाँ, मैंने कहा लंका पर पूछा क्या आप नगवाँ के श्रीविद्या साधना पीठ जानते हैं मैंने कहाँ नगवा जानता हूँ। उन्होंने कहा श्रीविद्या साधना पीठ जाकर गुरुजी से मिलकर समाचार बताइएगा। मैं बनारस पहुँचने के दूसरे दिन गुरुजी से मिलकर श्री हिमांशु कुमार साहब का समाचार बताया तथा गुरुजी का आशीर्वाद लेकर घर आ गया। घर पर मेरे पारिवारिक पं. श्री डॉ. कमलेश तिवारी जी से चर्चा हुई तो वे गुरुजी को सिद्ध पुरुष बताए तथा यह भी बताया कि उनकी साधना से प्रसन्न हो श्री गणेश जी दर्शन दिए हैं। इसके बाद मेरा गुरुजी से एक वर्ष तक कोई सम्पर्क नहीं था । एक वर्ष पश्चात् जिलाधिकारी श्री हिमांशु कुमार साहब का फोन मेरे पास आया क्या रवि जी आप बरेली में है? मैंने कहा जी कहे आप के यहाँ चीनी मिले है दो बोरे चीनी आप आश्रम भिजवा दें। मैंने चीनी भिजवाया तब गुरु जी से मेरे बारे में श्री हिमांशु कुमार साहब की बात हुई तथा हिमांशु कुमार साहब ने मेरे लिये दीक्षा की बात की तथा बनारस आने पर गुरुजी से मिलने के लिए कहा। मैं बनारस आकर गुरुजी से मिला सौभाग्य से गुरुजी दीक्षा के लिए तैयार हो गये तथा 22 जनवरी 2005 में मेरे बड़े भाई डॉ. श्याम सुन्दर शुक्ल, मेरे एक बहनोई भी लल्लूराम पाण्डेय के साथ हम सभी को सपत्नीक दीक्षा दिए ।

दीक्षा के बाद मैं जब भी बनारस आता तो गुरुजी के चरणों में प्रणाम करने जाता। गुरुजी जब जाता तो उपासना की पद्धति में कुछ न कुछ विस्तार करते रहते थे तथा यह भी कहा कि जो पढ़ाई आपने किया है उससे यह उपासना की पद्धति थोड़ी कठिन है लेकिन प्रयास से धीरे-धीरे स्वतः सरल जो जायेगी। बराबर मिलते रहने से मेरे प्रति गुरुजी का भाव बिल्कुल पितृवत् होता था। गुरुजी कहते थे कि श्रीविद्या की उपासना से सांसारिक सुख के साथ मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

गुरुजी बड़ी ही सहजता से मिलते थे, बहुत ही स्नेह देते थे। मुझे नौकरी में रहते हुए गुरुजी का सान्निध्य कम ही मिल पाया लेकिन गुरुजी ने थोड़े ही समय में बहुत कुछ दे दिया।

वर्ष 2006 में मेरी तीसरी बेटी की शादी थी तो शादी के पूर्व गुरुजी ने गणपति जी का मोदकार्चन कराया था। मोदकार्चन के बाद मेरी पत्नी ने गुरुजी से कहा कि इस कन्या के पैदा होने के बाद से ही समृद्धि हुयी है। कहीं इसके जाने के बाद हम लोगों का समय परिवर्तन हो जाय तब गुरुजी ने श्वेतार्क महागणपति को दिया तथा कहा कि इनकी सेवा करना कुछ भी कमी नहीं होगी।

मई 2007 में हम लोगों ने लक्षार्चन करने के लिए गुरु जी से निवेदन किया. तो गुरुजी ने कराया। लक्षार्चन के बाद गुरुजी ने मुझे पंचदशी का मंत्र दिया मंत्र के साथ दीक्षानाम तथा यन्त्र भी दिया और कहा कि अब आप इस यंत्र की सेवा करिए । गुरुजी के आशीर्वाद से अब हम लोगों के पास अर्क विनायक तथा श्रीयंत्र हो गया और हम लोग उपासना करने लगे धीरे-धीरे गुरु जी ने सभी न्यास करने का उपदेश दिया। नौकरी में समयाभाव की वजह से मैं प्रायः सुबह आवास पर पूजा कर घर से निकल गाड़ी में बैठकर पाठ व जप करता था तथा यात्रा भी होती थी, गुरु जी से बताया तो गुरु जी ने कहा यात्रा में केवल मानसिक जप करिए आप पूजा के लिए और पहले उठकर पाठ-जप समाप्त करिए फिर मैं वैसा ही करने लगा।

गुरुजी भगवती की प्राणप्रतिष्ठा के बाद अस्वस्थ रहने लगे थे। एक दिन मैं गुरुजी के पास बैठा था तो मुझे गुरुजी के चेहरे पर एक लाल धब्बा जैसे मुझे देखने में लगा तो मैंने गुरु जी से पूछा कि चेरे का लाल निशान मुझे किसी बीमारी का संकेत लगता है, तुरन्त गुरुजी ने कहा ऐसा नहीं हैं, मेरा अब पुर्नजन्म नहीं होना है। मुझे सारे जन्म जन्मांतर का प्रारब्ध इसी शरीर पर उठाना है. इसलिए थोड़े बहुत कष्ट तो आयेंगे। गुरुजी के ऐसा कहने पर मैं उदास हो गया तथा गुरु जी ने कहा यदि मेरा यह शरीर छूट गया तब भी मैं सूक्ष्मरूप में इसी आश्रम में भगवती के चरणों में रहूँगा तथा जो भी उपासक भगवती का दर्शन करने आयेगा उसे मेरा भी आशीर्वाद मिलेगा तथा उसका कल्याण होगा।

मुझे उदास देखकर गुरु जी ने आगे कहा कि मेरे न रहने पर इस आश्रम का दायित्व श्री प्रकाशानन्दनाथ जी जो वर्तमान में पीठाध्यक्ष है। वहीं संभालेंगे। गुरुजी ने वर्तमान गुरुजी के लिए कहा कि ये भगवती की सेवा के लिए ही पैदा हुए हैं, इसीलिए मैंने इनकी शादी नहीं की है ये ब्रह्मचारी ही रहेंगे तथा आप सभी उपासकों का ध्यान रखेंगे और इस परम्परा को आगे बढ़ाएंगें। उस समय भी वर्तमान पीठाध्यक्ष जी आश्रम में कम ही रुकते थे, लेकिन आज आश्रम की व्यवस्था देखकर गुरुजी की कही हुई हर बात चरितार्थ होरही है।

मैं 2005 में गुरुजीसे दीक्षित हुआ था और गुरुजी 2009 में हम सभी का साथ छोड़ पंचतत्व में विलीन हो गये। मैं नौकरी में प्रायः बनारस से दूर रहा, इसलिए गुरुजी के सान्निध्य का कम अवसर मिल पाया। लेकिन गुरुजी का दर्शन मुझे अन्त समय में भी शरीर छोड़ने के एक दिन पूर्व मिल गया था। उस समय मेरी पोस्टिंग उन्नाव जनपद में थी मैं जिस दिन बनारस से उन्नाव गया उसी दिन गुरु जी अपना शरीर छोड़ गए. यह समय मेरे लिए अत्यन्त पीड़ा का था। मैं दो दिन बाद ही बनारस आ गया तथा आश्रम आया तो उस समय मुझे अत्यन्त पीड़ा का अनुभव हुआ तथा थोड़ी में ऐसा लगा कि गुरुजी कह रहे हैं क्यों परेशान होते हो मैं कहीं गया नहीं हूँ यहीं आश्रम में सूक्ष्म रूप से हूँ आप निश्चिंत रहे मैं हमेशा आप सभी के साथ हूँ । पूज्य गुरुदेव के चरणकमलों ने भगवती के श्रीचरणों से जोड़ दिया, पूज्य गुरुजी ने जीवन में अनन्त प्रकाश भर दिया पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों का सदैव स्मरण करता रहूँ बस यही कामना है।

(श्रीगरुकृपाभाजन)
रवि शंकर शुक्ल

मुक्तिदा गुरुवागेका

प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

मातङ्गी भुवनेश्वरी च बगला धूमावती भैरवी,
तारा छिन्नशिरोधरा भगवती श्यामा रमा सुन्दरी।
दातुं न प्रभवन्ति वाञ्छितफलं यस्य प्रसादं विना
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थ सिद्धिप्रदम्।।

गुरुवर दत्तात्रेयानन्द नाथ की असीम अनुकम्पा से त्र्यक्षरी से महाषोडशी तक क्रम सहज में उपलब्ध हुआ। उनके करुणा कटाक्ष से यह विद्या शरीर तथा दीक्षा शरीर नित्य द्योतित रहा। गुरु तथा भगवती षोडशी में कोई अन्तर नहीं है। माँ ही गुरु के रूप में मन्त्रोपदेश करती है। मुमुक्षु भवन से यह यात्रा अनवरत चल रही है। श्रीविद्या उपासना के विषय में उत्तर भारत में गुरुजी के अतिरिक्त कोई समर्थ मनीषी नहीं था। काशी में गुरुजी ने अपने जीवन को केवल इस श्रीविद्या की प्रतिष्ठा हेतु ही सर्वथा समर्पित किया है। आज उनके पुत्र श्री प्रकाशानन्द नाथ जी भी सभी पारिवारिक दायित्व को छोड़कर इसी परम्परा के निर्वहन में अहर्निश समर्पित हैं। गुरु के द्वारा प्रवर्तित इस परम्परा को सादर कोटिशः प्रणाम।

तन्त्र कहते हैं—

मुक्तिदा गुरुवागेका सर्वा विद्या विडम्बना।
काष्ठभारसहस्रेषु एकं संजीवनं परम्।।

मानवीय जीवन में गुरु की उपलब्धि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कबीर कहते हैं—

यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खान।
शीश दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।।

वे साधक सौभाग्यशाली हैं जिन्हें गुरुवर के द्वारा श्रीविद्या की दीक्षा प्राप्त हुई है। यह भगवती के साक्षात् स्वरूप की उपलब्धि से कम नहीं है।

पूज्य गुरुजी का कर्तृत्व परिचय

साधक शिरोमणि, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तन्त्रशास्त्र के मनीषी विद्वान् आचार्य श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ (पं. सीताराम कविराज) जी का जन्म विक्रम संवत् 1982 फाल्गुन शुक्ल नवमी (21.2.1926 ई.) को राजस्थान प्रदेश की पवित्र शेखावाटी भूमि फतेहपुर में मारवाड़ी गौड ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

आपके पिता गौरी-दत्त नागौरी प्रसिद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सक थे। आपके वंशज आयुर्वेद की परम्परागत चिकित्सा का कार्य करते थे। आपकी माता श्रीमती मणि देवी एक धर्मनिष्ठ कुशल गृहिणी थी। आपकी प्रारम्भिक

शिक्षा स्थानीय जन्मभूमि फतेहपुर में ही हुई। आपकी बाल्यकाल से ही धर्म एवं अध्यात्म में गहरी रुचि थी। साथ-साथ वंशानुगत आयुर्वेद में भी आप का रूझान रहा है। आपने आयुर्वेद शास्त्र का पारम्परिक अध्ययन अपने पूर्वजों व अन्य चिकित्सकों के अतिरिक्त यशस्वी वैद्य मणिराम जी शर्मा (काश्मीर) से किया।

आपका विवाह विक्रमसंवत् 1996 (रतनगढ़, राजस्थान) में सावित्री देवी के साथ हुआ। आपकी आयुर्वेद के साथ-साथ संस्कृत में भी स्वभावत: गहरी रुचि थी, अत: आयुर्वेद, संस्कृत, धर्म, अध्यात्म का अध्ययन आपका मूल विषय रहा।

आप विवाहोपरान्त सन् 1945 में पश्चिम बंगाल में कलकत्ता आए। अपने गृहस्थधर्म का पालन करते हुए जीवकोपार्जन के रूप में आपने शीघ्र ही परम्परागत आयुर्वेद चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया। उस समय आपको अतिशीघ्र ही शहर के लब्ध प्रतिष्ठितजन की कुशल चिकित्सा से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसी बीच आपकी किसी निजी कार्यवश काशी यात्रा हुई और काशी भ्रमण करने के बीच ही आपने स्वयं यह निर्णय लिया कि शेष जीवन काशी में ही बिताना है, परन्तु साथ में गृहस्थ जीवन का भी दायित्व सामने था। आपकी पत्नी, 4 पुत्र व 2 पुत्रियों की जिम्मेदारी भी थी। धीरे-धीरे समय के साथ आयुर्वेद, धर्म और अध्यात्म जीवन के अभिन्न अंग हो गए। आपका जीवकोपार्जन मात्र जिम्मेदारी निर्वाह तक ही सीमित रहा। आप सेवाभाव से लगे रहे। आपकी दिनचर्या में साधना, धर्म-अध्यात्म, सत्संग के साथ आगम-तन्त्र में भी आपकी गहरी रुचि होने लगी। *श्रीमद्भगवद्गीता* में आपकी आरम्भ से गहरी आस्था थी। आप प्रारम्भ से ही *दुर्गासप्तशती* का नियमित पाठ भी करते थे। समय-समय पर विद्वत्सभाओं में भाग लेते और अपनी अमिट छाप छोड़ते थे। आपकी संस्कृत काव्य में भी गहरी रुचि थी, संस्कृतकविसम्मेलनों में आप प्रमुखता से भाग लेते थे। आपने भक्तिपरक मनोरम पद्यों एवं गीति का निर्माण किया है। समय अपनी गति से आगे बढ़ता गया। उस समय आप पं. सीताराम कविराज (बंगाल में कविराज वैद्यों को कहते है) के नाम से कलकत्ते एवम् आस-पास में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। आगन्तुक रोगियों के रोगों का निदान कर विशुद्ध आयुर्वेदिक औषधियाँ वे स्वयं निर्मित कर रोगियों को देते थे।

साधनाक्रम में आपका प्रथम सुदृढ प्रवेश राजगुरु हरिदत्त जी शास्त्री (देहरादून) द्वारा 1948 ई. श्री भुवनेश्वरी मन्त्र के उपदेश के द्वारा हुआ। राजगुरु जी से आपको एक स्फटिक श्रीयन्त्र भी प्राप्त हुआ। आप पर राजगुरु जी की असीम अनुकम्पा थी और राजगुरु जी के निरन्तर निर्देशन में आपने भुवनेश्वरी साधना में पूर्णता प्राप्त की थी। लम्बे समय तक आपने राजगुरु जी का सान्निध्य प्राप्त किया। राजगुरु जी के जीवन काल में ही आपने साधनाक्रम के विस्तार के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त की, तभी राजगुरु जी ने आशीर्वाद स्वरूप निश्चिन्त रहने का संकेत दिया। आपमें प्रारम्भ से ही श्रीविद्या उपासना क्रम की सम्पूर्णता की जिज्ञासा विद्यमान थी। इसक्रम में आपने अनेक सन्त, महात्माओं, और श्रीक्रम में दीक्षित साधको के निकट में रह कर उनके पूजाक्रमों का सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विधि का अध्ययन किया। तदनन्तर अभिनवशंकर धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज की चरण-शरण प्राप्त हुई और उनकी महती कृपा से श्रीविद्योपासना क्रम में 1963 ई. काशीस्थ नारदघाट पर पूर्णाभिषिक्त हुए।

करपात्र स्वामी जी अक्सर कलकत्ते आते तो आप बराबर उनके सान्निध्य को प्राप्त करते और स्वामी जी की अनुमति एवं प्रेरणा से अपनी श्रीविद्योपासना को सुदृढ़ करते चले गए। आपने श्रीचक्र (श्रीयन्त्र) की महापूजा का पूर्ण प्रायोगिक एवं शास्त्रीय ज्ञान अर्जित किया और प्रति दिन महापूजा करने लगे। धीरे-धीरे इसी बीच आपने अपने महत्त्वपूर्ण पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति कर ली थी और सन् 1983 में काशीवास हेतु

आए और काशी में मुमुक्षुभवन में रहकर श्रीविद्योपासना के शीर्ष पर पहुँचे। उसी समय आपने श्रीविद्याविषयक ग्रन्थों का सम्पादन किया, जिनमें *श्रीविद्यारत्नाकर* तथा *श्रीविद्यावरिवस्या* आदि प्रमुख हैं। *साम्बपञ्चाशिका* तथा *विरूपाक्षपञ्चाशिका* की हिन्दी व्याख्या आपके शास्त्रीय ज्ञान का प्रथम प्रकाशन रहा है।

आगमशास्त्र के प्रचार प्रसार के उद्देश्य तथा श्रीविद्योपासना के सरल एवं प्रायोगिक ज्ञान साधकों को सुलभ कराने के उद्देश्य से ही आपने स्वयं '**श्रीविद्यासाधना पीठ**' की स्थापना की, और श्रीविद्या सम्प्रदाय में साधक-साधिकाओं को दीक्षित कर मार्गदर्शन किया। जिसके परिणामस्वरूप नगवां वाराणसी स्थित पीठ में प्रतिदिन महापूजा, के साथ-साथ नैमित्तिक पर्वों पर विशेष पूजा एवं श्री ललितामहात्रिपुरसुन्दरी परा भट्टारिका राजराजेश्वरी श्री शाङ्करी देवी का ललिता सहस्रनाम से अर्चन, लक्षार्चन एवं कोट्यर्चन (जिसका प्रारम्भ आपने ही किया) जैसे बड़े-बड़े अनुष्ठान सम्पन्न होने लगे। आपने साधना के साथ-साथ अपने शोध एवं लेखन का भी निरन्तर क्रम जारी रखा। आपके द्वारा सम्पादित, मौलिक एवम् अनूदित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में *भक्ति-सुधा, श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीविद्यावरिवस्या, श्रीभुवनेश्वरी-वरिवस्या, श्रीमहागणपति-वरिवस्या, ललिता सहस्रनाम, मन्त्र-महायोग, श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय, श्रीविद्याअष्टाङ्ग (तान्त्रिक पञ्चाग), उपचारमीमांसा, साम्बपञ्चाशिका, विरूपाक्षपञ्चाशिका* एवं *श्रीविद्यार्णवतन्त्र (भाग 1 एवं 2) भावविवृति* (हिन्दी टीका) प्रमुख है। जिनसें साधकगण भरपूर लाभार्जन कर साधना मार्ग में अग्रसर हैं। इनके अतिरिक्त आपने तन्त्र साधना एवं उपासना से सम्बन्धित महत्वपूर्ण लेख लिखे जो कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए है। इनका संग्रह *श्रीविद्या-साधना-मीमांसा* के रूप में प्रकाशित है। साथ ही धर्म, अध्यात्म, तन्त्र, साधना व आगम तन्त्र के शोधार्थियों का मार्ग निर्देशन किया। समय-समय पर आपने तन्त्र आगम वेद, संस्कृत आदि की गोष्ठियाँ आयोजित कर तथा अन्यत्र आयोजित गोष्ठियों में उपस्थित होकर भी अपने चिन्तन से साधकों को लाभान्वित किया।

पुरस्कार एवं सम्मान

आपको आगम तन्त्र के प्रचार-प्रसार-योगदान के लिए सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्र स्वामी) स्मृति पुरस्कार (1 अगस्त, 1992) प्रदान किया गया।

संस्कृत विद्या के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिए राजस्थान संस्कृत अकादमी (जयपुर) द्वारा पञ्चसहस्रमुद्रात्मक पुरस्कार एवं सम्मान (28 मार्च, 1995 में) प्रदान किया।

राष्ट्रिय संस्कृत वर्ष के अन्तर्गत राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली (मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार) के द्वारा सन् 2000 में विशिष्ट विद्वत्सम्मान प्रदान किया गया। साथ ही काशी की पाण्डित्य परम्परा के महानुभावों ने आपका साभार सम्मान किया।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. राममूर्ति शर्मा ने 5.9.2001 को शिक्षक दिवस पर सम्मानित किया।

गुरुवर सीताराम जी कविराज को श्रीरामलक्ष्मीनारायण मारवाड़ी हिन्दू अस्पताल गौदोलिया, वाराणसी ने धनवन्तरि जयन्ती पर आयुर्वेद की अविस्मरणीय सेवाओं के लिए 12 नवम्बर, 2001 को सम्मानित किया।

भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा (सन् 2002 में) संस्कृत वाङ्मय एवं शास्त्र में नैपुण्य हेतु आपको **राष्ट्रपति पुरस्कार** भी प्रदान किया गया। यह सम्मान 6 फरवरी, 2002 में नई दिल्ली में अधिगत हुआ।

जीवन के अशीति वर्ष पूर्ण करने पर आयोजित अमृत महोत्सव में आपका सम्मान काशी के विद्वत्समाज के द्वारा सम्पन्न हुआ। आपको अभिनन्दन पत्र भी प्रदान किया गया।

देश के मूर्धन्य मनीषियों, गणमान्य राजनेताओं, तथा विशिष्ट नागरिकों ने आपका आध्यात्मिक शिष्यत्व ग्रहण किया है। आप द्वारा स्थापित श्रीविद्यासाधनापीठ में निरन्तर श्रीविद्या के क्रियात्मक एवं सैद्धान्तिक- दोनो पक्षों के ज्ञान के साथ वेद एवं संस्कृत वाङ्मय के विविध शास्त्रों में स्नातकों का प्रशिक्षण निरन्तर चल रहा है।

आपकी 80 वर्ष पूर्ति के अवसर पर मार्च, 2006 ई. में आपके शिष्यों द्वारा काशी में द्वादश द्विवसीय अमृतमहोत्सव का आयोजन किया गया। जिसमें प्रतिदिन श्री ललितासहस्रनाम लक्षार्चन एवं विद्वत्सभा, संस्कृतकाव्यगोष्ठियों का आयोजन हुआ।

आपने अनुत्तराम्नाय अधिष्ठात्री शाङ्करी देवी (श्रीक्रम की चरम देवी) की भव्य प्रतिमा नवनिर्मित मंदिर में प्रतिष्ठापित कर साधकों एवं शिष्यों पर महती कृपा की है। आप हमेशा अपने शिष्यों के मार्गदर्शन में सुलभ व सहायक रहे है। आपकी स्वामी करपात्री जी के चरणों में अगाधश्रद्धा रही है। आप निरन्तर स्वामी जी की जयन्ती पर मोदकार्चन तथा लक्षार्चन एवं विद्वद् गोष्ठी आयोजित करते रहे है।

आपने साधकों के उत्साहवर्धन तथा श्रीविद्या के प्रचार-प्रसार हेतु धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री स्मृतिपुरस्कार, श्रीविद्यासाधना पुरस्कार, श्रीविद्यार्चा सम्मान एवं श्रीविद्यासाधक-सम्मान प्रतिवर्ष करपात्री स्वामी की जयन्ती समारोह में प्रदान किया। 30 सितम्बर, 2009 आश्विन शुक्ल एकादशी के दिन आपको काशी में शिवसायुज्य प्राप्त हुआ। जन्मशती पर श्रीगुरु चरणों में कोटिश: प्रणाम।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
(शिवानन्दनाथ पूर्णाभिषिक्त)
55 गोविन्दनगर, वैशाली नगर, जयपुर-302021
चलवाणी- 9413970601
rajendrasharmauniraj@gmail.com

माँ ही संस्कृत है-संस्कृति है

आचार्य गुलाब कोठारी

संस्कृत एक भाषा है—शब्दों का संग्रह रूप है। माया है। सम-कृत यानी कि ब्रह्म का किया हुआ। ब्रह्म के विस्तार में कारक है। सरस्वती है—आग्नेय है। ब्रह्म ने (सोम) अपने विस्तार के लिए ही माया को पैदा किया था क्योंकि विस्तार ही अग्नि का धर्म है। अव्यय पुरुष की कामना से तपन-स्वेदन हुआ। प्राणों का तपन ही अक्षर सृष्टि है। यही आगे चलकर शब्द रूप तन्मात्रा बनता है।

परमेष्ठी मण्डल से सृष्टि का आंरभ होता है। यहाँ भृगु-अंगिरा प्राणों से सोम और अग्नि दो धाराएं निकलती हैं। एक पदार्थ या लक्ष्मी की धारा है, दूसरी ऊर्जा रूप सरस्वती की धारा है। यही शब्द तन्मात्रा का रूप लेती है। स्फोट-स्वर-व्यंजन रूप में शब्द ब्रह्म की सृष्टि उसी प्रकार आगे बढ़ती है, जिस प्रकार परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर रूप में अर्थ ब्रह्म की सृष्टि स्थूल रूप लेती है। यह शब्द सृष्टि ही संस्कृत है। सृष्टि विस्तार के सिद्धान्तों पर आधारित है।

भाषा कोई भी हो, सम्प्रेषण का माध्यम होती है। किन्तु संस्कृत शायद एकमात्र भाषा है, जो अपने आप में विषय है। संस्कृत सरस्वती रूप में अक्षर प्राणों का धरातल है। जबकि लक्ष्मी जड़ रूप क्षर सृष्टि है। सरस्वती और लक्ष्मी दोनों ही वाक् हैं। सरस्वती परा वाक् है, लक्ष्मी अपरा वाक् है। लक्ष्मी की प्रतिष्ठा सरस्वती ही है। कृष्ण गीता के सातवें अध्याय में कहते हैं कि मेरी अष्टधा अपरा प्रकृति है एवं दूसरी परा प्रकृति-चेतना रूप है। यही लक्ष्मी एवं सरस्वती हैं, जिन्हें आधुनिक विज्ञान मैटर और एनर्जी या पदार्थ और ऊर्जा कहता है। दोनों अविनाभूत हैं।

सरस्वती प्राण रूपा है—अदृश्य है, परोक्ष है, सूक्ष्म है। लक्ष्मी जड़ है। शरीर-मन-बुद्धि भी जड़ हैं। तीनों आत्मा के साधन हैं। शरीर 'मां' है, पंचभूतों (महाभूत) से बना है। मां का शरीर ही शिशु का अन्न रूप पदार्थ है, जिसकी चिति से गर्भ में शिशु की देह का निर्माण होता है। पृथ्वी-अन्न-महाभूत सभी तो लक्ष्मी के पर्याय हैं। स्त्री वस्तुत: लक्ष्मी है, सौम्या है, ऋत रूप है। परमेष्ठी लोक की लक्ष्मी ही स्थूल रूप होकर पृथ्वी पर अवतरित होती है। स्त्री ही सूक्ष्म प्राण रूपा सरस्वती भी है। हम जीवात्मा रूप चेतन तत्त्व हैं। कर्म के अनुसार वस्त्र रूपी देह बदलते रहते हैं। किन्तु शरीर के भीतर रहने वाला जीवात्मा नष्ट नहीं होता—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। —*गीता 2.22*

लक्ष्मी पदार्थ रूप है, नष्ट होती जाती है। क्षरण ही इसका पर्याय है। जबकि सरस्वती अर्थात् शब्द आकाश का गुण है। आकाश से ही शेष महाभूत उत्पन्न होते हैं। अत: शब्द-ध्वनि के प्रवाह को अन्य महाभूत रोक नहीं सकते। जैसे प्रकाश को बाधित किया जाता है। जहाँ शब्द है वहाँ ध्वनि भी है। ध्वनि से ही पृथ्वी (पांचवा महाभूत) रूपी देह का मातृगर्भ में निर्माण होता है। चूंकि देह का निर्माण भी मातृ देह से होता है, अत: स्वयं देह ही माता है, लक्ष्मी है। जीवात्मा प्राण रूप है, ध्वनि की भांति ही सूक्ष्म, अदृश्य है। अत: ध्वनि-आग्नेय प्राण- के माध्यम से ही मातृगर्भ में जीवात्मा को संस्कारित किया जाता है। ध्वनि-वाक् की चार अवस्थाएं होती हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण:।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ — *ऋग्वेद 1.164.45*

एक ही नादात्मक वाणी मूलाधार से उदित होकर परा कहलाती है। नाद के सूक्ष्म एवं अरूप होने के कारण योगियों द्वारा देखने योग्य होने से वही वाणी पश्यन्ती कहलाती है। पश्यन्ती ही बुद्धिगत होने पर सूक्ष्म प्राणी जगत् में अनुभूत होकर मध्यमा कहलाती है। मध्यमा ही मुख में स्थित होकर तालु एवं ओष्ठ आदि की क्रिया से मुख से बाहर निकलती है तब उसे वैखरी कहते है। अत: वाक् का स्थूल रूप वैखरी है।

शरीर की तरह ही शब्द भी क्रियात्मक हैं। वैखरी में मन के भावों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। मन में उठने वाली इच्छाओं की अभिव्यक्ति वाक् से होती है। मन और वाक् साथ रहते हैं। अत: जो विषय मन के पार होते हैं, वहाँ शब्दों की पहुंच नहीं है। यही वैखरी की सीमा बन जाती है। मध्यमा भी छूट जाती है। पश्यन्ती का क्षेत्र शुरू हो जाता है। चूंकि वैखरी के भीतर परा, पश्यन्ती और मध्यमा रहती हैं और इनके साथ-साथ भाव भूमि की शक्ति, गति और दिशा होती है, अत: स्पन्दनों का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। जिस प्रकार माया ब्रह्म को गर्भ में लेकर शरीर रूप धारण करती है तथा शरीर अपने आप में जड़ होते हुए भी चैतन्य प्रतीत होता है, इसी तरह वैखरी के गर्भ में परा वाक् को जानना चाहिए। ध्वनि का भावनात्मक-दृश्यात्मक मौन ही पश्यन्ती रूप में जीवात्मा को मानव स्वरूप में परिणत करता है। मां जानती है कि जीवात्मा किस देह को छोड़कर आया है। इसे मानव रूप देना है। मां की दिव्यता भाषा के माध्यम से एवं भावभूमि से ही प्रकट होती है।

जिस प्रकार विश्व (पदार्थ) भाव अर्थवाक् या अर्थब्रह्म है, वैसे ही शब्द वाक्- अंगिरा धारा या सरस्वती प्रधान है। सूर्य सरस्वती मण्डल है, पृथ्वी लक्ष्मी मण्डल है। सूर्य ही जगत् का आत्मा है—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च...। दोनों ही वाक् रूप एक ही साथ रहते हुए, एक ही सिद्धान्त पर कार्य करते हैं। मां

को सिद्धान्त भले ही ज्ञात न हो, मातृ भाषा के आधार पर (प्रत्येक योनि में) भाव रूप शब्द का उपयोग करती है। देह और जीवात्मा एक ही सिद्धान्त पर कार्य करते हैं।

कृष्ण कहते हैं कि मैं अक्षरों में अकार हूं। 'अ' से ही सम्पूर्ण वर्णमाला उत्पन्न होती है। शब्द भी इसी वाक् का रूप है। संस्कृत शब्द भी है, अक्षर भी है, अत: सृष्टि के नियमों पर ही कार्य करती है। जिस प्रकार अर्थ सृष्टि में विकारक्षर, पंचजन, पुरंजन, जाति, गोत्र आदि का विकास होता है, उसी क्रम में 'अ' रूप स्वर से ही 288 प्रकार का उच्चारण किया जाता है। अ, इ, उ, ऋ, लृ रूप पंच स्वरों से सम्पूर्ण संस्कृत भाषा का विकास होता है। क्या संस्कृत भाषा को सम (ब्रह्म) और कृत (कृति) रूप में विश्व का मानचित्र (सिद्धान्तों का) नहीं कहा जा सकता?

पंचपर्वा विश्व में यह वाक् सर्वत्र व्याप्त है। स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी की वाक् को क्रमश: गौरी, आम्भृणी, बृहती, सुब्रह्मण्या और अनुष्टुप् वाक् कहा जाता है। हमारी वर्णमाला अनुष्टुप् वाक् है। इसी से भाषा व्यवहार चलता है। वर्णवाक् के गर्भ में स्वरात्मिका वाक् रहती है। वह बृहती है। इसके गर्भ में सुब्रह्मण्या वाक् तथा इसके भी गर्भ में सर्वाधार बनती हुई आम्भृणी वाक् है।

अ-इ-उ-ऋ-लृ (स्वर) का विकास सूर्य से होता है। क-च-ट-त-प (वर्ण) का विकास पृथ्वी से होता है। स्वरों के आधार के बिना व्यंजनों का उच्चारण संभव नहीं है। स्वरवाक्-बृहती वाक् ही व्यंजन वाक्- अनुष्टुप वाक् की प्रतिष्ठा है। जो कुछ शब्द हमारे मुंह से निकलते हैं, अथवा कान में सुनाई देते हैं, वे सभी हमारे शरीर तन्त्र को भी प्रभावित करते हैं। हमारा शरीर मंत्रों से बना है। भक्ति के स्पन्दन रक्तशोधक का कार्य करते हैं। शरीर को रोगों से मुक्त रखते हैं। अप शब्द सुनना-बोलना रोगकारक है।

'अग्नि-सोमात्मकं जगत्' के अनुसार सभी पदार्थ अग्नि-सोम से उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार स्पर्श (सोम) और उष्मा (अग्नि) से ही सम्पूर्ण वर्णाक्षरों का स्वरूप बनता है। दोनों ही धाराएं समान रूप से साथ चलती हैं। यही कारण है कि शब्द से प्रार्थना-पूजा-यज्ञ-अनुष्ठान का महत्व स्पष्ट हो जाता है। सरस्वती के आधार पर ही लक्ष्मी प्रतिष्ठित रहती है। वाग्देवी सरस्वती मां है, अर्थदेवी लक्ष्मी भी मां है। इन दोनों की धारक-स्त्री- भी मां है। स्त्री की दिव्यता शेष दोनों से ऊपर है। संस्कृत मां है- भाषा ही नहीं जीवन निर्मात्री है।

प्रधान सम्पादक
राजस्थान पत्रिका समूह
केशरगढ़, जयपुर (राजस्थान)
gulabkothari@epatrika.com

उशतीरिव मातरो मा विशन्तु

प्रो. हरीश

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र में त्रिपुरोपनिषद् के आधार पर, श्रीविद्या का ब्रह्माण्ड व पिण्ड के सन्दर्भ में, विलक्षण साम्य व वैज्ञानिक-आधार सचित्र प्रस्तुत किया गया है। प्रमाण-रूप में, ऋग्वेद के नासदीयसूक्त-श्रीसूक्त, *मैत्रेयोपनिषद्-भावनोपनिषद्-योगशिखोपनिषद्, सुभगोदय-स्तुति, भगवत्पाद श्रीमद् आदिशङ्कराचार्य विरचित सौन्दर्यलहरी, श्रीदुर्गासप्तशती-त्रिपुरमहासुन्दरी-ललितासहस्रनाम-षट्चक्र-निरूपणम्*—इत्यादि ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं।

कूट शब्द — *श्रीविद्या, त्रिपुरमहासुन्दरी, त्रिपुरोपनिषद्, अकथचक्र।*

यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो न हि तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।

षोडश-पद्यात्मक-त्रिपुरोपनिषद् ऋग्वेद से सम्बन्धित है। यह *शाक्तोपनिषद्* है व इसमें भगवती त्रिपुरसुन्दरी के महात्म्य का विस्तृत विवेचन व भगवती के गूढ रहस्यों का प्रतिपादन है। *मुक्तिकोपनिषद्* में प्रतिपादित 108 उपनिषदों की सूची में यह 82 वें स्थान पर उल्लिखित है। इस प्रकार, वेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् व परवर्ती ग्रन्थों में शक्ति की उपासना से वैदिक-ज्ञान-परम्परा निरन्तर प्रवाहित होती रही है।

भगवती के अनन्त नाम हैं, जिनमें से मुख्य सहस्रनाम *श्रीललितासहस्रनाम* में प्रतिपादित हैं। भगवती का मन्त्र पञ्चदशाक्षरात्मक होने से इन नामों में भगवती के पन्द्रह अन्य नाम भी महनीय हैं, जो त्रिपुरोपनिषद् में प्रतिपादित हैं—

मदन्तिका मानिनी मङ्गला च सुभगा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती ॥[1]

अद्वैतवेदान्त के प्रवर्त्तक श्रीमत् आदिशङ्कराचार्य को श्रीविद्या की दीक्षा उनके गुरु श्रीगोविन्दपादाचार्य से मिली एवं श्री श्रीगोविन्दपादाचार्य को इस विद्या की दीक्षा उनके गुरु श्री श्रीगौडपादाचार्य से मिली। श्री श्रीगौडपादाचार्य-रचित *सुभगोदयस्तुति* नामक ग्रन्थ, श्रीविद्या का ग्रन्थ है। इसमें सुभगोदय का अर्थ सुभगा

का उदय अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का जागरण किया जा सकता है। श्रीमच्छङ्कराचार्य ने सुभगोदयस्तुति को आधार बनाकर सौन्दर्यलहरी के प्रथम 41 श्लोकों की रचना की है।

मनुष्य-शरीर सात-चक्रों—मूलाधार, स्वधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा व सहस्रार से युक्त है। तीन नाड़ियाँ हैं—पिङ्गला (सूर्य-नाड़ी), इडा (चन्द्र-नाड़ी) व सुषम्ना-नाड़ी। समष्टि का प्रतीक श्रीचक्र नवावरण से युक्त है—1) बिन्दु त्रिकोण, 2) अष्टकोण, 3) अन्तर्दशार, 4) बहिर्दशार, 5) चतुर्दशार, 6) अष्टदल, 7) षोडश दल, 8) वृत्त-त्रय एवं 9) चतुर्द्वारयुक्त भूपुर। शिवाकार-मञ्च (कुण्डलिनी-शक्ति का निलय-स्थान) है—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाऽऽकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कं निलयां भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥[2]

इसमें कुण्डलिनी-शक्ति के निवास-स्थान अथवा गृह का वर्णन किया गया है। सुधा के समुद्र के मध्य, कल्पवृक्षों की वाटिका से घिरे हुए मणिद्वीप में, नीप वृक्षों के उपवन के मध्य, चिन्तामणियों के बने गृह में, त्रिकोणाकृति मञ्च पर, परमशिव के पर्यङ्क पर विराजमान चिदानन्दलहरी स्वरूप का कुछ विरले मनुष्य ही भजन करते हैं, वे धन्य हैं।

शिवाकार-मञ्च (कुण्डलिनी-शक्ति का निलय-स्थान)

इसी शिवाकार-मञ्च का वर्णन त्रिपुरोपनिषद् में इस प्रकार किया गया है—

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणी अत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥[3]

तीन पुर जिसके तीन पथ हैं, विश्व का आकर्षण करके धारण किए हुए हैं, जहाँ अकथ अक्षर सन्निविष्ट हैं, उसकी अधिष्ठात्री देवी अजरा, पुराणी, देवताओं की सबसे बड़ी महिमायुक्त त्रिपुरा है।

यहाँ तीन पुर का तात्पर्य स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से है। तीन पथ का तात्पर्य—ज्ञान, कर्म, उपासनाज्ञान, विज्ञान एवं सम्यक् ज्ञान से है। अकथादि अक्षर से तात्पर्य 'अ' से लेकर 'क्ष' तक अक्षर समूह से है।

वस्तुतः महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना का परिणाम सर्वप्रथम साधक को वाक्-सिद्धि के रूप में प्राप्त होता है, जो अकथ-चक्र अथवा गुरु-चक्र भी कहलाता है। अकथ का अर्थ अकथनीय अथवा अनिर्वचनीय है। यही सम्पूर्ण वर्णमाला है, जो मन्त्रात्मक रूप में परिणत होती है। साधक की सिद्धि की यात्रा का मार्ग यहीं से प्रशस्त होता है। यही शिवाकार-मञ्च है, जहाँ भगवती निवास करती हैं व साधक को अभीष्ट प्रदान करती हैं—

शिवाकार-मञ्च (अकथ अथवा गुरु-चक्र)

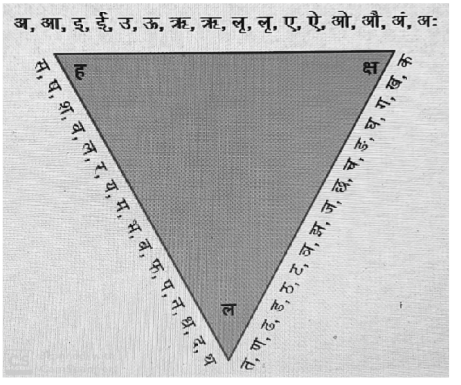

समष्टि का प्रतीक श्रीचक्र

नवयोनीर्नवचक्राणि दधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च।
नवानां चक्रा अधिनाथा स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम् ॥

त्रिपुरोपनिषद् में श्री चक्र की 9 योनि अथवा नौ शक्तियों का वर्णन है, जिन्होंने 9 चक्रों को धारण किया हुआ है, 9 ही योग हैं और 9 योगिनियाँ हैं। वे चक्रों की अधिनाथा हैं, जिनकी किरणें 9 भद्रा और 9 मुद्रा हैं—

नवयोनि—श्री चक्र यन्त्र में बनाई जाने वाली नौ योनियाँ (महात्रिपुर सुन्दरी आदि महाशक्तियाँ)।

नवचक्र—सर्वानन्दमय, सर्वसिद्धिप्रद, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वार्थसाधक, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वसङ्क्षोभण, सर्वाशापरिपूरक एवं त्रैलोक्य-मोहन-चक्र।

नवचक्रो की आधार शक्तियाँ—महात्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुराम्बा, त्रिपुरसिद्धा, त्रिपुरमालिनी, त्रिपुराश्री, त्रिपुरवासिनी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरेशी एवं त्रिपुरा।

नवयोग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि और सहज योग।

नवयोगिनियाँ—नवचक्रों में निवास करने वाली नौ शक्तियाँ।

नवमुद्रा—योनि, बीज, खेचरी, महांकुश, महोन्मादिनी, सर्ववशंकरी, सर्वाकर्षिणी, सर्वविद्राविणी एवं सर्वसंक्षोभिणी मुद्राएँ।

नवभद्रा—कामेश्वरी आदि नवशक्तियाँ ही नव भद्राएँ हैं।

भगवत्पाद श्री आदिशङ्कराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में ब्रह्माण्ड व पिण्ड दोनों के प्रतीक श्रीचक्र की रचना का वर्णन किया है—

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्च त्रिवलयत्रिरेखाभिः सार्धं तव शरणकोणाः परिणताः ॥[5]

इसमें चार शिव-त्रिकोण व पाँच शक्ति-त्रिकोण से युक्त हो 43 त्रिकोण बनते हैं, जो शम्भु के बिन्दुस्थान से भिन्न हैं। ये तीन वृत्तों व तीन रेखाओं सहित अष्ट व षोडश-दल युक्त है। इसी को *त्रिपुरोपनिषद्* में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

एका स आसीत्प्रथमा सा नवासीदासोनविंशादासोनत्रिंशात्।
चत्वारिंशादथ तिस्रः समिधा उशतीरिव मातरो माऽऽविशन्तु ॥[6]

आदिरूप में वह एक थी, पुनः (अष्टार सहित) 9 हो गई, (अन्तर्दशार सहित) 19 हुई, (बहिर्दशार सहित) 29 हुई एवं (चतुर्दशार सहित) 43 हुई। ये सब प्रज्ज्वलित कान्तियुक्त समिधा सदृश तेजोमयी माताएँ (ब्रह्मपद प्राप्ति की कामना वाले) मुझ साधक के अन्त:करण में प्रविष्ट हों।

भद्रा आदिरूप में एक, उन्नीस तत्त्व समूह रूप में, चालीस शक्तियों के रूप में तथा तीन समिधा के रूप में अपनी सन्तानों के लिए कल्याण कामना करने वाली माता के समान (ब्रह्मपद प्राप्ति की कामना वाले) मुझ साधक के अन्त:करण में प्रविष्ट हों।

19 तत्त्व = 5 ज्ञानेन्द्रियाँ + 5 कर्मेन्द्रियाँ + 5 प्राण + 4 अन्त:करण।

29 तत्त्व = 19 तत्त्व + 5 विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध,) + 5 उपप्राण।

40 शक्तियाँ = 14 अन्तः-बाह्य इन्द्रियों के अधिपति + 3 कर्म (तूल, मूल, अविद्याजन्य) + 4 गुण (विक्षेप, आवरण, मुदिता, करुणा) = 21 तत्त्व + विश्व, विश्वादि, तुर्य, प्राज्ञ आदि भेद से युक्त तीन समिधा = क्रिया, ज्ञान, इच्छात्मक तथा ज्ञान, विज्ञान तथा सम्यक् ज्ञान = 43 तत्त्व।

श्रीचक्र (समष्टि) एवं सप्त-चक्र (व्यष्टि) समन्वय

1. त्रिकोण – मूलाधार-चक्र
2. अष्टकोण – स्वधिष्ठान-चक्र
3. प्रथम-दशार – मणिपूर-चक्र

4. द्वितीय-दशार – अनाहत-चक्र
5. चतुर्दशार – विशुद्धि-चक्र
6. शिवचक्र-चतुष्टय – आज्ञा-चक्र
7. चतुरस्र-चक्र – सहस्रार-चक्र

मनुष्य देह (व्यष्टि) में, जिस प्रकार, कुण्डलिनी-शक्ति-जागृत कर, मूलाधार-स्वधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञा-चक्रों का वेधन कर, सहस्रार-चक्र तक पहुँचा जाता है, ठीक उसी प्रकार, श्रीचक्र के परिप्रेक्ष्य में ज्ञातव्य है। श्रीचक्र समष्टि का प्रतीक है, जो नवावरण से युक्त है—

1) बिन्दु त्रिकोण, 2) अष्टकोण, 3) अन्तर्दशार, 4) बहिर्दशार, 5) चतुर्दशार, 6) अष्टदल, 7) षोडश दल, 8) वृत्त-त्रय एवं 9) चतुर्द्वारयुक्त भूपुर। इनके भेदन के उपरान्त ही शिव-शक्ति के मिलन के प्रतीक मेरु, तक पहुँचा जा सकता है।

कुण्डलिनी-शक्ति का षटचक्र-वेध पूर्वक आरोहण

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ॥[7]

इसमें कुण्डलिनी-शक्ति का षटचक्र-वेध पूर्वक आरोहण वताया गया है। पृथिवी तत्त्व को मूलाधार में और जल को भी मूलाधार में ही, मणिपूर में अग्नितत्त्व को जिसकी स्थिति स्वाधिष्ठान में है, हृदय में वायु तत्त्व को और विशुद्ध चक्र में आकाशतत्त्व को एवं मन को भी भ्रूमध्य में — इस प्रकार सकल कुल-पथ (शक्ति के मार्ग) का वेध कर कुण्डलिनी-शक्ति अपने स्वामी के साथ एकान्त में विहार करती है।

कुण्डलिनी-शक्ति का षटचक्र-वेध पूर्वक अवरोहण

सुधाधाराऽऽसारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नाय महसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजनिभमध्युष्टवलयं स्वामात्मानं स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी ॥[8]

इसमें कुण्डलिनी-शक्ति का पुनः अवरोहण वताया गया है। अमृत धाराओं की वर्षा से, जो भगवती के चरण-युगलों के मध्य से टपकती है, प्रपञ्च को सींचती हुई, फिर छहों आम्नायों से होती हुई अथवा छहों चक्रों द्वारा सींचती हुई, अपनी भूमि पर उतर कर अपने आप को सर्पिणी के सदृश, साढ़े तीन कुण्डल डालकर, हे कुहरिणी आप कुलकुण्ड में शयन करती हैं।

उपसंहार

श्रीविद्या का स्थूलशरीर एवं महात्रिपुरसुन्दरी का निवास-स्थान श्रीचक्र ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। **यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे** इस उक्ति के आधार पर मानवदेह भी श्रीचक्र ही है। जैसे देवालय में शिव का व श्रीचक्र में श्रीदेवी का पूजन होता है, उसी प्रकार, मनुष्य का देह भी देवालय है, जिसमें जीवात्मा ही साक्षात् शिव है—

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहम्भावेन पूजयेत् ॥[9]

अतः अज्ञान निर्माल्य की भाँति त्याज्य है, सोऽहं शिवः ऐसी भावना से देहालय देवालय के समान पूजनीय है। जीवो ब्रह्मैव नापरः यही ज्ञान है। मन को विषयों से पृथक् करना ही ध्यान है। मन का मल-प्रक्षालन ही स्नान है और इन्द्रियसंयम ही पवित्रता है—

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः। स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥[10]

अस्तु, प्रस्तुत शोध-पत्र में, त्रिपुरोपनिषद् के आधार पर, ऋषि की कामना है कि आदिरूप में एक से 43 हुई भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपर्युक्त 43 त्रिकोणों की प्रज्वलित कान्तियुक्त समिधा सदृश तेजोमयी माताएँ, ब्रह्मपद प्राप्ति की कामना वाले साधक के अन्तःकरण में प्रविष्ट हों—**उशतीरिव मातरो माऽऽविशन्तु।**

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

श्रीमद्-आदिशङ्कराचार्यविरचित *परापूजास्तोत्र.* गीताप्रेस, गोरखपुर.

त्रिपुरोपनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर.

मैत्रेयोपनिषद्- गीता प्रेस, गोरखपुर.

सौन्दर्यलहरी – (श्रीमत् शङ्करभगवत्पाद-विरचित) (टीकाकार) स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज, योगश्रीपीठ, मुनिकीरेती, ऋषिकेश, टिहरी गढ़वाल, उत्तर प्रदेश, 1997.

भावनोपनिषद्- गीता प्रेस, गोरखपुर.

श्रीसुभगोदयस्तुति – (श्रीश्रीगौडपादाचार्यविरचित) – (प्रधान-सम्पादक) डॉ. मण्डनमिश्र, (सम्पादक) डॉ. रुद्रदेवत्रिपाठी, श्रीलालबहादुरशास्त्री-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ, शहीदजीतसिंह मार्ग, कटवारिया सराय, नई दिल्ली, 1982.

सन्दर्भ

1. *त्रिपुरोपनिषद्* – 6.
2. *सौन्दर्यलहरी* – 8.
3. *त्रिपुरोपनिषद्* – 1
4. *त्रिपुरोपनिषद्* - 2
5. *सौन्दर्यलहरी* – 11
6. *त्रिपुरोपनिषद्* - 3
7. *सौन्दर्यलहरी* – 9
8. *सौन्दर्यलहरी* – 10
9. *मैत्रेयोपनिषद्* – 2.1
10. *मैत्रेयोपनिषद्* – 2.2

Kirori Mal College, University of Delhi, Delhi.
Email :harishkmcdu@gmail.com
Mobile : 9971570612, 8368612488.
Res. Address : C4-A/60-A, Janak Puri,
New Delhi – 110 058

मन्त्रसिद्धि की चाभी

डॉ. हर्षदेव माधव [प्रकाशानन्दनाथ-महानित्याम्बा]

रुद्रयामलतन्त्रोक्त शिव-पार्वती संवाद से प्रसूत 'सिद्धकुञ्जिका स्तोत्र' मन्त्रसिद्धि की चाभी माना जाता है। अनेक महापुरुषों ने उस पर गहरा चिंतन किया है। यहाँ चाभी पाने का तान्त्रिक चिन्तन प्रस्तुत है।

सिद्धकुञ्जिका स्तोत्र का प्रारम्भ 'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि' से होता है। यह वाक्य तान्त्रिक वाङ्मय में अनेक जगह कहा गया है। जैसा कि—

अथान्यत् सम्प्रक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम्। (*कामधेनुतन्त्र*-1-2)
अथातः संप्रक्ष्यामि भूतिनीसिद्धिसाधनम्। (*भूतडामरतन्त्र*-द्वितीयपटल)
अस्य मन्त्रं प्रवक्ष्यामि देवानामपि दुर्लभम्। (*अन्नदाकल्पतन्त्र*-संदर्भ *भैरवतन्त्रसिद्धि* से)
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि भैरवस्य महात्मनः।
आपद् उद्धारणस्येदं नामाष्टशतमुत्तमम्।। (भैरवतन्त्रसिद्धि पृ. 79)

महादेवजी 'शृणु' कब कहते होगे ?

प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा के बिना दक्षिणामूर्ति भगवान बोलने की बात ही न करे इसलिए यहाँ 'देवी' के प्रश्न की कल्पना की जा सकती है। पूछने वाली व्यक्ति कौन है ? '*ललितासहस्रनाम*' में उसका जवाब है— (1) चितिस्तत्पदलक्ष्यार्था (2) चिदेकरसरूपिणी (3) विज्ञानघनरूपिणी (4) शिवा ज्ञानप्रदायिनी (5) ज्ञान-ज्ञातृ-ज्ञेयरूपा (6) शिवाशिवशक्त्यैकरूपिणी (7) लोकानुग्रहकारिणी

शिवा शिव से अभिन्न चिति शक्ति—चिदानन्दमयी है। लेकिन लोकों पर अनुग्रह करने की इच्छा से वह प्रश्न करती है।

प्रश्न कैसे पूछती है ?

कैलासशिखरासीनं भैरवं कालसंज्ञितम्।
प्रोवाच सादरं देवी तस्य वक्षः समाश्रिता।। (*बृहन्नीलतन्त्रम्*-1-1)
प्रसादं कुरु मे नाथ ! निःशेषं छिन्धि संशयम्।। (*विज्ञानभैरव*-7)
यदि तत्त्वं महादेव न कथयसि प्रभो।
प्राणत्यागं करिष्यामि पुरतस्ते न संशयः।। (*निर्वाणतन्त्रम्*-11-6)

शृणु नाथ ! परानन्दपरापरकुलात्मक।
त्वां विना त्राणकर्ता च मम ज्ञाने न वर्तते।। (*मातृकाभेदतन्त्रम्*-8-1)
तत्त्वं रूपं महादेव कथयस्व दयानिधे।
कृपया कथयेशान यद्यहं तव वल्लभा।। (*कामधेनुतन्त्रम्*-1-2)

देव्यथर्वशीर्ष में कहा गया है कि—

मन्त्राणां मातृकादेवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
शब्दानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी।
यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।।

दुर्गा देवी मंत्रो में मातृका स्वरूप हैं। मातृका के अक्षरों से बनते शब्दों में अर्थात् मन्त्रों में ज्ञानस्वरूप हैं। ज्ञान में चिन्मय से भी अतीत है। अतः जब तक दुर्गादेवी की मातृका का पता नहीं चलेगा, तब तक मन्त्रसिद्धि होना संभव नहीं हैं। सिद्धकुञ्जिका स्तोत्र का पाठ करोड़ो लोग करते हैं, अनेक विद्वानों ने उस पर व्याख्यान भी दिये हैं, लेकिन किसी को 'दुर्गामातृका' के रहस्य की जानकारी या ज्ञान प्राप्त नहीं है।

संस्कृत में अनेक प्रकार की मातृकायें थी। ब्रह्ममातृका, अक्षमातृका (कुमारक्रम सिद्धा मातृका), रुद्रमातृका, भूतमातृका, यवन मातृका। यहाँ माहेश्वरसूत्र के नाम से प्रसिद्ध व्याकरण की मातृका, मालिनीविजयोत्तरतन्त्र की मन्त्रस्वरूप मातृका और 'सिद्धकुञ्जिकास्तोत्रम्' में गोपित दुर्गामातृका की चर्चा करेंगे।

'माहेश्वरसूत्रम्' की मातृका

अ इ उ ण्। ऋ ऌ क्। ए ओ ङ्। ऐ औ च्। ह य व र ट्। ल ण्। ञ् म ङ् ण न म्। झ भ ञ्। घ ढ ध ष्। ज ब ग ड द श्। ख फ छ ठ थ च ट त व्। क प य्। श ष स र्। ह ल्।

'माहेश्वरसूत्र' की मातृका के बारे में मैंने पहले चर्चा की है और 'भूतमातृका' और 'माहेश्वरसूत्र' की चर्चा करते हुए मैंने 'माहेश्वरसूत्रों का तत्त्वज्ञान' लेख लिखा है। अतः यहा उसका पुनरावर्तन छोड़ देता हूँ।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र की मातृका

न ऋ ॠ ऌ ॡ थ च ध ई ण उ ऊ ब क ख ग घ ङ् इ अ व भ य ड ढ ठ झ ज र ट प छ ल आ स अः ह ष क्ष म श अं त ए ऐ ओ औ द फ।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में उनचास वर्ण है। इस तन्त्र का क्रम अलग है। यहा मातृका 'न' से शुरु होकर 'फ' तक क्रमबद्ध है और उसका क्रम तन्त्र के क्रियाकलाप के अनुसार है।

भूतमातृका, माहेश्वरमातृका या श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में प्राप्त मातृका मंत्रसिद्धि के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। इसलिए दुर्गा के मन्त्रो की सिद्धि के लिएअलग मातृका हो सकती है। यह मातृका कौन सी है यह हमें ढूंढना पडेगा।

कुञ्जिकास्तोत्र में संकेत में 'दुर्गामातृका' निरूपित है। यह मन्त्र इस प्रकार है—
अं कं चं टं तं पं यं शं वीं दुं ऐं वीं हं क्षं धिजाग्रं धिजाग्रं त्रोटय त्रोटय दीप्तं कुरु कुरु स्वाहा।

अब दुर्गामातृका के स्वरूप का विस्तार करते हैं—

दुर्गामातृका

अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः = 16 स्वर
कं – कण्ठ्य—कं खं गं धं ङं – 5
चं – तालव्य – चं छं जं झं ञं– 5
टं – मूर्धन्य – टं ठं डं ढं णं – 5
तं – दन्त्य – तं थं दं धं नं – 5
पं – औष्ठ्य – पं फं बं भं मं – 5
यं – अर्धस्वर – यं रं लं वं – 4
शं – ऊष्माक्षर – शं षं सं – 3 = 32 व्यंजन
16 स्वर + 32 व्यंजन= 48 वर्ण
वीं दुं ऐं वीं हं क्षं = 6 बीजाक्षर

इस तरह दुर्गामातृका 54 अक्षरों की बनती है। इस मातृका के वर्णों को अनुस्वार और विसर्ग के साथ पढने से 108 वर्णों की माला बन जाएगी। दुर्गामातृका का अनुलोम और विलोम जप करने से शीघ्रता से मातृका सिद्ध होगी।

अब तक अनेक विद्वानों ने कुञ्जिकास्तोत्र पर चिंतन किया है लेकिन अभी तक यह मातृका के रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ है। भगवती की अनुकंपा और गुरुकृपा से आज दुर्गामातृका का उद्धार हो सका है।

दुर्गामातृका के वर्णबीज के रहस्य

'अक्षमालिका उपनिषद्' के आधार पर इस मातृका के वर्ण रहस्य को समझने की कोशिश करते है।

अं– मृत्युंजय, सर्वव्यापक
आं–आकर्षणात्मक, सर्वगत
इं–पुष्टि करनेवाला, क्षोभकर
ईं–वाणी की सिद्धि देनेवाला
उं–सर्वबलप्रद, अधिक सारवाला
ऊं–उच्चाटनकरनेवाला (स्थान भ्रष्ट करनेवाला)
ऋं–सर्व संक्षोभण करनेवाला
ॠं–संमोहन करनेवाला

लृं–विद्वेषणबीज, मोहक
लॄ–मोहक
एं–सर्ववश्यकर
ऐं–शुद्ध, सात्त्विक, पुरुषवश्यकर
ओं–सर्ववाणी स्वरूप, नित्यशुद्ध
औं–सर्वमांगलमयरूप, वश्यकर, शांत
अं–हाथी को वश करनेवाला, मोहन
अः–मृत्युनाशकर, रौद्र, अमृतबीज
कं–विषबीज (सर्व विष को हरण करनेवाला), कल्याणप्रद
खं–सर्वक्षोभकर, व्यापक
गं–सर्व विघ्नों का शमन करनेवाला
घं–सौभाग्यप्रद, स्तंभनकर, मारणबीज
ङं–सर्वविषनाशक
चं–अभिचार कर्मो को नाश करनेवाला, क्रुर
छं–भूत के भय को नाश करनेवाला, भीषण, चन्द्रबीज
जं–कृत्या आदि को नाश करनेवाला, दुर्धर्ष
झं–भूत के भय को नाश करनेवाला, चन्द्रबीज, राजा को वश करनेवाला
ञं–मृत्यु के भय को नाश करनेवाला, मोहनबीज
टं–सर्वव्याधिनाशक
ठं–चन्द्रबीज
डं–गरुडबीज
ढं–कुबेरबीज, सर्व संपत्ति देनेवाला
णं–सर्वसिद्धिप्रद, मोहन करनेवाला, असुरबीज
तं–धन-धान्य आदि देनेवाला, प्रसन्न, अष्टसिद्धिप्रद
थं–धर्मप्राप्तिकर, निर्मल, मृत्युभयनाशक
दं–दुर्गाबीज, पुष्टि और वृद्धि करनेवाला, प्रियदर्शन
धं–विष के ज्वर को नाश करनेवाला, सूर्यबीज
नं–भुक्ति-मुक्तिप्रद, शांत, ज्वरनाशक
पं–विष-विघ्ननाशक, वीरभद्रबीज
फं–अष्टसिद्धिप्रद, ज्योतिरूप, विष्णुबीज
बं–ब्रह्मबीज, वात-पित्त-कफ नाशक
भं–भद्रकालीबीज, भूत को शांत करनेवाला, भयानक, सर्वव्यापक
मं–स्तंभन, मोहन, विद्वेषणबीज, भूतप्रेतनाशक
यं –वायुबीज, सर्वव्यापक, पवित्र

रं –अग्निबीज, दाहक, उग्र कर्म करनेवाला
लं–विश्वंभर, धनधान्यसमृद्धि देनेवाला, इन्द्रबीज, लक्ष्मीबीज, पृथ्वीबीज
वं–वरुणबीज, अमृतबीज
शं –सर्वफलप्रद, लक्ष्मीबीज, पवित्र
षं –सूर्यबीज, धर्म-अर्थ-काम सिद्ध करनेवाला, धवल
सं –सर्वकारणरूप, वाग्बीज, मृत्युञ्जयबीज
वीं–अमृतबीज + आकर्षण
दुं–दुर्गाबीज
ऐं–वाग्बीज, कुंडलिनीबीज
वीं–उपर निर्देश के अनुसार
हं–शिवबीज, सूर्यबीज
क्षं–नृसिंहबीज, परापरतत्त्व-व्यापक-परमज्योतिस्वरूप

अब 'बीजमन्त्रों' के बारे में जरा समझने की कोशिश करें –

बीजैः स्वरैः। बीज अर्थात् स्वर।
कूटैः पिण्डपदादिभिः। कूट अर्थात् अनेक पिंडवाले कूट बीज है।
बीजैः कुटैस्तथा पिण्डैर्मालामन्त्रैरशेषतः।
वाच्यवाचकभेदेन सर्वसिद्धिफलप्रदाः।। (*नेत्रतन्त्र*-16-7)
सिद्धकुञ्जिका स्तोत्र मालामन्त्र है और उसमें अनेक पिंडमन्त्र हैं, जैसा कि क्रां=क्+र्+आ+म्।

अब लघुस्तव का यह श्लोक मननीय है—

आईपल्लवितैः परस्परयुतैर्द्वित्रिक्रमाद्यक्षरैः
काद्यैः क्षान्तगतैः स्वरादिभिरथ क्षान्तैश्च तैः सस्वरैः।
नामानि त्रिपुरे ! भवन्ति खलु यान्यन्तगुह्यानि ते
तेभ्यो भैरवपत्नि ! विंशतिसहस्रेभ्यः परेभ्यो नमः।। (*लघुस्तव*-19)

अर्थात् व्यंजनों के परस्पर जूड़ने से बीस हजार से अधिक योगिनीओं के मन्त्र बनते हैं। अं आई आं आई..... अकाई अखाई अगाई..... आकाई आखाई आगाई..... आदि बीजाक्षरमन्त्र ही है।

वर्णमाला का विस्तार

'अ' में से सोलह स्वर उत्पन्न हुए हैं। ऐसा 'नन्दिकेश्वरकाशिका' में निरूपण है। अब सोलह स्वरों का व्यंजनों के साथ संयोग होने से वर्णमाला का विस्तार होता है। इस तरह कं कां किं कीं कुं कूं क्रुं क्रूं क्लं क्लृं कें कैं कों कौं कं कः वर्ण विस्तार होगा या कः काः किः कीः..... इस तरह शक्ति-शिव के संयोग से मातृका का दिव्य रूप प्रगट होगा।व्यंजनों के व्यंजनों के साथ और व्यंजनों का स्वर के साथ संयोग होने से असंख्य 'पिण्ड' मन्त्र बनेंगे, जिनका उच्चारण शरीर में शक्ति-ऊर्जा का संचार करता है।

इस तरह—हस्रैं, हस्रीं, ह्क्रीं, हस्रौः, हस्रौं, क्ष्म्रौं, श्रीं, हस् क्रीं, ह् स् क् ल् ह्रीं, हस् व्यूं आदि कूटबीज मन्त्र बनते हैं।इसका विस्तार सुनील कुमार उपाध्यायजी द्वारा संपादित 'श्रीदुर्गासप्तशती' में है।

'दुर्गामातृका' को सिद्ध करने के उपाय

'ऐं ह्रीं क्रीं' बीजमंत्रो के साथ मातृका की सो माला करनी चाहिए।
दुर्गामातृका को शिवमंदिर, नदी-तट पर बरगद, बिल्व या आम्रवृक्ष के नीचे बैठकर पाठ करना चाहिए।
काम्य कर्मों के लिए अनुलोम क्रम से विसर्ग लगाकर पाठ करना चाहिए।
शांति, पुष्टि, आध्यात्मिक प्रगति के लिए विलोम क्रम से अनुस्वार के साथ पाठ करना चाहिए।

कुण्डलिनी जागरण के लिए ऐं अं सौः, ऐं आं सौः पाठ करना चाहिए। ऐं कुण्डलिनी का बीज है। सौः पराशक्ति बीज है। लघुस्तव में यह निर्देश है।

श्मशान में, एकान्त जगह में या निर्जन कमरे में मातृका पाठ अधिक लाभप्रद है।

श्मशाने बिल्वमूले वा वटमूलान्तिके तथा।
सिद्ध्यन्ति कानने मूले चूतवृक्षस्य सन्निधौ।।

'उदुम्बर' वृक्ष के नीचे साधना भी प्रशस्त है।

'सिद्धकुञ्जिका स्तोत्र' में दुं ऐं वीं हं क्षं बीज मन्त्र सूचित है। क्षं बीज अन्त में लगाना चाहिए। क्षं नृसिंहबीज और प्रत्यङ्गिरा बीज है।

सदियों से सिद्धकुञ्जिका स्तोत्र के सहस्य को उद्घाटित करने की कोशिश होती रही है। भगवती की अपार अनुकंपा से और असीम गुरुकृपा से यहाँ नम्र प्रयत्न है।

संदर्भ :

1. चंद्रकांत जानी – *मातृकारहस्य*, आनंदधाम, कडी, गुजरात, 2008.
2. *108 उपनिषद्*, साधनाखण्ड, संपादक श्रीरामशर्मा आचार्य-माता भगवती शर्मा, शांतिकुन्ज, हरिद्वार, 1999.
3. *शारदातिलक तन्त्र*, प्रथमभाग, सं. सुधाकर मालविय, चौखम्बा.
4. *श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्*, सं. पं. मधुसूदन कौलशास्त्री, बुटाला एन्ड कम्पनी, दिल्ली, 1984.
5. '*नेत्रतन्त्रम्*' मृत्युञ्जय भट्टाकर, परिमलपब्लिकेशन, दिल्ली.
6. '*मन्त्रनां रहस्यो*, मन्त्रोद्धार अने यन्त्रसिद्धिओ', हर्षदेव माधव, पार्श्व पब्लिकेशन, 2010.
7. '*लघुस्तवनां मन्त्ररहस्यो*', हर्षदेव माधव, परिमल पब्लिकेशन, 2025.
8. '*श्रीदुर्गाशप्तशती*', सुनील कुमार उपाध्याय, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2013.
9. 'ज्ञाननुं सायबर काफे : *वेदमन्त्रो*', हर्षदेव माधव, खुश्बु प्रकाशन, अमदावाद, 2019, पृ. 128-147

8, राजतिलक बंगलो,
आबादनगर बसस्टॉप के पास,
बोपल, अहमदाबाद-380058
मो. 7874532225

त्रिकागमे शून्यस्य पारमार्थिकस्वरूपविमर्शः

हरिप्रिया तिरुनगरि

शोधसारः

विश्वे भारतीयदर्शनेषु च शून्यस्य अनेके अर्थाः विचार्यन्ते। विश्वे तु शून्यमिति संख्यात्वेन अभावविशिष्टतया रिक्तता इत्यादि अर्थेषु प्रतिपाद्यते। परन्तु भारतीयदर्शनेषु मुख्यतया तत् शून्यमेव परमतत्त्वमिति बौद्धशून्यवादिनः प्रतिपादयन्ति। तेषां मते शून्यं नाम निःस्वभावता, ब्रह्माण्डेऽस्मिन् कस्यापि तत्त्वस्य स्वस्वभावः नास्ति, सर्वधर्माणां शून्यमेव स्वस्वभावः परमतत्त्वमिति। त्रिकागमेषु शून्यस्य पृथक् व्याख्या दृष्टिपथम् आयाति। अत्र तु अशून्यम् एव शून्यम् यत् अभावः इत्यपि कथ्यते। यत्र सर्वेषां प्रमेयभावानां क्षयः जायते सः अभावः शून्यपदेन उच्यते। कुत्रचित् मायामहामाये अपि शून्य-महाशून्यपदेन उच्येते। अतएव मायास्तरीयः प्रलयाकलप्रमाता यः प्रलयकेवली, शून्यप्रमाता अपि अभिधीयते। त्रिकागमेषु विशेषतः *स्वच्छन्दतन्त्रे, विज्ञानभैरवे, तन्त्रालोके स्पन्दशास्त्रे* पारमार्थिकस्वरूपेण शून्य-शून्याशून्य-शून्यातीतपदैःतस्य अद्वयचिद्रूपस्य परमशिवस्य परिशीलनं दृश्यते यतोहि सर्वे भावाः तस्मिन्नेव लीयन्ते क्षीयन्ते च।

शोधपत्रस्यास्य मुख्योद्देश्यः त्रिकागमेषु प्रतिपादितशून्यस्य पारमार्थिकस्वरूपस्य विश्लेषणम्। यतो हि अत्र शून्यरूपपरभैरवसमापत्त्यर्थं "षट्त्यागात्सप्तमे लयः" इति प्राणस्य शून्यस्य च त्यागविधिः निर्दिष्टः। प्राणस्य कुण्डलिन्याः सुषुम्नानाड्या ऊर्ध्वगमनक्रमे क्षेपः, आक्रान्तिः, चिदुद्बोधः, स्थापनम्, दीपनम्, तत्समापत्तिः इति षट् क्रियाः शून्यपदेन अभिहिताः यतोहि समनायां तत्समापत्तिरूपावस्थायां एतासां क्रियाणां समाप्तिः भवति। अधस्तात् ऊर्ध्वगमनविज्ञानक्रमे कारणत्यागविधौ अपि अकारात् उन्मनान्तं ततः परभैरवप्राप्तिपर्यन्तेषु अवस्थासु नाद-नादान्त-बिन्दु-शक्ति-व्यापिनी-समना-उन्मना इति षट्सूक्ष्मावस्थाः शून्यस्य क्रमविकासेन अभिहिताः एवमेव मूलाधारचक्रात् अथवा अनाहतचक्रात् उन्मनाचक्रपर्यन्तमपि शून्यावस्थाः इत्येव प्रतिपाद्यन्ते। एकैकस्य चक्रस्य परित्यागेन अन्ते भावानां क्षयः परिपूर्णतामधिगच्छति परभैरवसमापत्तिश्च जायते। इमे क्षेपैत्यादि षट्, प्राणत्यागे नादनादान्तादि षट् अर्थात् कारणत्यागे ऊर्ध्व-मध्य-अधःशून्यात् व्यापिनी-समना-उन्मनापर्यन्तं षट् शून्यषट्कम् इति कथ्यते एतेषां त्यागादेव शून्यमिति नाम यतो हि परित्यागानन्तरं तस्मिन् स्थले किमपि शेषं न भवति अतः अशेषरूपेण सर्वभावक्षयः एव शून्यम्।ततः सप्तमे लयः इति सप्तमशून्यावस्था परभावः परभैरवसमापत्तिः तस्मिन्नेव सर्वे लीयन्ते। *विज्ञानभैरवे* शून्यतायाः ध्यानं त्यागविधिः सम्यक्तया प्रतिपादितः। शोधपत्रस्यास्य अयमेवाशयः यत् शून्यशब्दः त्रिकागमेषु अभावार्थे प्रयुक्तः उत शून्यवादिनां माध्यमिकानामिव निःस्वाभावार्थे वा अन्यच्च अभावार्थः चेत् अभावस्य कः अर्थः विचारितः इति परिशीलनम्। शोधपत्रेऽस्मिन् अस्य शून्यपदस्य विश्लेषणात्मक-विमर्शात्मकमध्ययनं क्रियते। तस्य पदस्य

पारमार्थिकस्वरूपविषये विचार्यते। शून्यस्य आगमिक-पारिभाषिकव्युत्पत्त्या आरभ्य योगयात्राप्रयोगविधिपर्यन्तं विकासक्रमः निरूपितः। शून्यम्, महाशून्यम्, ऊर्ध्वशून्यम्, मध्यशून्यम्, अधःशून्यम्, परशून्यम्, अशून्यम्, अनुत्तरशून्यम्, शून्यातिशून्यम्, परमशून्यम्, शून्याशून्यमित्यादयः शब्दाः अत्र सम्यक्तया विचारिताः कथं इमे भावव्यवच्छेदक्रमेण परिशुद्धचैतन्ये परभैरवे प्रवेशयन्तीति प्रतिपादितम्। अन्ते निष्कर्षरूपेण उच्यते त्रिकागमेषु परभैरवः एव पारमार्थिकशून्यत्वेन अवभासते यत्र सर्वे भावाः सर्वे वासनाः, सर्वे विकल्पाः क्षयं यान्ति यत्र साधकः परशिवे लयं गत्वा मोक्षमाप्नोति। अत्र त्रिकागमे शून्यं न किञ्चिदभावः, न लौकिकार्थे रिक्तता अपि तु पूर्णस्वतन्त्रस्वप्रकाशचैतन्यस्य स्वरूपमिति निरूप्यते। शून्यं मार्गः, शून्यं साधनम्, तथा च शून्यमेव साध्यमिति त्रिकागमानां अद्वयचिदानन्दस्य रहस्यम्। एवं शैवागमिकवाङ्मये शून्यतत्त्वस्य गूढार्थः यथामति प्रकाश्यते।

कूटशब्दाः

शून्यम्, अशून्यम्, महाशून्यम्, परशून्यम्, अनुत्तरशून्यम्, शून्यातिशून्यम्, शून्याशून्यम्, शून्यषट्कम्।

प्रस्तावना

भारतीया संस्कृतिः निगमागममूला वर्तते। निगमागमौ परस्परौ अन्योन्याश्रितौ अन्योन्योपकारकौ च स्तः। वेदपर्यायः निगमः ज्ञानकर्मोपासनाबोधकः आगमः मोक्षप्राप्त्यर्थं साधनोपायभूतात्मकः अस्ति। जीवः पाशबद्धः पशुः अस्ति। समस्तविश्वं पाशेभ्यः बद्धमस्ति, तेभ्यः पाशेभ्यः मुक्त्यर्थं प्रयत्नः एव साधना इति कथ्यते। तां साधनां ये ग्रन्थाः उपदिशन्ति ते एव आगमाः। आगमशब्दं परिभाषयन् *स्वच्छन्दतन्त्रे* उच्यते –**"आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः"**[1] इति।**"आगमस्तज्ज्ञानं परशक्तिस्फाररूपमित्युक्तम्। आसमन्ताद्गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा परशक्तिरेवागमस्तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसन्दर्भस्तदुपायत्वात् शास्त्रस्य"**॥[2] इति व्युत्पत्त्या आगमाः परशक्तिस्फाररूपाः पूर्णरूपेण परमेश्वरस्य अभेदाद्वयभावबोधकाः समस्ततत्त्वज्ञानस्य उपायाः पारमेश्वरदर्शनस्य कारणरूपाश्च सन्ति। तन्त्रशब्दोऽपि आगमपर्याय एव। तनु विस्तारे इति धातोः ष्ट्रन् प्रत्यये कृते तन्त्रशब्दः निष्पद्यते। आगमवत् अस्य पदस्य अपि अस्मिन्नेव अर्थे व्याख्या दृष्यते तन्त्रालोकशब्दचर्चायां यथा **"इतीति तन्त्रालोके तन्त्राणां पारमेश्वराणाम् आलोक इति आलोकः, तानि आलोकयति प्रकाशयति इति वा"**[3] —अर्थात् परमेश्वरं यत् प्रकाशयति येन बोधः जायते तदेव तन्त्रम्।तन्त्राणामपि उद्देश्यः शिवैकात्म्यमेव इति तन्त्रागमेषु गुरुशिष्यपरम्परामनुसृत्य स्वयं परमेश्वरः एव गुरुरूपेण माता पार्वती शिष्यरूपेण भूत्वा परमतत्त्वस्य साधनाम् उपदिशतः। एवं शैवशाक्तवैष्णवपाञ्चरात्रादि बहवः तन्त्रागमाः सन्ति। तेषु द्वैतभेदप्रधानशिवस्य दशभेदानां, द्वैताद्वैत-भेदाभेदप्रधानरुद्रस्य अष्टादशभेदानां, अद्वैत-अभेदप्रधान -भैरवस्य वस्वष्ट अर्थात् चतुःषष्टिभेदानां 92 द्विनवतिआगमाः शैवशासनस्य परम्परात्वेन वर्तन्ते। तेष्वपि अभेदरूप अद्वैतशैवागमः त्रिकाभिधया ज्ञायते। येषु *विज्ञानभैरवतन्त्रम्, स्वच्छन्दतन्त्रम्, मालिनीविजयतन्त्रम्, मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम् मृगेन्द्रतन्त्रम्, रुद्रयामलम्, शिवसूत्रम्, नेत्रतन्त्रम्, शिवसूत्रवृत्तिः, तन्त्रालोकः, तन्त्रसारः, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, भास्कर-वर्धराजयोः वार्तिकम्, क्षेमराजस्य विमर्शिनीत्यादयः* ग्रन्थाः आयान्ति।

त्रिकम् इति शिव-शक्ति-नररूपिणां त्रिविधतत्त्वानां अभेदात्मकसम्बन्धं सूचयति।**"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः॥ स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति"**[4]॥ इति सूत्रद्वयेन ज्ञायते इदं विश्वं शक्तेः उन्मीलनमेव,

शक्तिः स्वयं स्वस्य भित्तौ विश्वमुन्मीलयति। सा शक्तिः शिवभट्टारकाभिन्ना। शिव एव स्वेच्छया मायाशक्त्या स्वात्मानं संकुचय्य नरः भवति। स एव नरः पुनः ज्ञानेन योगसाधनया परमशिवरूपी स्वस्वरूपस्य प्रत्यभिज्ञां करोति। एतदेव अनुत्तरसंविदः स्वयंप्रकाशः एव अस्य दर्शनस्य मुख्यप्रयोजनम्। सः परमशिवः परभट्टारकः एव शून्यरूपेण अभिधीयते। त्रिकागमेषु योगसाधनायात्रायां शून्यरूपतत्त्वम् अत्यन्तं महत्वपूर्णस्थानं भजते। शून्यमिति पदं शून्यम्, महाशून्यम्, शून्यातिशून्यम्, अनुत्तरशून्यम्, परमशून्यम्इति शब्दैः वर्णितं दृश्यते। विज्ञानभैरवतन्त्रे तस्य शून्यरूपस्य शिवस्य प्राप्त्यर्थं शून्यतायाः ध्यानविधयः अनेके प्रतिपादिताः यस्याः ध्यानेन साधकः सर्वं जगत् निर्विकल्पभूतं शून्यं चित्रकारेण निर्मितं चित्रमिव इन्द्रजालमिव पश्यति स्वयं निर्विकल्पो भवति—**"तनूदेशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत्। निर्विकल्पं निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक्"**[5]॥

शून्यस्य परिभाषा पारमार्थिक-स्वरूपं च—

त्रिकागमेषु शून्यपदं परिभाषयन् उच्यते यत् अशून्यमेव शून्यम् इति। यतो हि शून्यं अभावः इत्यपि कथ्यते। *स्वच्छन्दतन्त्रे* उच्यते—

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः॥[6]

अभावः अर्थात् यत्र भावस्य सत्ता न स्यात् तर्हि अत्र अभावस्य वास्तविकार्थः ज्ञातव्यः अन्यच्च कस्य अभावः? तर्हि उच्यते यत्र प्रमेयादि प्रपञ्चरूपभावानां नाशः जातः। यस्मिन्नेव परासत्तारूपी शून्याभावे सर्वे भावाः लीयन्ते। अभावमेव इत्थं प्रतिपाद्यते **"सर्वेन्द्रियमनोतीतस्त्वलक्षोऽभाव उच्यते"**[7] अस्य भाष्ये इत्थं व्याख्यायते यत् अभावः भावानाम् अभावः न अपितु समस्तेन्द्रियेभ्यः मनसा वाचा यदतीतम्, यत् शाश्वतम्, अलक्ष्यम्, परभावरूपम्, सर्वातीतम्, इन्द्रियेभ्यः अगोचरम्, समनापदादूर्ध्वपदम् वेदितृरूपत्वात् अवेद्यं, यत्र वेद्यभावाः न भवन्ति तदेव अभावपदेन उच्यते तदेव चिदानन्दघनशिवपदेनापि कथ्यते। अमुमेव विषयं दृढयन् विज्ञानभैरवे निगद्यते—

यदवेद्यं यदग्राह्यं यच्छून्यं यदभावगम्।
तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते बोधसम्भवः॥[8]

ज्ञानदशायां यः अवेद्यः, यस्य स्पन्दनं न भवति, यस्य ग्रहणम् अशक्यम्, यः शून्यरूपः अभावरूपः अस्ति सः भैरवः इति भाव्यः। कैः भावैः अशून्यं शून्यमिति कथ्यते इति प्रश्ने सति समाधीयते शून्यमपि शून्यं न भवति तत् चित्तत्वेन व्याप्तं भवति। अर्थात् यत्र भावरूपप्रपञ्चादीनां स्थौल्यं न भवति चित्तत्वस्य व्याप्तिः भवति तदेव शून्यमित्यभिधीयते सा एव महासत्ता इत्यपि कथ्यते। यः सर्वालम्बनैः युक्तः, सर्वतत्त्वमयः, सर्वेभ्यः क्लेशेभ्यः कर्मविपाकेभ्यः कर्माशयेभ्यः शून्यः, परमार्थतः यः अशून्यः वर्तते सः एव व्यापकपरमतत्त्वम्-शून्यस्य पारमार्थिकस्वरूपं विमर्शयन् अयंश्लोकः उद्धृयते—

सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः॥[9]

सा काचित् अनिर्वचनीयावस्था इत्याख्यायते यां सर्वे शून्यदशा इति भावयन्ति अर्थात् यत् वेद्यवस्तु इन्द्रियमाध्यमेन ग्रहीतुमशक्यं भवति सा शून्यावस्था इत्युच्यते। तच्च शून्यस्थानं शिवनामकं यः स्वतन्त्रः

परिपूर्णश्च वर्तते। यस्मिन् सर्वाणि तत्वानि लयं गच्छन्ति तथा च यस्मात् सर्वेषां तत्वानाम् उद्भवः जायते। जगति यावदपि अस्ति तत्सर्वमपि ततः शिवशून्यतः एव जायते लीयते च। *महाभारतस्य* उक्तिः अत्रापि दरीदृश्यते यत् **"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्"** इति सर्वे प्रमेयाः सर्वमपि शिवभट्टारके शून्ये एव अस्ति, यदि अत्र नास्ति चेत् कुत्रापि तस्य सत्ता नास्त्येव। अर्थात् इदं सर्वं जगत् शून्यरूपशिवमयं चेत् जगदपि शून्यरूपमेव इत्यपि प्रतिपाद्यते यत् उपरिष्टात् अधः पर्यन्तं सर्वाः दिशः, पृथिवी, जलम्, तेजः, वायुः, अग्निः, आकाशः, मनः, बुद्धिः, अहंकारः इत्यादि सर्वपि तस्मिन् निरालम्बे महाशून्ये प्रतिष्ठितम्। तत्सर्वं शून्यमेव सारहीनं मायिक-इन्द्रजालतुल्यं स्वप्नसृष्टिवत् वर्तते। केवलं शून्यरूपं शिवस्वरूपं अविनाशी वर्तते। भण्यते—

सर्वं शून्यं निरालम्बं तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यत्किञ्चित्सकलं भावरूपं तन्त्रेषु वर्णितम्॥
तस्माच्छून्यं जगद्ध्यायेद्यन्न नश्येत् कदाचन।।[10]

अतः अमुम् अनाश्रितम् अनावृतं शिवतत्वं शून्यातिशून्यं सप्तत्रिंशं तत्त्वमित्यपि उररीक्रियते—

शिवतत्त्वमतः शून्यातिशून्यं स्यादनाश्रितम्।[11]
सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहुस्तत्वं परशिवाभिधम्।[12]

साधनायां शून्यम्-

प्राणस्य ऊर्ध्वगमनयात्रासाधनायां यदा प्राणः ऊर्ध्वं गच्छन् अर्धचन्द्रक्षेत्रं प्राप्नोति यत्र पारमेश्वरी मायाशक्तिः तस्मिन् क्षेत्रे सितेतरसृष्ट्या साधकस्य प्राणस्य तस्मात् उपरि गमनं न सहते अतः निरोधरूपेण रेखां रेखाङ्कयति सा एव निरोधिका इत्युच्यते। ऊर्ध्वगमनाय निरोधिकायाः खण्डनमावश्यकं तद्विधा जायते 1. पारमेश्वरी माया स्वयमेव वात्सल्येन ऊर्ध्वारोहणाय निरोधिकामुद्घाटयति 2. साधकः साधनया प्रौढो भूत्वा बिन्दुस्तरे एव अर्धचन्द्रं निरोधिकां च अतिक्रम्य क्षेपक्रियया नादवृत्तं प्राप्नोति। एवमेव षट् क्रियाः वर्तन्ते1. क्षेपः, 2. आक्रान्तिः, 3. चिदुद्बोधः, 4. स्थापनम्, 5. दीपनम्, 6. तत्समापत्तिः इति। एताः क्रियाः साधकम् ऊर्ध्वगमने सहायं कुर्वन्ति। आक्रान्तिक्रियया प्राणः नादात् नादान्तं प्रविशति। इयं प्रक्रिया ब्रह्मरन्ध्रे एव भवति। यदा प्राणः नादान्तात् शक्तिं प्रति अधिरोहति तदा चिदुद्बोधक्रिया जायते। शक्तिः व्यापिनी समना इति चक्रत्रयमपि शिवस्य व्याप्तौ भवति। शिवस्य व्याप्तौ शक्त्याः दीपनक्रिया, व्यापिनेः तत्समापत्तिक्रियायाः स्फूर्त्या समनायां प्रवेशः भवति। तत्समापत्तिः समनायाम् आरोहदशा वर्तते यदा साधकः व्यापिन्याः अतिक्रमणकाले सीमां भनक्ति, तस्याः भञ्जनसमये एकस्य अङ्कुरस्य उन्मेषः भवति सा एव तत्समापत्तिः। यदा प्राणः समनायां प्रविशति तस्यां तत्समापत्त्यवस्थायां इमाः षट् क्रियाः समाप्तिं गच्छन्ति। अतः इमाः शून्याः इति कथ्यन्ते। एताः बिन्दोः समना पर्यन्तं षट् भवन्ति। एताः अतिक्रम्य साधकः उन्मनायां तत्संवित्ति-अवस्थां प्राप्नोति। उन्मनायाः प्रशंसां कुर्वन् प्रतिपाद्यते यत् उन्मना एव स्वयं परमशिवभावरूपा अस्ति, सा परतत्त्वरूपेणापि अभिहिता यत् समनान्तपर्यन्तं शून्यरूपाः हेयाः सन्ति केवलम् उन्मनापरतत्त्वसमावेशः उपादेयः इति—**"यद्वा अकारादिसमनान्तानां मात्राणां शून्योच्चारात् शून्यताविमर्शनात् उन्मनारूपपरशिवीभावो भवेत्, समनान्तस्य विश्वस्य हेयत्वात् उन्मनापरतत्त्वसमावेश उपादेयः"**।[13] इयम्

उन्मना शून्या इति कथिता—**"शून्याशब्देन तु उन्मनी उक्तैव"**[14] इदमेव सप्तमस्थानम्। इमाः षट् परित्यज्य पराशक्तेः परतत्वे लयः एव प्राणयात्रायाः पराकाष्ठा अस्ति।

परभैरवैकात्म्यसाधनायां साधकः आज्ञाचक्रात् अकारात् उन्मना पर्यन्तं योगयात्रां करोति। या द्वादशान्तसाधना इत्यपि श्रूयते। अस्याः यात्रायाः द्वादश स्तराः सन्ति ये प्रमेयशब्देन अपि ज्ञायन्ते। एतानि प्रमेयरूप-सोपानानि परमज्ञेयानि सन्ति यैः विना योगमार्गे गतिः न भवितुमर्हति। यथा 1. अ, 2. उ, 3. म, 4. बिन्दुः, 5. अर्धचन्द्रः, 6. निरोधिका, 7. नादः, 8. नादान्तः, 9. शक्तिः, 10. व्यापिनी, 11. समना, 12. उन्मना इति। परभैरवे कैवल्यार्थं साधकेन प्राणस्य शून्यस्य च त्यागः कर्तव्यः। त्यागः अर्थात् एकैकेन बिन्दुना संयोगः करणीयः तदनन्तरं तं त्यक्त्वा अग्रिमबिन्दुना संयोगः। एवं द्वादशचक्रेभ्यः ऊर्ध्वगमनेन अन्ते परभैरवप्राप्तिः जायते। भेदनं ज्ञानेन योगसाधनया कुर्वन् ऊर्ध्वं गच्छेत्-**"ततो वै ज्ञानशूलेन ग्रन्थीन्भिन्दन् समुचरेत्"**[15] यथोक्तं आत्मज्ञानस्य विषये **भिद्यते हृदयग्रन्थिः** अर्थात् शरीरस्य सर्वेपि चक्राणि बिन्दवः ग्रन्थिसदृशाः एव। एकैकस्य ग्रन्थिभेदनेन परमात्मनः प्राप्तिः भवति। अस्याः साधनायाः क्रमः एवं वर्तते—

कारणत्यागसाधना

त्यागसाधनायाः विधिः प्रतिपाद्यते भैरवेण *विज्ञानभैरवे* यत् कस्मिंश्चित् वस्तुनि दृष्टिं स्थिरीकरणेन तस्य वस्तुनः स्वरूपं ज्ञायते, तदनन्तरं शनैः शनैः तस्य वस्तुनः ज्ञानात् तद्विषयकसंकल्पेभ्यः च चित्तं निवर्तयेत्, शून्यभावनया अन्तर्मनो भूत्वा साधकः शून्यस्थाने संयमी भवेत् चेत् निर्विकल्पावस्था उदेति शून्यप्राप्तिश्च भवति—**"क्वचिद्वस्तुनि विन्यस्य शनैर्दृष्टिं निवर्तयेत्। तज्ज्ञानं चित्तसहितं देवि शून्यालयो भवेत्।।"**[16] ज्ञानानन्तरं चित्तनिवर्तनमेव त्यागः इति वक्तुं शक्यते। त्यागाय बीजमन्त्राः आश्रयणीयाः इति। बीजमन्त्रस्य प्रथमाक्षरः हकारः। हकारः प्राणशक्तेः जीवनस्य स्वात्मरूपमेव। उच्यते यत् प्राणशक्तिरूपस्य हकारस्य शिरोरेखात्वेन अकारः भवति यः अनुत्तरतत्त्वरूपेण ज्ञायते। *स्वच्छन्दतन्त्रे* उच्यते यत् प्रत्येकबीजाक्षरस्य चक्राणां च देवताः भवन्ति ये कारणरूपाः भवन्ति येषां त्यागविधिः निरूप्यते। तथैव अकारः ब्रह्मा कथ्यते यः हृदि तिष्ठति। तं प्राणप्रेरकं ब्रह्माणं साधकः ऊर्ध्वगमनप्रक्रियायां हृदये त्यजति **"हकारः प्राणशक्त्यात्मा अकारो ब्रह्मवाचकः। हृदि त्यागो भवेत्तस्य उकारोविष्णुवाचकः।"**[17] अकारानन्तरं विष्णुतत्त्वरूपस्य उकारस्य साधकः विशुद्धचक्रे परित्यजति। रुद्ररूपस्य मकारस्य परित्यागः तालुरन्ध्रे भवति, इतः पश्चात् स्थूलतत्वात् सूक्ष्मतत्वेषु प्रवेशः भवति। एवं बीजमन्त्राक्षराणां परित्यागानन्तरम् ईश्वररूपबिन्दोः भ्रूमध्यभागे परित्यागः कर्तव्यः अर्धचन्द्रनिरोधिके अपि तत्रैव व्याप्नुतः। नादनादान्तचक्रौ उभावपि सदाशिवस्य व्याप्तिक्षेत्रे आयातः। एतयोः क्षेत्रं भ्रूमध्यादुपरिष्टात् ललाटात् मूर्धा पर्यन्तमिति मन्यते। एतयोः परित्यागः तत्रैव क्रियते। मूर्धनि ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यभागे शक्तिचक्रं स्थितमस्ति। यदा शक्तौ अन्तर्भवति तस्मिन् बिन्दौ ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-सदाशिवरूपकारणपञ्चकानाम् उपसंहारः भवति ये कालकलनायाः आश्रयभूताः सन्ति। यदा शक्तेः परित्यागः भवति तदा अस्य पञ्चकस्यापि त्यागः भवति, साधकः अकालकलितावस्थां प्राप्नोति। एवं शक्तिचक्रस्य परित्यागः मूर्ध्नः मध्यभागे कृत्वा ऊर्ध्वभागे अधिष्ठितव्यापिनी-चक्रे प्रविश्य क्रियायोगेन तामपि परित्यजेत्। तदनन्तरं समनाचक्रं यत् सहस्रारे नालयुक्तम् अधोमुखं लम्बायमानम् अवतिष्ठति। अत्र मननभूमौ साधकः समनाचक्रमपि परित्यजति। एवं योगी समस्ताध्वानः अतिक्रम्य अन्ते विशुद्धतत्वं स्वं भावम् आप्नोति तदा सः

उन्मनाशक्तिचक्रभावमधितिष्ठति। उन्मनायाः प्राप्तिः यावत् महती तथैव तस्याः त्यागः अपि योगिनः कृते बहु महत्त्वपूर्णमस्ति। उन्मनायाः त्यागानन्तरं सप्तमे भावे शिवे लयः भवति यः योगिनः मोक्षः इत्याख्यायते। त्यागानन्तरं तत्र न किमपि शिष्यते। अतएव इमां कालातीत-कारणातीतावस्थां शून्यमिति कथ्यते- **"शून्यभावस्त्वथोच्यते।"**[18] नाद-नादान्त-शक्ति-व्यापिनी-समना-उन्मनाः इति षड् अवस्थाः तासां त्यागानन्तरं सप्तमे परभैरवे लयः इति विधिः **"कण्ठे त्यागो...षट्त्यागात्सप्तमे लयः।"**[19] एते ये शून्यरूपिणः षट् भावाः सन्ति ते परमशून्यपदावाप्तये उपायभूताः अपि सन्ति—**"शून्यो रूपो भावः पदार्थः परशून्यपदप्राप्त्युपायभूत इत्यर्थः।"**[20] परमशून्यधारणायाः अभ्यासस्यअयं विधिः *विज्ञानभैरवे* प्रतिपाद्यते यथा साधकः विकल्पविहीनः भूत्वा स्वशरीरे सर्वासु दिक्षु व्याप्ताकाशस्य युगपत् भावनया परमाकाशरूपपरमशिवे समावेशः जायते—**"निजदेहे सर्वदिक्कं युगपद्भावयेद्वियत्। निर्विकल्पमनास्तस्य वियत्सर्वं प्रवर्तते-एकाग्रमनाः सर्वासु दिक्षु पुरतो दक्षिणे वामे पृष्ठतश्च अक्रमेण शून्यं भावयेद्, ततस्तस्य परमाकाशसमावेशः।।"**[21] परमेश्वरः कथयति यत् एवं सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम-परमसूक्ष्मतमभावेषु प्रवेशः, विश्रान्तिः, पुनः परित्यागः साधनायाः अनिवार्याङ्गः वर्तते। ऊर्ध्वगतिविज्ञाने अधस्तात् स्थूलतत्वात् सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम-परमसूक्ष्मतमतत्षु गतिर्भवति। मकारानन्तरं साधकः सूक्ष्मतत्वेषु प्रविशति, सूक्ष्मम् इति आत्यन्तिकपरभावः उच्यते यत् अभावपदेन अपि कथ्यते। अत्यन्तपरभावः परासत्तारूपः परमशिवः। सः एव विश्वस्य परमकारणं, कारणानाम् अपि कारणम् अस्ति। तर्हि परमशिवः शून्यः कथं भवितुमर्हति इति प्रश्ने सति समाधीयते तत्रैव शिवे समस्तभावाः संक्षयाः भवन्ति। यत्र सर्वभावानां अभावः भवति अतः शिवः अपि अभावशून्यः इत्येव कथ्यते। तानि सूक्ष्मतत्वानि एकम् अपरस्य अपरभावः भवति अत्र अपरभावः अर्थात् स्थूलभावः।

यथा उपरिष्टात्पश्यामश्चेत् परभावस्य शिवस्य उन्मना अपरभावः यः अभावः इत्यपि कथ्यते अतः उन्मनां अपि शिवतत्त्वमिति कथयितुं शक्यते यतोहि उन्मना समवायरूपेण शिवेन अवियुक्ता एव सा **षष्ठशून्य**मिति च उच्यते। *तन्त्रालोके* जयरथटीकायाम् उन्मनारूपिणी शक्तिस्वरूपा अतिशून्यम् षट्त्रिंशतत्त्वपदेनापि कथिता—**"शून्यात् व्यापिन्यादिपदाद्भावसंस्कारस्यापि प्रक्षयादतिशून्यं षट्त्रिंशं तत्त्वमित्यर्थः।"**[22] उन्मनायाः अपरभावः समना, समना **पञ्चमशून्य**मिति कथ्यते। एवं क्रमः। समनायाः अपरभावः व्यापिनी चक्रवृत्तमस्ति यत् शून्यवृत्तं भवति यत्र सर्वेषां भावानाम् आसूत्रणं भवति। इदं व्यापिनीशून्यवृत्तं भावाभावानां आभासनभित्तिः अस्ति। अतः इदं वृत्तं **शून्यपदम्** अथवा **महाशून्यम्, चतुर्थशून्यम्** इति अभिधीयते- **"तस्येति समनात्मनो भावस्यापरं व्यापिनीरूपं शून्यमशेषभावसूत्रणरूपं महाशून्यमित्यर्थः।"**[23]

एवमेव व्यापिन्याः अपरभावः शक्तिचक्रम्, शक्तिकेन्द्रं तादृशमहत्वपूर्णकेन्द्रं वर्तते यत्र अशेषपाशराशिः ध्वस्तः भवति अतएव शक्तिकेन्द्रं निःशेषपाशानां प्रशमभूमिरित्युच्यते। पाशप्रशमदृष्ट्या इयं प्रथमभूमिः अव्यक्तानामयशून्यपदं च वर्तते। अतः शक्तिचक्रम् **ऊर्ध्वशून्यम्** इत्यपि कथ्यते—**"ऊर्ध्वशून्यमत्र नादान्तान्तनिःशेषपाशप्रशमभूः शक्तिपदम्।"**[24] शक्तिचक्रस्य अपरभावः नाद-नादान्तरूपेण द्विधा व्यक्तः भवति। एवं नादस्य निरोधिका, तस्याः अर्धचन्द्रः, तस्य बिन्दुः। एवमेव **अधःशून्य**मिति हृत्क्षेत्रम् अनाहतचक्रं कथ्यते—**"अधः शून्यमनुल्लसितप्रपञ्चं हृत्क्षेत्रम्।"**[25], **मध्यशून्यं** तु हृत्क्षेत्रात् शक्तिकेन्द्रपर्यन्तचक्राणि यथा कण्ठः (विशुद्धचक्रम्), तालुः,भ्रूमध्यस्थानम् (आज्ञाचक्रम्), ललाटः, ब्रह्मरन्ध्रम्, बिन्दुः,अर्धचन्द्रः,

निरोधिनी, नादः, नादान्तः इति मध्यस्थानि कथ्यन्ते—"**मध्यशून्यं तु क्रमेणाधस्तनप्रमेयप्रशमात्मकं कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटमूर्धरन्ध्रात्मकम्।**"[26] अन्यच्च ऊर्ध्वशून्यं प्रमातृरूपं, मध्यशून्यं प्रमाणरूपं, मूलशून्यं प्रमेयरूपं चास्ति।एतेषां शून्यत्रयाणां ध्यानेन युगपत् निर्विकल्पतया अर्थात् ऊर्ध्वाधःमध्येषु प्रमाणप्रमेयप्रमातृरूपत्रिपुरीं यः निराधारशून्यमयी इति जानाति सः शरीरे शक्तिपर्यन्ततत्वान् आनन्दमयान् शिवमयान् करोति—"**पृष्ठशून्यं मूलशून्यं हृच्छून्यं भावयेत् स्थिरम्। युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदय-स्ततः।।**"[27] एवमेव व्यापिनीशून्यं चतुर्थशून्यम्, महाशून्यमिति कथ्यते। पञ्चमं समनाशून्यम्, षष्ठशून्यम् उन्मनाशून्यम् इति प्रतिपाद्यते-"**चतुर्थं व्यापिनीशून्यं समनायां च पञ्चमम्। उन्मनाया तथा षष्ठं षडेते सामयाः स्थिताः।।**"[28] एतानि षट् शून्यानि सामयाःअर्थात् हेयाः इति कथिताः भगवता। सामयाः एव परं सिद्धिदाः अपि कथ्यन्ते यतो हि एतेषु परतत्त्वस्य परशून्यस्य व्याप्तिरस्ति।

षट् शून्यानि परित्यज्य सप्तमे परतत्त्वरूपे सर्वोच्चे सूक्ष्मशून्ये लयः भवेत्। "**महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।**"[29] अस्मिन् महाशून्यालये शून्याशून्यपदे आ समन्तात् लयः भूतेन्द्रियविषयभुवनतत्त्वादि-रूपस्य सकलस्य जगतः अतः शिवतत्वं **परशून्यम् अशून्यम्**इति कथितम्—"**यदेतच्छून्यमित्युक्तं तद्वस्तुतोऽशून्यं चिदानन्दघनपरमशिवतत्त्वम्**"[30]

एवं शिवतत्वं **शून्याशून्यम्, शून्यातीतम्, महाशून्यालयः**इति च उच्यते।अस्मिन् शून्यभैरवे समापत्त्यर्थं विज्ञानभैरवे शून्यताध्यानविधिः प्रोच्यते- प्रणवोच्चारणं कुर्वन् साधकः प्लुतोच्चारणान्ते शून्यतायाः ध्यानं कुर्यात्। शून्यभावं धारयन् शून्यात्मिकायाः परमशक्त्याः सहायेन परमशिवं शून्यभावम् आप्नोति- "**प्रणावादिसमुच्चारात्प्लुतान्ते शून्यभावनात्। शून्यया परया शक्त्या शून्यतामेति भैरवि।।**"[31] अस्य श्लोकस्य व्याख्यायां द्रढयन्ति यत् लुप्तोच्चारणेन बिन्दु-अर्धचन्द्रादि उत्पद्यन्ते ततः नाद-नादान्तादि आरोहयन् शून्यरूपचक्रेभ्यः महाशून्यरूपशिवभट्टारकप्राप्तिः भवतीति—"**अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तः शून्योच्चाराद्भवेच्छिवः।।**"[32] तं प्राप्य साधकः शून्याकारः एव भवति।

उपसंहारः

इति त्रिकागमे शून्यं शून्यषट्करूपेण साधनं, पारमार्थिकस्वरूपतया शून्यातिशून्यरूपशिवरूपेण साध्यं च भूत्वा साधकं मार्गमुपदिशति। त्रिकदर्शने शून्यं न केवलं प्रपञ्चनाशस्य नाम अपितु शून्ये अपि चिन्मात्रस्य परिपूर्ण-व्याप्तित्वात् शून्यम् अशून्यमेव इति प्रतिपाद्यते। *स्वच्छन्दतन्त्रे* प्रतिपादितम् यत् शून्ये भावानांलयेऽपि तत्रसत्त्वमात्रं परं चैतन्यम् अवशिष्यते, अतः शून्यं न तु निषेधमात्रम्।

एवं च शून्यावस्थात्रिकागमेसाधनायाः अतीव अनिवार्यं सोपानम्। आज्ञाचक्रात् आरभ्य उन्मनान्तं यत्द्वादशबिन्दुसोपानक्रमेण साधकस्य अन्तर्मार्गगतिर्ध्रियते, तत्र प्रत्येकं बिन्दुं प्रतिसंयोगः—वियोगश्च शून्यस्य त्यागः, ग्रहणं चित्स्पन्दस्य-उत्कर्षरूपेण प्रवर्तते। अस्याः प्रक्रियायाः अन्ते उन्मनावस्थायाः अनन्तरं परभैरवैक्यप्राप्तिः, यत्र नादादिप्रपञ्चः, मनः, प्राणो वा न अवशिष्यते; केवलं अनुत्तर-चैतन्यैकसत्त्वम् एव अनुभूयते।

अतः, त्रिकागमदृष्ट्या शून्यरूपतत्त्वं अनुभवगोचरमेव, न तु दार्शनिककल्पनामात्रम्। यत्रबाह्य-अभ्यन्तर-द्वैत-प्रपञ्चस्यशैथिल्यं जातम्, यत्र चित्तंनिरावृतं, निरुपाधिकं, परस्पन्दपरिपूर्णं च भवति, तत्रैव महाशून्यं,

अतिशून्यं, अनुत्तर शून्यमितिनामानि सार्थकानि भवन्ति। एवं शून्यतत्त्वं त्रिकसाधनायां परमार्थतत्त्वस्य उद्घाटकम्, शिवस्व-रूपस्य प्रत्यक्षकारणं च इति सिद्धम्।

सहायक-ग्रन्थसूची

- मिश्र, परमहंस (संपा.). (2004). *श्रीस्वच्छन्दतन्त्र*: द्वितीयभाग, तृतीय भाग (योगतन्त्र-ग्रन्थमाला, ख. 32). वाराणसी: सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय।
- आञ्जना, बापुलाल (संपा.). (1991). *विज्ञानभैरव* (क्षेमेन्द्र एवं शिवोपाध्याय की टीकासहित). वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।
- सिंह, जयदेव (संपा.) (2016) *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* (हिन्दी अनुवाद, विस्तृत उपोद्घात एवं टिप्पणियों सहित). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास।
- मिश्र, परमहंस (संपा.). (2000). *श्रीतन्त्रालोक*: प्रथमभाग, द्वितीयभाग, तृतीयभाग, चतुर्थभाग (योगतन्त्र-ग्रन्थमाला, ख. 17). वाराणसी: सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय।
- रमाकांत, प्रो. (सम्पा./व्याख्याकार). (1984). *विज्ञानभैरव*: संस्कृत-हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्यासहित. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास।
- आनन्द, डॉ. श्यामाकान्तद्विवेदी. (2004). *स्पन्दकारिका* (हिन्दीव्याख्यासहित). वाराणसी: चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन।

सन्दर्भा:

1. *स्वच्छन्दतन्त्र*— 4.340
2. *स्वच्छन्दतन्त्रभाष्य*— 4.340
3. *तन्त्रालोकविवेक* टीका 1.245
4. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* 1,2
5. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्*
6. *स्वच्छन्दतन्त्रम्* 4.292
7. *स्वच्छन्दतन्त्रम्*4.277
8. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्*.127
9. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्* 127 व्याख्या
10. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्* 134 व्याख्या
11. *तन्त्रालोक*—11.20
12. *तन्त्रालोक*—11.21
13. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्* व्याख्या—42
14. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्* व्याख्या—42

15. *स्वच्छन्दतन्त्रम्* 4.369
16. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्*—120
17. *स्वच्छन्दतन्त्रम्*—4.263
18. *स्वच्छन्दतन्त्रम्*—4.288
19. *स्वच्छन्दतन्त्रम्264*—267
20. *स्वच्छन्दतन्त्रम्भाष्य*—4.288
21. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्*— 43 व्याख्या द्रष्टव्या
22. *तन्त्रालोक*, जयरथ टीका 11.20
23. *स्वच्छन्दतन्त्रम्*—4.269
24. *स्वच्छन्दतन्त्रम्*—4.289
25. *स्वच्छन्दतन्त्रम्*—4.289
26. *स्वच्छन्दतन्त्रम्*—4.289
27. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्*—45
28. *स्वच्छन्दतन्त्रम्*—4.290
29. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्*—149
30. *स्वच्छन्दतन्त्रम्भाष्य*—4.292
31. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्*—39
32. *विज्ञानभैरवतन्त्रम्*—42

शोधच्छात्रा,
संस्कृतप्राच्यविद्याध्ययनसंस्थानम्,
जवाहरलाल-नेहरु-विश्वविद्यालयः, नवदेहली, 110067
hptirunagari@gmail.com, 7981003241
Res : Hari Priya, 11-9-170/ Flat No. 131
Shivani Plaza, Laxminagar Colony,
Road No. 3, Kothapet,
Hyderabad-500035

नैषधचरिते विवाहसंस्कारविधिः

डॉ .सुप्रीतिसाहा एवं डॉ. लोकेश-मण्डल

सम्-कृ+घञ्=संस्कारः। अस्य संस्कारशब्दस्य प्रयोगः वैदिकसाहित्ये नास्ति। परन्तु सम्-कृ+क्त=संस्कृतः इत्यस्य प्रयोगः तत्र उपलभ्यते। आचार्यः जैमिनिः तस्य *मीमांसासूत्रे* बहुत्र संस्कारशब्दस्य उल्लेखं कृतवान्। परन्तु तस्यार्थः बहुधा। एकस्मिन् स्थाने मीमांसासूत्रस्य प्रख्यातभाष्यकारेण शबरस्वामिना उक्तम्-'संस्कारो नाम स भवति यस्मिन्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य'। अर्थात् तस्य मते कोऽपि मनुष्यः पदार्थः वा कस्मिन्नपि कार्ये येन समर्थो भवति स एव संस्कारः। *ब्रह्मसूत्रभाष्ये* संस्कारविषये उच्यते - 'सस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्यात् दोषापनयनेन वा'[1]। येन कारणेन आचार्यः काणे अवदत् संस्कारेण नवीनगुणस्य प्राप्तिः पापमोचनः च भवतः[2]। अतः मानवजीवने संस्कारस्य विशिष्टं स्थानमस्ति। येन मनुष्यः स्वयं परिमार्जनं परिवर्धनं वा करिष्यति। वस्तुतः संस्कारेण पदार्थस्य मनुष्यस्य वा शुद्धीकरणं भवति। शुद्धीकरणमिदं शारीरिकमानसिकात्मिकभावेषु स्यात्। तस्मात् महर्षयः शास्त्रकारिणः वा मानवजीवनं पवित्रं तथा सुसंस्कृतं करणार्थं विविधसंस्काराणां विधानं दत्तम्। अतः जन्मादारभ्यः मृत्युपर्यन्तं मनुष्यजीवनं संस्कारेनैव अतिवाहितं भवति।

शास्त्रकारनिर्दिष्टेषु बहुविधसंस्कारेषु विवाहसंस्कारः अन्यतमः प्रधानश्च। *नैषधमहाकाव्ये* विवाहसंस्कारस्य विस्तृतं विवरणं प्राप्यते। तत्र नल-दमयन्त्योः विवाहः श्रुतिं स्मृतिं च अनुसृत्य अभवत्। दमयन्त्याः पिता भीमः तस्मात् अवदत्-

सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पृशः क्रिया।
श्रुतिस्मृतीनान्तु वयं विदध्महे विधीनिति स्माह च निर्ययौ च सः[3]।।

एतेन श्लोकेन ज्ञायते यत् नल-दमयन्त्योः विवाहः वैदिकविधिम् अनुसरणं कृत्वा अभवत्। टीकाकारेण मल्लिनाथेन तस्मात् उक्तम्-'वयन्तु श्रुतिस्मृतीनां सम्बन्धिनः तद्विहितान्, विधीन कर्मणि, विदध्महे कुर्महे,इत्याह स्म च उवाच च'। अपि च नैषधचरिते विवाहस्य विषये उच्यते यत् वंशवर्द्धनं हि विवाहस्य उद्देश्यः- 'गोत्रानुकुल्यप्रभवे विवाहे'। मल्लिनाथेन अस्य वर्णनायामुक्तम्-'गोत्रानुकुल्यप्रभवे वंशवर्द्धनार्थं प्रवृत्ते'। ऋग्वेदानुसारमपि विवाहस्य उद्देश्यः भवेत् गृहस्थः भूत्वा देवानां प्रीतिविधानार्थं यज्ञसम्पादनं सन्तानोत्पत्तिश्च[4]। शतपथब्राह्मणानुसारं जाया पतेः अर्धांशा। अतः विवाहेन सन्तानोत्पत्त्या च पुरुषः पूर्णो भवति-'अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां

विन्दतेऽथ तर्हि हि सर्वो भवति'[5]। *आपस्तम्बधर्मसूत्रे* प्राप्यते स्त्री यदि गर्भधारणे समर्था भवति, तर्हि द्वितीययो पत्न्याः ग्रहणमुचितम्[6]। एतेन स्पष्टं यत् वैदिकसाहित्यस्य मतेऽपि सन्तानोत्पत्तिः हि विवाहस्य चरमं लक्ष्यम्। यद्यपि–

गोत्रानुकूलत्वभवे विवाहे तत्प्रातिकूल्यादिव गोत्रशत्रूः।
पुरश्चकार प्रवरं वरं यमायन्सखायं ददृशो तया सः[7]।।

इत्यस्य श्लोकस्य अनेकविधाः अर्थाः स्युः। यथा–टीकाकारस्य नारायणस्य मते गोत्रानुकूलत्वे सति विवाहो भवति–'नलभैमीगोत्रयोरनुकूलत्वेन जायमाने विवाहे स्वयमिन्द्रस्तत्प्रातिकूल्यं कृतवान्'। अथवा विशिष्टे विवाहे समगोत्रत्वं निषिद्धम्–'तस्य गोत्रानुकूलत्वविशिष्टस्य विवाहस्य प्रातिकुल्याद्विरुद्धत्वादिव'। किंवा गोत्रयोः असमानत्वेऽपि सवप्रवरत्वात् विवाहः सम्भविष्यति–'ततश्च गोत्रयोः प्रातिकूल्येऽपि श्रेष्ठप्रवराङ्गीकरणेनापि यथा– 'कथञ्चिद्वाहो घटिष्यत इति बुद्ध्या प्रवरमार्षेयं पुरश्चकारेत्यर्थः'। अथवा एवमपि न सम्भवेत् –'समानप्रवरत्वेनापि विवाहनिषेधादित्यर्थः'। अतः दृश्यते विवाहे गोत्रविषये तथा प्रवरविषये बहुमतभेदाः सन्ति। यथा–*हिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे*[8], *आपस्तम्बधर्मसूत्रे*[9] च उच्यते यत् विवाहे स्वगोत्रीयाः कन्यायाः चयणं न कुर्य्यात्। परन्तु प्रवरविषये तत्र किमपि न प्राप्तम्। पुनः *वशिष्ठधर्मसूत्रे*[10], *मानवगृह्यसूत्रे*[11], *वराहगृह्यसूत्रे* च उच्यते यत् समानप्रवरविशिष्टया कन्यया सह विवाहः अनुचितः। अतः वैदिककालादारभ्य अद्यापि विवाहे गोत्रविषये प्रवरविषये च संशयोऽस्ति।

श्रीहर्षस्य समये कन्या पतेः निर्वाचनं स्वयमेव करिष्यति स्वयंवरसभामाध्यमेन। अतः *नैषधचरिते* दमयन्त्यै विदर्भराजः भीमः स्वयंवरसभायाः आयोजनं कृतवान्। तेन कन्यायाः दमयन्त्याः निकटे कथितं यत् स्वयंवरे त्वं स्वेच्छानुसारं पतिनिर्वाचनं कुरु–

व्यतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे सहसोन्नमय्य मौलिम्।
दयितमभिमतं स्वयंवरे !त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः[12]।।

अतः राज्ञः भीमस्य आयोजिते स्वयंवरे विविधदेशेभ्यः बहवः राजकुमारादयः उपस्थिताः आसन्। ये खलु नानागुणेषु पूर्णाः–

रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शास्त्रेषु शास्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शाम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रोत्रियक्षराजाः[13]।।

तस्याः स्वयंवरे देवताः अपि उपस्थिताः आसन्। इन्द्राग्नियमवरुणाः देवाः तु नलरूपं धारयित्वा तत्र उपवेशिताः। तेषां वर्णना महाकविना श्रीहर्षेण त्रयोदशसर्गे दीयते। परिशेषे चतुर्दशसर्गे दृश्यते नानाविधां वाधामतिक्रम्य स्वेप्सितं दयितं नलं वरयते स्म दमयन्ती। सम्भवतः स्वयंवरजातीया कापि विवाहव्यवस्था वैदिककालेऽपि प्रचलितासीत्। तस्मात् ऋग्वेदे उच्यते कन्या बहुपुरुषेभ्यः स्वेप्सितस्य मित्रस्य तथा पतेः निर्वाचनं कर्तुं पारयति। तथोक्तं *ऋग्वेदे*—

कियती योषा मर्षतो वधूयोः परिप्रीता पन्यस्य वार्षेण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्[14]।।

अतः प्रतीयते यत् वैदिककाले किंवा नैषधकाले कन्यायाः विवाहःपरिणीतावस्थायां एव भवेत्। यतः कन्या स्वपतिनिर्वाचनं कर्तुं पारयति। *ऋग्वेदस्य* विवाहसूक्तादपि[15] ज्ञायते यत् विवाहिताः स्त्रियः अल्पवर्षीयाः न। नैषधस्य नायिकायाः दमयन्त्याः कथोपकथनादपि गम्यते यत् सा नैव अल्पवर्षीया।

श्रीहर्षकालीनसमये अन्तर्जातीयविवाहस्य निषेधः आसीत्। तस्मात् कारणात् कुत्रापि तस्य संकेतं न प्राप्यते। वरं दशमसर्गस्य प्रथमश्लोके सजातीयविवाहस्य धारणा आप्यते 'कुलजाः' इत्यस्मात् पदात्। सम्भवतः अस्य कारणं भवति श्रीहर्षस्य समये राजा प्रजाभिः सह वर्णाश्रमस्य अनुसरणम् अकरोत्। अतः तदानीन्तनकाले कस्यापि अनुचित्कार्यस्य अर्थात् असवर्णस्य विवाहस्य सम्भावना नासीत्। परन्तु वैदिकसाहित्ये असवर्णः विवाहः प्रचलितः। यथा, *शतपथब्राह्मणे*[16] दृश्यते जीर्णः तथा शीर्णः ऋषिः च्यवनः राज्ञः शर्यातस्य कन्यां सुकन्यां विवाहं कृतवान्। अन्यत्र *शतपथब्राह्मण*[17] *वाजसनेयीसंहितायाः* उक्तिमुद्धृत्य कथ्यते यत् राजा वैश्यपत्न्याः जातं पुत्रं नृपं न कुर्यात्। अतः अनुमीयते यत् वैदिकयुगे असवर्णविवाहे स्वीकृते अपि सवर्णविवाहः हि वरणीय आसीत्।

वधूवरयोः विवाहे योग्यताविषये वैदिकसाहित्ये बहुचर्चाः सन्ति। आश्वलायनगृह्यसूत्रानुसारम्[18] बुद्धि–युक्तवरेण सह कन्यायाः विवाहः करणीयः। आपस्तम्बगृह्यसूत्रस्य मते वरः भवति –'बन्धुशीललक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोग इति वरसंपत्'[19]। नैषधेऽपि प्रायः सममेव गुणमुल्लिखितम्। तत्र श्रीहर्षेण प्रोक्तं यत् स्वयंवरसभायाम् आगताः राजपुरुषाः सन्ति कुलीनाः, शास्त्रेषु शस्त्रेषु च दक्षाः, सुरूपाः वृत्तशालिनश्च–

रथैरथायुः कुलजाः कुमाराः शस्त्रेषु च दृष्टपाराः।
स्वयंवरं शाम्बरवैरिकायव्यूहश्रियः श्रीजितयरक्षराजाः[20]।।

अन्यत्र कविना भणितं यत् दमयन्ती यदि सर्वगुणान्वितं नलं न वृणुते तर्हि सा मूर्खा –

नैव नः प्रियतमोभयथासौ यद्यमुं न वृणुते वृणुते वा।
एकतो हि धिगमूमगुणज्ञामन्यतः कथमदः प्रतिलम्भः[21]।।

नारायणेन अस्य व्याख्यानकाले वर्णितम्–'कुतः हि यस्मादेकतोऽवरणपक्षे अमूं भैमीगुणज्ञां धिक्। मत्तो नलगुणाधिक्यं न जानाति सा कथं वरणीया। अन्यतो वरणपक्षे नलगुणाधिक्यज्ञानेन वृते नले अदः प्रतिलम्भः अमुष्या लाभो मम कथम्'। अतः राजा नलः गुणानामाकरः। तस्य गुणेषु आकृष्टा न केवलं मानवी, देवी अपि अनुरक्ता आसीत्। तस्मात् नैषधकारेण उक्तं यत् देवराजस्य पत्नी इन्द्राणी अपि नलस्य गुणश्रवणेन पुलकिता अस्ति[22]। पतिव्रता पार्वती पतिव्रतभङ्गभयात् नलस्य गुणानां श्रवणं न करोति[23]। तृतीये सर्गे हंसः अवदत् नलस्य गुणानि अगणितानि–

यदि त्रिलोकी गणना परा स्यात्तस्यास्समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।
पारेपरर्द्धं गणितं यदि स्यात् गणेयनिश्शेष गुणोऽसि स स्यात्[24]।।

नलवत् दमयन्ती अपि गुणानां समुद्रात् उत्पन्ना[25]। महाकविः 'गुणलोभवत्याः'[26] इत्यनेन विशेषणेन दमयन्तीं विभूषितवान्। गुणी नलः तस्मात् दमयन्त्याः गुणेषु मुग्धः। न केवलं नलः,इन्द्रादिदेवाः अपि गुणेषु आकृष्टाः सन्तः दमयन्तीं विवाहार्थं स्वयंवरे आगतवान्–

आखण्डलो दण्डधरः कृशानुः पाशीति नाथैः ककुभां चतुर्भिः।
भैम्येव बद्ध्वा स्वगुणेन कृष्टैर्यये तदुद्वाहरसान्न शेषैः[27]।।

वैदिकयुगेऽपि वरेण सह कन्यायाः गुणमपि विचार्यते स्म। आश्वलायनगृह्यसूत्रानुसारम्[28] विवाहयोग्या कन्या स्यात् बुद्धिमती, सुन्दरी, सच्चरित्रवती, शुभलक्षणयुक्ता, सुस्वास्थ्यस्य अधिकारिणी च। शांख्यायनगृह्यसूत्रानुसारं[29] कन्या शुभलक्षणयुक्ता भवेत्। इदं शुभलक्षणं शारीरिकक्षेत्रे मानसिकक्षेत्रे च प्रयोज्यम्। अतः दृश्यते यत् वैदिकयुगे गुणेन सह रूपस्य अपि ग्रहणयोग्यता आसीत्। परन्तु परवर्तिनि नैषधयुगे गुणात् रूपस्य आधिक्यम् परिलक्षितम्। तस्मात् नैषधचरिते नल–दमयन्त्योः रूपवर्णना महाकविना बहुत्र दीयते। परिशेषे वक्तुं शक्यते यत् वैदिककालादारभ्य अद्यापि विवाहे रूपेण सह गुणमपि विचार्य्यते।

विवाहार्थं कन्यायाः निकटे दूतप्रेषणम् अतीव प्रचलिता रीतिः। *ऋग्वेदे* तस्मात् दृश्यते अश्विद्वयः सूर्ययोः विवाहे अग्निः दूतः आसीत्–'सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः'[30]। सूत्रकालेऽपि तस्य प्रचलनं दृश्यते[31]। मध्यकाले तथा लौकिकसंस्कृतसाहित्ये अपि दूतस्य प्रेषणं दृश्यते। तस्मात् *नैषधचरिते* उपलभ्यते यत् नलः दमयन्तीं विवाहार्थं दूतरूपेण हंसं तां निकषा प्रेषितवान्–

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम्।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथापनीयते[32]।।

अपि च इन्द्रादयः देवाः अपि दमयन्तीं कामयन्तः स्वयं नलं हि दूतरूपेण तां निकषा प्रेषितवन्तः। तथोक्तं श्रीहर्षेण–

पाणिपीड़नमहं दमयन्त्याः कामयेमहि महीमिहिकांशो।
द्यूतमत्र कुरु नः स्मरभीतिं निर्जीतस्मय!चिरस्य निरस्य[33]।।

टीकाकारेण नारायणेन प्रोक्तम्–'...अत्र भैमीविवाहोत्सवे विषये नोऽस्माकं दूत्यं कुरु'। ते देवाः केवलं न नलं,अपि तु प्रत्येकं देवाः पृथक् पृथक् दूतान् दमयन्त्याः निकटे प्रेषितवन्तः–

परेतभर्तुर्मनसेव दूतीं नभस्वतेवानिलसख्यभाजः।
त्रिस्तोत्रसेवाम्बुपतेस्तदाशु स्थिरास्थमायातवतीं निरास्थम्[34]।।

अस्मिन् काव्ये वर्णिता विवाहपद्धतिः अपि वैदिकानुसारमभवत्। येन कारणेन राजा भीमः कन्यायाः विवाहार्थं शुभसमयनिर्वाचनाय ज्योतिषाणां निकटे गतवान्। ते दोषरहितं शुभलग्नं निर्दिष्टवन्तः–

निरीय भूपेन निरीक्षितानना शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम्।
गुणैररीनैरुदयास्तनिस्तुषं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे[35]।।

विवाहस्य पूर्वं कुलाचाराणुसारेण दमयन्ती स्नानं कृतवती[36]। अनन्तरं नववस्त्रस्य परिधानं कृत्वा विविधालंकारैः सज्जिता आसीत्–

अवापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः।
क्षणेन सख्यश्चिरशिक्षणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः[37]।।

तदतिरिक्तं महाकविना उक्तं यत् अलंकारेण दमयन्ती न शोभते, वरं दमयन्त्यै परिहितम् आभूषणं हि शोभते[38]। दमयन्तीवत् नलोऽपि विवाहस्य पूर्वं सेवकैः सज्जितः विविधालंकारैः–

तथैव तत्कालमथानुजीविभिः प्रसाधनासञ्जनशिल्पपरागैः।
निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि विभोर्विभूषणा[39]।।

अस्य श्लोकस्य व्याख्यायां नारायणेन कथितं यत् भैमीवत् राजा नलोऽपि स्नानादिकं कृत्वा विविधालंकारैः विभूषितः आसीत्–'तथैव भैम्या वैदिकोदरे यथा मङ्गलस्नानानन्तरं प्रसाधनासञ्जनं भूषणकरणं तत्सम्बन्धि शिल्पं विज्ञानकौशलं तस्य परागैः(अ)शेषविशेषज्ञैः शृङ्गारिभिरनुजीविभिः सेवकैर्निजस्य स्वस्य विभोः स्वसामिनो नलस्यापि पाणिग्रहणोचिता विवाहकालयोग्या विवाहरूपोत्सवयोग्या वा विभूषणा कृता रचिता'। अतः सूच्यते यत् विवाहस्य प्राक् वधूवराभ्यां शुभस्नानं,नववस्त्रादिधारणम्,अलंकारग्रहणं च श्रीहर्षस्य काले रीतयः आसन्। इमे रीतयः अद्यापि प्रचलिताः। वैदिककालेऽपि एतासां रीतीनां परिपालनं विवाहे आसीत्[40]।

अतःपरं सुसज्जितः सन् पूर्णकलसादीन् दृष्ट्वा महर्षिगौतमं पुरस्कृत्य रथारोही वरः नलः विवाहार्थं विदर्भनगरीमुद्दिश्य यात्रामकरोत् –

वृतः प्रतस्थे स रथैरथो रथी गृहान्विदर्भाधिपतेर्धराधिपः।
पुरोधसं गौतममात्मवित्तमं द्विधा पुरस्कृत्य गृहीतमङ्गलः[41]।।

एतेन श्लोकेन स्पष्टं यत् विवाहानुष्ठानं कन्यागृहे एव भवति। *शाङ्ख्यायनगृह्यसूत्रे*[42] वरेण वधूगृहगमनस्य वर्णना दृश्यते। विदर्भराज्ये प्रविष्टस्य नलस्य स्वागतमकरोत् भीमपुत्रः दमः[43]। राजा भीमः अतःपरं कन्यायाः विवाहं यथाविधि कुर्य्यात्–

यथावदस्मै पुरुषोत्तमाय तां स साधुलक्षीं बहुवाहिनीश्वरः।
शिवामथस्वस्य शिवायनन्दनां ददे पतिः सर्वविदे महीभृताम्[44]।।

सर्वप्रथमं नलः वधूगृहे प्रविश्य मधुपर्कस्य आस्वादनं कृतवान्-

असिद्वदद्यन्मधुपर्कमर्पितं स तद्व्याधात्तर्कमुदर्कदर्शिने।
यदेष पास्यन्मधु भीमजाधरं मिषेण पुण्याहविधिं तदाकृत"[45]।।

मधुपर्कविषये नारायणेन भणितम्-'स नलः अर्पितं भीमेन दत्तं सहमिश्रितकांस्यपात्रस्थदधिमधुघृतरूपं मधुपर्कं यदसिस्वददास्वादितवान् तदुदर्कदर्शिने विवाहोत्तरफलपरिपाकभूताधरचुम्बनादिविचारिणे लोकायेति तर्कमूहं व्यधच्चक्रे'। अर्थात् विवाहस्य प्राक् नलाय कांस्यपात्रे दधिमधुघृतानां मिश्रणं मधुपर्कं दत्तम्। इदं अतीव पुण्यकर्म। तस्मात् मल्लिनाथेन भणितम्-'विवाहदिनरूपपुण्याहे मधुपर्कपानच्छलेन भाविन्या अधरमधुपानक्रियायाः शुभारम्भं चकोरेत्यर्थः'। आपस्तम्बानुसारं द्वयोः पदार्थयोः मिश्रणमेव मधुपर्कम्[46]। वस्तुतः कन्यादानकर्ता मन्त्रोच्चारणपूर्वकं वरहस्तेमधुपर्कंयच्छति। अनन्तरं वरः "मधुवाता ऋतायते मधु क्षरति सिन्धवः, मधुनक्तमुतोषसो, मधुमान्नो वनस्पतिः"[47] - इति मन्त्रं पठित्वा तत् खादति। अस्य कर्मणः पश्चात् विवाहमण्डपे सुसज्जितां दमयन्तीम् आनयित्वा तयोः अर्थात् वधूवरयोः हस्तबन्धनं कृतं कुशैः-

वरस्य पाणिः परघातकौतुकी वधूवरः पङ्कजकान्तितस्करः।
सुराज्ञि तौ तत्र विदर्भमण्डले ततो निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः[48]।।

नारायणस्यमते विवाहे इयं रीतिः विदर्भराजस्य देशाचारः-'कुशैः पणिबन्धनं देशाचारः'। अनन्तरं वरः कन्यायाः वामपार्श्वे वसति-'करग्रहे वाम्यमधत्त यस्तयो'[49]। अस्मिन्नेव श्लोके अग्निप्रदक्षिणस्य कथापि उल्लिखिता। अतः मल्लिनाथेन प्रोक्तम्-'अग्निप्रदक्षिणीकृत्येत्यादिशास्त्रार्थोऽनुष्ठितः इत्यपरार्थः'। ततःवधूवरयोः वस्त्रयोर्मध्ये ग्रन्थिबन्धनम् अकरोत् पुरोहतः -

प्रियांशुकग्रन्थिनिबद्धवाससं तदा पुरोधा विदधे विदर्भजाम्।
जगाद विच्छिद्य पटं प्रयाख्याता नलादविश्वासमिवैष विश्वजित्[50]।।

नारायणेन प्रोक्तम्-'तदा वह्निसंनिधिकाले पुरोधा गौतमो विदर्भजां भैमीं प्रियस्य नलस्यां शुकेन सह ग्रन्थिना निबद्धं वासो यस्यास्तामेवंविधां विदधे चकार'। अग्निप्रदक्षिणविषये तथा अग्निपरिणयनविषये कल्पसूत्रेषु विस्तृतालोचना प्राप्यते[51]। अपि च ग्रन्थिबन्धनस्य विषये *'संस्कार कौस्तुभ'*[52], *'संस्कार प्रकाश'*[53] च इति ग्रन्थद्वये वर्णना प्राप्यते। अनन्तरं वरस्य निर्देशानुसारं दमयन्ती ध्रुवनक्षत्रस्य दर्शनमकरोत्-

ध्रुवावलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा निर्दिश्य पत्याभिदधे विदर्भजा।
किमस्य न स्यादनिमाक्षिसाक्षिकस्तथापि तथ्यो महिमागामोदितः[54]।।

नारायणानुसारं अत्र नलः वेदोक्तं निर्देशं अनुसृतवान्। एतेन स्पष्टं यत् वरस्य संकेतानुसारं वध्वा ध्रुवनक्षत्रस्य दर्शनं वैदिकरीतिः एव। अतः नारायणेन कथितः-"अस्य ध्रुवस्यानिमा सूक्ष्मप्रमाणत्वमक्षिसाक्षिको नेत्रगोचरः किं न स्यात्,अपि तु स्यादेव यद्यपि, तथापि स्वयं दर्शनयोग्यत्वेऽप्यागमोदितो महिमा वेदोक्तं गौरवं

सत्यः। ...श्रुत्युक्तं हि प्रमाणमित्यर्थः। श्रुतिर्हि ततो वधूं 'सूर्यमुदीक्षस्व' इति ध्रुवे दर्शिते 'ध्रुवं पश्यामि प्रजां विन्देय' इति सा ब्रूयाद्"। अथ सा दमयन्ती अरुन्धतीं दृष्टवती–

ध्रुवेन सादर्शि वधूरुन्धतीं सतीमिमां पश्य गतामिवाणुताम्।
कृतस्य पूर्वं हृदि भूपतेः कृते तृणीकृतस्वर्गपतेर्जनादिति[55]।।

काणेमहोदयेन तस्य 'धर्मशास्त्र का इतिहास' इति ग्रन्थस्य 'विवाहविधिः' इति अध्याये वैदिकसाहित्यस्य उदाहरणं दत्त्वा विवाहे वध्वा ध्रुवारुन्धतीनक्षत्रद्वयस्य दर्शनस्य कथा उल्लिखिता[56]।

वैदिकविवाहे अग्नौ कन्यया लाजाहुतिः अभवत्[57]। नैषधकालेऽपि विवाहे लाजाहुतिः आसीत्। तस्मात् दृश्यते नल–दमयन्त्योः विवाहे दमयन्ती लाजाहुतिम् अकरोत्–

प्रसूनता तत्करपल्लवस्थितैरुडुच्छविव्योंघ्नि विहारिभिः पथि।
मुखेऽमराणामनले रदावलेरभाजि लाजैरनयोजिझते ह्युतिः[58]।।

अतः वक्तुं शक्यते यत् लाजाहुतिः वैदिकालादारभ्य वर्तमाने अपि प्रचलिता। एवम्प्रकारेण विदर्भराजः भीमः वैदिकविधिमनुसृत्य कन्यायाः विवाहं दत्तवान्। अतः महाकविना उच्यते दमयन्ती नलौ विवाहे वैदिकसम्मतकार्यकणनाय किमपि कर्म शीघ्रं सम्पादयितुं न शक्यौ–

बभूव न स्तम्भविजित्वरी तयोः श्रुतिक्रियारम्भपरम्परात्वरा।
न कम्पसम्पत्तिमलुम्पदग्रतः स्थितोऽपि वह्निः समिधा समेधितः[59]।।

मल्लिनाथेन निगदितम्–'श्रुत्युक्तकर्मजातानां शीघ्रसम्पादनेच्छायां सत्यामपि सात्त्विकस्तम्भवशात् तौ वधूवरौ किमपि कर्म शीघ्रं सम्पादयितुं न समर्थौ इति भावः'। अस्य श्लोकस्य परस्मिन् श्लोके नैषधकारेण कथितं यत् शची–इन्द्रयोः विवाहे महर्षिः वृहस्पतिः यदाचारानुष्ठानं कृतवान्, तदेवाचारानुष्ठानं पुरोहितः नल–दमयन्त्योः विवाहे अकरोत्–

दमस्वसुः पाणिममुष्य गृह्णतः पुरोधसा संविदधेतरां विधेः।
महर्षिणेवाङ्गिरसेन सङ्गता पुलोमजामुद्वहतः शतक्रतोः[60]।।

अतः श्रीहर्षस्य एतेन श्लोकद्वयेन स्पष्टीभवति यत् दमयन्ती–नलयोः विवाहः वैदिकनियमानुसारं संघटितः।

विवाहस्य अनन्तरं दमयन्ती–नलयोः आगमनं कौतुकागारे अभवत्[61]। यत्र वधूवरभ्यां सह अन्येषां जनानां मध्ये कौतुकसम्भाषणं दृश्यते। इयं रीतिः अद्यापि पालिता स्यात्। अथ वरः कतिदिनं वधूगृहे एव वसति। परन्तु दिवसत्रयं धर्मशास्त्रस्य विधिमनुसृत्य तौ सम्भोगं न कृतवन्तौ–

तथाशनाया निरशेषि नो ह्रिया न सम्यगालोकि परस्परक्रिया।
विमुक्तसंभोगमशायि सस्पृहं वरेण वध्वा च यथाविधित्र्यहम्[62]।।

अस्य विषये नारायणः अवदत्-'एकत्र शयनं त्रिरात्रं ब्रह्मचर्यं च इति विधिः'। अपि च दृश्यते नलः दमयन्त्या सह भीमगृहे षट् पञ्च वा दिनानि अतिवाहितवान्[63]। अनन्तरं महाराजः नलः दमयन्तीं नीत्वा स्वगृहे प्रस्थानं करोति। प्रस्थानकाले दुःखितः पिता भीमः भारतीयपरम्परानुसारं विवाहितजीवनं यथा सुखी स्यात् तदर्थं कन्यायै उपदेशदानमपि अकरोत्-

पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमा धनं मनस्तुष्टिरथाखलं नलः।
अतःपरं पुत्रि न कोऽपि तेऽमित्युदश्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम्[64]॥

महाकविः कालिदासः अपि शकुन्तलायाः पतिगृहगमनकाले कन्यामुद्दिश्य उपदेशं दत्तवान्। यथा-

शुश्रूश्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भागेष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः[65]॥

श्रीहर्षकालीने समये यौतूकव्यवस्थायाः प्रचलनम् आसीत्। परन्तु कविः अत्र दक्षिणारूपेण तस्य उल्लेखं कृतवान्-

बहूनि भीमस्य वसूनि दक्षिणां प्रयच्छतः सत्त्वमवेक्ष्य तत्क्षणम्।
जनेषु रोमाञ्चमितेषु मिश्रतां ययुस्तयोः कण्टककुड्मलश्रियः[66]॥

विदर्भराजः भीमः जामात्रे नलाय यौतूकरूपेण अनेकानि वस्तूनि अयच्छत्। यथा-चिन्तामणिमाला[67], कृपाणः[68], छुरिका[69], रथः[70], अश्वः[71], पतद्ग्रहः[72], भोजनपात्रम्[73], गजराजः[74] इति। अन्तिमे कविः अकथयत् यत् भीमेन दत्तानां यौतूकानां संख्यागणनायां प्रयत्नवान् कोऽपि जनः समर्थः नाभवत्-

न तेन वाहेषु विवाहदक्षिणीकृतेषु सङ्ख्यानुभवेऽभवत् क्षमः।
न शातकुम्भेषु न मत्तकुम्भिषु प्रयत्नवान् कोऽपि न रत्नराशिषु[75]॥

अतः दृश्यते यत् श्रीहर्षः संस्कारेषु विवाहसंस्कारस्य सुविस्तृतं वर्णनं दत्तवान्। अपि च सम्पूर्णः विवाहः धर्मानुसारम् अभवत्। अर्थात् कविः विवाहसम्पर्कितं प्रायः सर्वशास्त्रस्य अनुशीलनं कृत्वा नल-दमयन्त्योः विवाहं दत्तवान्। यत् पठित्वा पाठकः अतीव सहजेन विवाहस्य सम्पूर्णविधेः आयत्तं करिष्यति इति।

ग्रन्थसूची

दत्त, समीर कुमार (सम्पा.), *नैषधचरितम्* (प्रथमः सर्गः), कलकाता: संस्कृत वुक डिपो, 2002.
पत्न, मोहनदेव (सम्पा.), *नैषधीयचरितम्* (प्रथमः सर्गः), दिल्ली:मोतीलाल बनारसी दास.
आचार्य, नारायण राम (सम्पा.), *नैषधीयचरितम्*, वाराणसी:चौखम्बा विद्याभवन, 2012.
विद्यारत्न, निवारणचन्द्र (सम्पा.), *नैषधचरित*, कलकाता:ववाटप्रेस, 1816.

तिवारी, श्यामलेश कुमार (सम्पा.), *नैषधीयचरितम्*, चौखम्वा सुरभारती प्रकाशन, 2017.
दत्त, शिव (सम्पा.), *नैषधीयचरित*, मुम्वाइःनारायण सागर प्रेस, 1912
शास्त्री, देवर्षि सनाढ्य (सम्पा.), *नैषधीयचरितम्*, चौखम्वा कृष्णदास एकाडेमी, 2013.
मिश्र, गुमान, *नैषधकाव्य*, श्रीवेङ्कटेश्वर यन्त्रालय, 1952.
शुक्ल, चण्डिकाप्रसाद, *नैषधपरिशीलन*, इलाहावाद:हिन्दुस्थानी एकाडेमी, 1992.
द्विवेदी, श्री महावीरप्रसाद, *नैषधचरितचर्चा*, लखनउःगंगा ग्रन्थागार, 1933.
झा, देवनारायण, *नैषध समीक्षा*, नाग पावलिशार्स, दिल्लीः
द्विवेदी, इच्छाराम, *नलचरितम्*, दिल्लीःनाग प्रकाशक, 1660
दत्त जोशी, मथुरा, *नैषध का काव्यशास्त्रीय अध्ययन*, दिल्लीःपरिमल पब्लिकाशन्स, 2015
मुखोपाध्याय, गोविन्दगोपाल, *वैदिक साहित्य संकलन*, वर्धमान विश्वविद्यालयः1365.
वन्ध्योपाध्याय, श्रीमति शान्ति, *वैदिक साहित्येर रूपरेखा*, कलकाताःसंस्कृत पुस्तक भाण्डार, 2003.
वसु, डॉ. योगीराज, *वेदेर परिचय*, कलकाताः, फार्मा के एल एम प्राइभेट लिमिटेड, 2010.
सूर्यकान्त, *वैदिक कोश*, वाराणसीःचौखम्वा कृष्णदास एकाडेमी, 2012.
मिश्र, आचार्य श्रीगंगाधर, *वैदिक एवं वेदोत्तर भारतीय संस्कृति*, चौखम्वा सुरभारती प्रकाशन, 2005.
शास्त्री, डॉ. सुखदा, *वैदिक शब्दों का अर्थपरिशीलन.*
पाठक, मनोदत्त, *वैदिक ज्ञान विज्ञान कोश*, राजपाल, 2011.
शर्मा, लीलाधर, *भारतीय संस्कृति कोश*, राजपाल, 2013.
त्रिपाठी, गयाचरण, *वैदिक देवता*, डी. के. प्रिन्ट ओयाल्ड, 2011

सन्दर्भ

1. *ब्रह्मसूत्रभाष्यम्* - 1/1/4
2. *धर्मशास्त्र का इतिहास*, (प्रथमः भागः),पृ-176
3. *नैषधचरितम्* -15/7
4. *ऋग्वेदः* - 10/85/36,5/3/2,5/28/3
5. *शतपथब्राह्मणम्* -5/2/1/10
6. *शतपथब्राह्मणम्* -2/5/11/12
7. *नैषधचरितम्* -14/62
8. *हिरण्यकेशिगृह्यसूत्रम्* - 1/19/2
9. *आपस्तम्बधर्मसूत्रम्* - 2/5/11/15
10. *वशिष्ठधर्मसूत्रम्* - 8/1
11. *मानवगृह्यसूत्रम्* - 1/7/8
12. *नैषधचरितम्* -4/119
13. *नैषधचरितम्* -10/1
14. *ऋग्वेदः* - 10/27/12
15. *ऋग्वेदः* - 10/85/26,27,46
16. *शतपथब्राह्मणम्* - 4/1/5

17. *शतपथब्राह्मणम्* - 13/2/9/8
18. *आश्वलायनगृह्यसूत्रम्* - 1/5/2
19. *आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्* - 1/3/20
20. *नैषधचरितम्* -10/1
21. *नैषधचरितम्* -5/69
22. *नैषधचरितम्* -3/28
23. *नैषधचरितम्* -3/29
24. *नैषधचरितम्* -3/40
25. *नैषधचरितम्* -2/19
26. *नैषधचरितम्* -3/115
27. *नैषधचरितम्* -10/10
28. *आश्वलायनगृह्यसूत्रम्* - 1/5/3
29. *शांख्यायनगृह्यसूत्रम्* - 1/5/6
30. *ऋग्वेदः* - 10/85/8
31. *शांख्य.* -1/6/1-4; *बौधा.*-1/1/14-15; *आपस्तम्ब.*-2/16,4/1,2,7
32. *नैषधचरितम्* -2/47
33. *नैषधचरितम्* -5/99
34. *नैषधचरितम्* -6/109
35. *नैषधचरितम्* -15/8
36. *नैषधचरितम्* -15/19
37. *नैषधचरितम्* -15/26
38. *नैषधचरितम्* -15/27
39. *नैषधचरितम्* -15/57
40. *आपस्तम्ब.*-4/8, *पारस्कर.*-1/4, *गोभिल.*-2/1/17-18, *मानव.* - 1/11/4-6
41. *नैषधचरितम्* -16/1
42. *शाङ्ख्यायनगृह्यसूत्रम्* - 1/12/1
43. *नैषधचरितम्* -16/10
44. *नैषधचरितम्* -16/12
45. *नैषधचरितम्* -16/13
46. *आपस्तम्ब.* - 13/10
47. *ऋग्वेदः* - 1/90/6
48. *नैषधचरितम्* -16/14
49. *नैषधचरितम्* -16/35
50. *नैषधचरितम्* -16/37

51. *शांख्यायन.*-1/3/4,*हिरण्यकेशि.*-1/20/81
52. *संस्कार कौस्तुभ*-पृ-799
53. *संस्कार प्रकाश*-पृ-829
54. *नैषधचरितम्* -16/38
55. *नैषधचरितम्* -16/39
56. *आश्वलायन.*-1/7/7/22, *मानव.*-1/14/9, *भारद्वाज.* - 1/9, *आपस्तम्ब.*-6/12,*पारस्कर.*-1/8, *गोभिल.*-2/3/8-12
57. *आश्वलायन.*-1/7/7-13, *पारस्कर.*-1/6, *आपस्तम्ब.*-4/3-5, *शांख्यायन.* - 1/13/15-17, *गोभिल.*-2/2/5, *मानव.* - 1/11/11, *बौधायन.*-1/4/25)
58. *नैषधचरितम्* -16/40
59. *नैषधचरितम्* -16/44
60. *नैषधचरितम्* -16/45
61. *नैषधचरितम्* -16/46
62. *नैषधचरितम्* -16/47
63. *नैषधचरितम्* -16/113
64. *नैषधचरितम्* -16/118
65. *अभिज्ञानशकुन्तलम्* - 4/18
66. *नैषधचरितम्* -16/43
67. *नैषधचरितम्* -16/17
68. *नैषधचरितम्* -16/19
69. *नैषधचरितम्* -16/21
70. *नैषधचरितम्* -16/23
71. *नैषधचरितम्* -16/25
72. *नैषधचरितम्* -16/27
73. *नैषधचरितम्* -16/29
74. *नैषधचरितम्* -16/31
75. *नैषधचरितम्* -16/34

1. सहकारी अध्यापकः, संस्कृत-विभागः,
शैलजानन्द-फाल्गुनी-स्मृति-महाविद्यालयः
2. सहकारी अध्यापकः, संस्कृत-विभागः,
शैलजानन्द-फाल्गुनी-स्मृति-महाविद्यालयः
खयराशोलः, वीरभूमः, पश्चिमवङ्गः
Mob. – 7980375017

'पञ्चस्तवी' स्तोत्र में प्रतिपादित शाक्त-आगम की प्रमुख अवधारणाएँ

डॉ. रमेश चन्द्र नैलवाल

प्रस्तावना

कश्मीर मण्डल में विविध सम्प्रदायों में भक्ति का अत्यन्त महत्त्व है। प्रायः सभी सम्प्रदायों में भक्तिपरक रचनाएं प्राप्त होती है। जिनमें भक्ति के विविध तत्त्वों का समावेश प्राप्त होता है। इन सभी सम्प्रदायों में उपास्य, उपासक एवं उपासना की भिन्नता होते हुए भी अनेक तत्त्वों में समरूपता प्राप्त होती है। समावेशमयी भक्ति का स्वरूप सभी सम्प्रदायों में प्राप्त होता है; इस पराद्वयभक्ति की चरम प्रतिष्ठा की पृष्ठभूमि में समावेश की अवधारणा ही है।[1] जब चित् ज्ञान का कर्तृत्वरूप स्वातन्त्र्य का प्राधान्य एवं पारतन्त्र्य का अप्राधान्य होता है, तो वह समावेशावस्था कही जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार जिस अवस्था में जीव अपने पारतन्त्र्य को गौण करके शिवतत्त्व में समावेश प्राप्त करता है; वह अवस्था समावेश की अवस्था होती है। आचार्य अभिनवगुप्त भक्ति को व्याख्यायित करते हुए उसे पूर्ण समर्पण का अपर पर्याय कहते हैं, जो एकात्म्यप्राप्ति रूप ही है। उस भक्ति का फल दास्यभाव है। जिसका अभिप्राय अभिनवगुप्त ने परमेश्वर रूप स्वातन्त्र्य की पात्रता कहा है। यह प्रह्वीभाव ही भक्ति का सार है—'दीयते अस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितम् इति दासः। तस्य भावः इत्यनेन परमेश्वररूपस्वातन्त्र्यपात्रता उक्ता।'[2] काश्मीरस्थ दर्शनों में भक्ति का इतना अप्रतिम स्थान है कि भक्त की कोटि साक्षात् शिव की है। साक्षात् शिवभाव को प्राप्त होकर जो व्यक्ति परमशिव की उपासना करता है; वह अवश्य ही अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा करता है।[3]

मुख्य विषय वस्तु

पञ्चस्तवी स्तोत्र में मुख्य रूप से शक्तितत्त्व परमशक्ति के रूप में वर्णित है। परमशक्ति के विविध अभिधानों का वर्णन करते हुए स्तोत्रकार कहते हैं कि हे माता! चन्द्रमा, विष्णु, ब्रह्मा, प्रकृति, जीवात्मा, परमात्मा, सूर्यदेवता, परम शिव का स्वरूप, बौद्धों के श्रेष्ठ गुरु महात्मा बुद्ध, आकाश, वायु, शिव और शक्ति इन विकल्पात्मक शास्त्रोक्त नाम से सन्त जन आप महात्रिपुरसुन्दरी को ही पुकारते हैं। भाव है कि जितने भी नाम संसार में है वह सभी नाम आप जगद्रूपपिणी माता के ही हैं।[4] आगम परम्पराओं में शक्तिपात सिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्व है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भक्तकवि कहता है कि पराशक्ति भगवती के शक्तिपात से पवित्र बने हुए भाग्यशाली भक्त जन सहज दयामय सद्गुरु के कटाक्ष से अपने परमधाम में प्रविष्ट होकर स्वात्म स्वरूपात्मिका भगवती को सदा के लिए प्राप्त करते हैं, जो भगवती समस्त अन्धकार को काटने से अत्यन्त करुणामयी है और क्षण मात्र में भक्ति की आत्मा को शिवमयी बनाती है और इसलिए परानन्द रूप को प्राप्त होती है।[5] शक्तिपात का सिद्धान्त अनुग्रहात्मक है; जिसमें भक्त को बाह्य साधनों की आवश्यकता तक नहीं रहती।

परा पारमेश्वरी परमशक्ति के पञ्चकृत्यों एवं विविध स्वरूपों को व्याख्यायित करते हुए भक्त कहता है कि हे समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली माता! आप चिच्चमत्कृतिमयी स्वातन्त्र्यशक्ति एक होकर भी विश्वमयदशा में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और आत्मा—इन आठ स्वरूपों में विकसित हुई हैं। यद्यपि आप अपने ही ज्ञानक्रियात्मक स्तनरूपी रश्मिचक्रों की व्याप्ति से अपने विश्वव्यापी असङ्ख्यशक्तियों से झुकी भी हैं, तथापि ऐसा होकर भी आप समस्त जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह करने का कार्य अनायास में धारण करते हैं।[6] अतः मुझे भी अवश्य धारण करके रक्षा कीजिए; अर्थात् अपने अनुत्तर धाम में प्रविष्ट करायें। यहाँ स्तोत्रकार ने परमशक्ति की अनन्त शक्तियों एवं भक्त के प्रति उनके अनुग्रह स्वभाव को प्रस्तुत किया है; जिसमें भक्त सदा उनके अनुग्रह को प्राप्त करने हेतु प्रतिबद्ध रहता है। सामान्य मनुष्य के लिए परा पारमेश्वरी का यह अनुग्रह ही उपादेय है।

शाक्तागम में बीजाक्षर महत्त्व

शाक्तपरम्परा के प्रमुख स्तोत्रों में पञ्चस्तवी नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत स्तोत्र में त्रिपुरसुन्दरी का परमतत्त्व के रूप में प्रतिपादन है। शाक्त परम्परा में बीजाक्षरों का महत्त्व है। भक्तकवि देवि के सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे अभीष्ट वर को देने वाली देवी! जिस व्यक्ति में कोई भयप्रद वस्तु शेर साँप आदि देख कर बिना किसी अभिप्राय से भयवशात् 'ऐं' 'ऐं' अक्षर का बिन्दु के बिना ही उच्चारण किया हो ऐसे व्यक्ति पर भी यदि आप अनुग्रह करें तो निःसन्देह उस व्यक्ति के मुख-कमल से उसी क्षण ऐसी कविता प्रकट होती है जो कि अमृत रस धाराओं की परिचायक होती है। अभिप्राय यह है कि भगवती के प्रथम बीजाक्षर 'ऐं' की इतनी महिमा है कि यदि कोई व्यक्ति भूल से भी 'ऐं' 'ऐं' का ही उच्चारण करे तो उसे भगवती अपूर्व कवित्वशक्ति प्रदान करती है।[7]

इसी प्रकार 'क्लीं' बीजाक्षर का भी मन्त्र-जप की दृष्टि से महत्त्व बताते हुए भक्त कवि कहता है कि हे देवि! कलना रहित 'क्लीं' बीजाक्षर कामराज नाम से अभिहित है। इस मन्त्र का जप यदि कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इस संसार में करे तो वह सारस्वत क्लीं बीजाक्षर का साक्षात्कार करके सरस्वती देवी के अनुग्रह का पात्र बनता है।[8] यहाँ बीजाक्षर अक्षरों से ईश्वर साधना का उपाय भक्त कवि प्रस्तुत कर रहे हैं। तृतीय बीजाक्षर 'सौ' वर्णन करते हुए भक्त कवि कहता है कि उस 'सौ' को मन से नमस्कार है, जिसका प्रभाव ज्ञानी जनों ने क्षणमात्र में देखा है। जिसके फलस्वरूप उनकी वाणियों में निरर्गल कवित्वशक्ति प्राप्त होती है। वह सरस्वती को सिद्ध कराने वाला ('सौ') मन्त्र अज्ञान रूपी जल को भस्म करने में वाडवाग्नि के समान बन जाता है, तथा उस सारस्वत ('सौ') की छाया का अनुकरण करने वाला (गौ) शब्द, जो वाणी के अर्थ में प्रयुक्त होता है, 'ग' के बिना 'औ' के रूप से ही सिद्धिप्रद बन जाता है।[9] अर्थात् सरस्वती का यह बीजाक्षर योगक्रिया करने के बिना ही अभीष्ट सिद्धि प्रदान करता है। इस प्रकार बीजाक्षरों के मन्त्र जप का महत्त्व बताते हुए भक्त कहता है कि हे देवि! 'ऐं' 'क्लीं' 'सौ' इन बीजाक्षरों में से प्रत्येक निष्पाप बीजाक्षर व्यञ्जन सहित ('ऐं' 'क्लीं' 'सौं'), व्यञ्जन रहित ('ऐ' 'ई' 'औः') या कूटस्थ + ऐंक्लींसौः') अथवा भिन्न-क्रम में ठहरा हुआ ऐं, अथवा क्लीं या केवल सौः, या उलटे क्रम से (सौः – क्लीं – ऐं) जिस किसी विधि से जो कोई व्यक्ति ध्यान करता है अथवा उसका जप करता है, उन मनुष्यों की सभी अभिलाषाओं को वह 'बीजाक्षर' उसी क्षण सफल बना देता है।[10]

त्रिपुरा देवी का महत्त्व

त्रिपुरा देवी का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए भक्तकवि कहता है कि ब्रह्म, विष्णु, रुद्र – तीन देवताओं का वर्ग, 'ऋक्', 'यजु', 'साम'—वेदत्रयी, अग्नि देवता की तीन शक्तियाँ—'गार्हपत्य, आहवनीय, दाक्षिणाग्नि', तीन स्वर – 'उदात्त, अनुदात्त, स्वरित', तीन लोक – 'भूः, भुवः, स्वः', गायत्री के तीन पद – 'भूः, भुवः, स्वः', ज्यौतिष शास्त्र में वर्णित तीन पुष्कर-योग, तीन ब्रह्म – 'ॐ, तत्, सत्' और तीन वर्ण – 'अ, उ, म' – इस प्रकार संसार में जो भी तीन रूप वाली वस्तु नियमित कही गई है; वह सभी 'त्रिपुरादेवि' के ही बोधक हैं।[11] अर्थात् तीन स्वरूपों को पूर्ण करने वाली ये सभी भगवती के नाम के ही परिचायक है। शाक्तपरम्परा में त्रिपुरा देवि को अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है, भक्तकवि उनके स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहता है कि हे देवि आप मायारूप हैं, कुण्डलिनि के स्वरूप वाली हैं, मधुमती नामक योगसम्बन्धी भूमिका हैं, (इस मधुमती भूमिका में जाकर योगियों के सम्मुख अपनी करणेश्वरी देवियाँ वर देने ले लिए उपस्थित हो जाती हैं।) आप काली भगवती हैं; आप निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्तातीता नामक पाँच कलाओं का स्वरूप बनी हुई हैं। 'न'वर्ण से लेकर 'फ'वर्ण तक मालिनी रूप हैं। दस महाविद्याओं में से आप मातङ्गी विद्या स्वरूप हैं। आप विजया, जया, भगवती, देवी, पार्वती तथा शम्भु-पत्नी हैं। आप शक्तिस्वरूप हैं। शङ्कर भगवान् की अर्धाङ्गिनी है। तीन नेत्रों वाली हैं। आप सरस्वती हैं। आप भैरवनाथ की शक्ति हैं। तीन अवस्थाओं को पूर्ण करने वाली त्रिपुरा हैं। भोग तथा मोक्ष देने वाली हैं। आप माता जगज्जननी हैं और भेदरूप माया का नाथ करने वाली कुमारी हैं।[12] इस प्रकार त्रिपुरा देवी ही शाक्तपरम्परा में विशिष्ट हैं, यही कवि का अभिप्राय है। यहाँ शाक्त परम्परा के योग परम्परा का उल्लेख किया गया है। त्रिपुरसुन्दरी की प्रार्थना करते हुए भक्तकवि कहता है कि हे तीनों लोकों को पूर्ण करने वाली देवी! हे भैरव पत्नि! जो आप के अत्यन्त रहस्य बने हुए बीजाक्षर रूप नाम हैं, वे आ, ई स्वरों रूपी पत्तों से युक्त हैं। दो, तीन वर्णों के क्रम से संयुक्त रूप वाले हैं। ककार से लेकर क्षकार अन्त वाले हैं। स्वरों से युक्त हैं अथवा स्वरों से युक्त क्षकार अन्त वाले हैं अर्थात्—अक्षह्रीं-नफह्रीं वाले हैं।[13] उन आप के अति उत्कृष्ट बीज हजार नामों को हमारा प्रणाम हो। यहाँ बीजाक्षरों द्वारा शक्तितत्त्व के स्वरूप को बताया गया है।

त्रिपुरा शक्ति का स्वरूप बताते हुए कवि कहता है कि सरस्वती भगवती की यह तीन अवस्थाओं को पूर्ण करने वाली त्रिपुरा नाम वाली स्तुति; मन को एकाग्र बना कर तथा देवी की भक्ति में लीन होकर शिव-शक्तिपात से अनुग्रहीत बने हुए विद्वानों को भलीभांति समझनी चाहिए। जहाँ इस स्तुति के प्रथम श्लोक में एक अर्थात् पहिले ऐं, दो अर्थात् दूसरे क्लीं, तीन अर्थात् तीसरे सौः – इन तीन पदों के क्रम से युक्त आप के चरणों के साथ सम्बन्ध रखने वाले बीजाक्षरों के द्वारा मन्त्रोद्धार की विधि विशेष पूर्वक वर्ण की गई है। वहाँ यह स्तुति गुरुजनों के सत्सम्प्रदाय से भी युक्त है अर्थात् गुरुजनों के द्वारा ही इस स्तुति का प्रादुर्भाव हुआ है।[14] त्रिविध शक्तियों से युक्त होने के कारण उन्हें त्रिपुरसुन्दरी कहा जाता है।

भक्तकवि कहता है कि हे जगन्माता! चिदाकाश स्वरूप को उत्तेजित करने वाली चन्द्र-कला के सदृश आप के स्वरूप का जो अपने मस्तक के स्थान पर साक्षात्कार करते हैं, वे साक्षात्कार करने के अनन्तर ही कवित्वशक्ति सम्पन्न अर्थात् सर्वज्ञ आदि गुणों से संयुक्त बनते हैं, अतः समाधि में आरूढ़ प्रज्ञा वालों के लिए

आप ही समस्त कामनाओं को देने में समर्थ हैं।[15] कवित्वशक्ति की प्राप्ति शक्तितत्त्व की उपासना से अवश्य ही प्रापणीय है; यह स्तोत्रकार का प्रतिपाद्य है। यहाँ त्रिपुरादेवी को साक्षात् कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप बताया गया है। स्तोत्रकार कहते हैं कि कुण्डलिनी स्वरूपा त्रिपुरादेवी की जब षट्चक्रों के भेदन करने के क्रम से उपासना की जाती है तो फिर वह त्रिपुरादेवी परिपूर्ण इच्छा स्वातन्त्र्य के पारमार्थिक षट्चक्र सम्बन्धी कमलों के समूह की चमक से चमचमाती हुई प्रकट होती है। तदनन्तर ही वह जगन्माता मोह रूपी मद-मस्त हाथी को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए मानो उद्यत भैरवीय चित्प्रकाश रूपी सिंह का विलासस्थान प्रकट करती है—ऐसी ही कुण्डलिनी रूप महात्रिपुरसुन्दरी को मैं प्रणाम करता हूँ।[16] साथ ही काश्मीर शैवदर्शन में शक्तितत्त्व को कवित्व की पूर्णता प्राप्त करने में अत्यन्त सहायक बताया गया है। परा पारमेश्वरी की अनुग्रहमयी लीला दिखाते हुए *तन्त्रालोक* में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि परासंविति देवी के अनुग्रह शक्ति का पाचवाँ लक्षण कवित्वशक्ति की प्राप्ति है, जो कविता मनोहर, सुन्दर तथा शेषरहित होती है।[17]

पञ्चस्तवी स्तोत्र में परमशक्ति को विविध अभिधानों से अभिहित किया गया है। स्तोत्रकार उसे विश्व-उल्लासनादि क्रीडा करने वाली देवी! महादेव की पत्नी! पार्वती! सती! तीनों लोकों की माता! कल्याण करने वाली! दुष्टों को नष्ट करने वाली, तीनों लोकों को पूर्ण करने वाली! पारमार्थिक सुख देने वाली! भक्तो को अभीष्ट वर देने वाली! स्वरूप गोपना और स्वरूप विकास करने वाली! दक्ष ऋषि की कन्या! भयङ्कर स्वरूप को धारण करने वाली! भैरवनाथ की अर्द्धाङ्गिनी! चण्डिका स्वरूप धारण करने वाली! कालरात्री भगवती! सर्वत्र स्वरूप रूप वाली! काल को नष्ट करने वाली! त्रिशूल को धारण करने वाली! इत्यादि विशेषणों से युक्त बताते हैं।[18]

दीक्षा का महत्त्व

शाक्त परम्परा में दीक्षा का महत्त्व बताते हुए स्तोत्रकार कहते हैं कि हे कल्याणमयी माता! जिस का फिर से जन्म होने वाला नहीं है, अर्थात् जिस व्यक्ति को मोक्ष होने वाला है, उस पुरुष के सभी पाश-पटल अथात् आणव, मायीव और कार्म—ये तीनों मल आप अपनी अनुग्राहिका शक्ति से गुरुदेव की अनुकम्पा का आश्रय लेकर निमेष मात्र में काट देती हैं और इस प्रकार शाम्भव रूपी वेधदीक्षा उसकी सिद्ध हो जाती है।[19]

शिव एवं शक्ति सामरस्य

जिस प्रकार शैवदर्शन की परम्परा में शिव शक्ति का अद्वय सम्बन्ध है; उसी प्रकार शाक्त परम्परा में भी यह सामरस्य समन्वय प्राप्त होता है। भक्तकवि कहता है कि हे चन्द्रकलाधारी भगवान् शङ्कर की शक्ति भगवती! आप ही परा, परापरा और अपरा शक्ति हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर भी आप ही हैं। अधिदैव अर्थात् शरीर में ठहरा हुआ परमात्मा का स्वरूप तथा उस शरीर में स्थित जीवात्मा का स्वरूप आप ही हैं। आप ही ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति तथा इन्द्रियों का समूह भी हैं। परदशा में जो आप का आसन ईश्वर प्रेत-रूपता में ठहरा है, वह भी आप ही हैं। इच्छा शक्ति, सर्वज्ञतादि ऐश्वर्य तथा तीन आणव-मल इत्यादि आवरण भी आप ही हैं इसके अतिरिक्त आयतन परमेश्वर का निवासस्थान भी आप ही हैं;[20] अर्थात् इस जगत् के समस्त विकल्पात्मक वस्तु भी परमशिव ही है। शक्तितत्त्व में अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं; उन्हीं विविध शक्तियों का बखान करते हुए स्तोत्रकार कहते हैं कि हे माता! आप पृथ्वी में निवृत्ति-कला, जल-

तत्त्व में प्रतिष्ठा कला, अग्नितत्त्व में विद्या-कला, वायु-तत्त्व में शान्ता-कला और आकाश-तत्त्व में शान्तातीता कला उदित हुई है – इस प्रकार जो ये उपर्युक्त पाँच कलाएँ छत्तीस तत्त्व रूपी जगत् का निर्माण करती हैं, उन समस्त कलाओं से परे आप का स्वरूप हैं अर्थात् आप का स्थान सर्वोत्कृष्ट है।[21]

शैव एवं शाक्तदर्शन में समान सिद्धान्त

हे कुण्डलिनी शक्ति स्वरूपा भगवती आप चार पत्तों वाले कमल स्थान मूलाधार में अवस्थित षट्दल अर्थात् षडाकार भगपुट (षट्कोण) में साढ़े तीन वलयों में मुड़ी हुई होकर देदीप्यमान बनी हुई है। उसे सुप्तावस्था में आप 10 लाख बिजली, अग्नि तथा सूर्य प्रकाश के समान चमकती हुई ठहरी है। वहाँ आप अपने कुण्डलिनी स्वरूप का उत्थान करने के लिए प्रथम स्वाधिष्ठान षड्दलात्मक कमल को नादात्मक शूल से काटकर, उसके पश्चात मणिपूर नाम वाले दशदल-स्वरूप कमल को, फिर अनाहत चक्र वाले द्वादश कमल को तत्पश्चात् विशुद्ध चक्रात्मक षोडशदल रूपी कमल का भेदन करके अन्त में आज्ञाचक्रस्थान के द्विदलात्मक कमल में प्रवेश करती हैं—इस द्विदलात्मक आज्ञा चक्र में ठहरी हुई आपको में प्रणाम करता हूं उसी आप की उच्चतम अवस्था में समावेश करता हूँ।[22] हे स्वतन्त्रशक्तिशालिनी महामाया भगवती! कुछ लोग आपके स्वरूप को कुल अर्थात् पारमेश्वरी शक्ति कहते हैं। अन्य विद्वान् तांत्रिक संप्रदायवादी आपको अकुल अर्थात् शिव के नाम से पुकारते हैं अन्य त्रिक आदि दर्शनवादी आपके स्वरूप को उभयात्मक अर्थात् शिव और शक्ति का सामरस्यात्मक कहते हैं। और कई प्रत्यभिज्ञावादी आपको कौल नाम की उपाधि से विभूषित करते हैं। कुछ अन्य विद्वान् चारों स्वरूपों से उत्तीर्ण आपको अनाख्य स्वरूप ही कहते हैं। हे माता! आप ही बताइए कि हम सभी आपके स्वरूप का निश्चय किस रूप में करें। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में भक्तकवि द्वारा शक्तितत्त्व के विषय में प्रचलित विशेषताओं को सांस्कृतिक दृष्टि से प्रस्तुत कर रहा है।[23] परमशक्ति की ये सभी शक्तियाँ परमशिव के विविध शक्तियों अथवा अभिधानों के ही समान है।

इसी प्रकार भक्तकवि कहता है कि प्रलयकालीन करोड़ों सूर्यों के समान दीप्ति से षडध्वा रूपी वर्णाध्वा, मन्त्राध्वा, पदाध्वा, कलाध्वा, तत्त्वाध्वा और भुवनाध्वा अथवा मूलाधार नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य और सहस्रार—इन छः प्रकार से बने हुए घने जङ्गल को जलाकर अर्थात् भस्म करके अपने प्रकाश विमर्शमय परमधाम में तद्रूप बने हुए योगियों को सर्वोत्तीर्ण अलौकिक परमशिव धामात्मक स्वरूप दिखाते हुए भैरवात्मक शिव स्वरूप जो ज्ञान और क्रियाशक्ति की प्रचुरता से अपने शिवात्मक स्थान से पृथ्वीतत्त्व तक फैला हुआ है।[24] इसी प्रकार शक्तितत्त्व को विशेषताओं बताते हुए भक्तकवि कहता है कि हे पराकुण्डलिनी रूप माता! जब कोई भाग्यशाली भक्त इस सूर्य सोमात्मक प्राणापान रूपी द्वन्द्व का ग्रास करता हुआ अनन्त काल से अविदित मध्य धाम अर्थात् सुषुम्ना मार्ग में प्रकाश तथा विमर्श का आश्रय लेकर प्रवेश करता है और इसी प्रकार चित्त प्रलय रूपी अग्नि से अर्थात् हठ पाक प्रशम धारणा से समस्त भेद प्रथात्मक जगत् का संहार करके ऊर्ध्वकुण्डलिनी की पदवी में प्रवेश करता है तो फिर आप के तीव्रातितीव्र अनुग्रह शक्ति से बह व्यक्ति सदा के लिए परमशिवात्मक अकुल धाम में प्रवेश करता है।[25] यहाँ परमशिव के विविध शक्तियों के समान शक्तितत्त्व का वर्णन भक्तकवि द्वारा किया गया है।

अष्टमूर्ति शिव के समान शक्तितत्त्व के भी अष्टमूर्ति का वर्णन भक्तकवि द्वारा किया गया है। भक्त कवि कहता है कि हे माता! पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, आत्मा, चन्द्रमा, और सूर्य जिन्होंने संसार-मण्डलवर्ती सभी कार्य वर्ग को अपने स्वरूप में समाया है। ऐसे इन स्वरूपों के विकास से आप के स्वरूप की महानता कितनी है। इस का अनुमान कोई भी व्यक्ति नहीं लगा सकता। इस के अतिरिक्त आप की महिमा इतनी अगाध है कि ये सभी आठ मूर्तियाँ आप के अपरिमित परमाकाश भूमि और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होती हैं कि उस आप के परमाकाशभूमि में कहीं भी और किसी प्रकार से दृष्टिगोचर नहीं होती अर्थात् उसी आप के स्वरूप के अथाह समुद्र में बुलबुलों की तरह समा जाती है।[26] यहाँ कवि शक्तितत्त्व के अष्टमूर्तियों को प्रस्तुत किया गया है।

परमशक्ति की प्राप्ति रूप उपाय

मुनि जन, समस्त संसार को उत्पन्न करने वाली आप परा पारमेश्वरी भगवती को ही 'कला' अर्थात् अनाश्रित-शिव नाम वाली शक्ति कहते हैं। 'आद्या प्रज्ञा' अर्थात् स्वातन्त्र्य चमत्कारमयी पर-प्रतिभा रूपिणी-शक्ति कहते हैं; 'सम' शिव-शक्ति सामरस्यात्मक अवस्था कहते हैं, (समरसामनुभूति) अहन्ता तथा इदन्ता से रहित अनुत्तर – अकुल – में ठहरी हुई चमत्कृति का नाम करण देते हैं। (गुरु) पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति कहते हैं। गुरु परम्परा कहते हैं, (विनय) तन्त्र प्रधान शास्त्र अथवा सच्चिदानन्द स्वरूप स्वात्मास्थिति के नाम से विभूषित करते हैं, (उपदेश) शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय इन तीन मार्गों का स्वरूप कहते हैं। शिवात्मक परामर्श रूप कहते हैं, आप भगवती को ही मुनि जन पर प्रमातृ रूप परम-प्रमाण और परममोक्ष रूप परम निर्वाण करके विभूषित करते हैं इस के अतिरिक्त आप जगज्जननी को ही मुनि जन विधिरूप और महामन्त्रमयी विद्या कहते हैं।[27] प्रस्तुत स्तुति में शैवदर्शन के विविध सिद्धान्तों को उल्लिखित किया गया है।

स्तोत्रकार कहते हैं अनथक अभ्यास करता हुआ योगी जब स्वात्म-समावेश की ओर अग्रसर होता है तो प्रथम में उसे दस प्रकार के शब्दों का समूह प्रादूर्भूत होता है उन समस्त शब्दों के लय होने के पश्चात् बिन्दु-विभव अर्थात् अनन्त प्रकारों वाला प्रकाश-पुञ्ज अनुभव होने लगता है, उस के भी शान्त होने के पश्चात् अपने आधारस्थान हृदय में आथ प्रकार के दिव्य शब्द प्रकट होते हैं, उन के भी उपरत हो जाने पर योगी, शक्ति, व्यापिनी और समनारूपी पराशक्ति के स्थान पर पहुँच जाता है। तदनन्तर ही वह भाग्यशाली योगी उस स्वात्म-संवित्ति का अनुभव करता है जो चिदानन्द—परामर्श से पूर्ण तथा परा पारमेश्वरी का पारमार्थिक परस्वरूप है।[28] यहाँ साधना द्वारा पराशक्ति को प्राप्त करने का सङ्केत किया गया है।

उस परापारमेश्वरी को प्राप्त करने के उपरान्त योगी परमानन्द स्वरूप को प्राप्त करता है। पञ्चस्तवी में स्तोत्रकार कहते हैं कि हे माता! परम आनन्द-स्वरूप से युक्त, अगाध तथा अनन्त शिवैश्वर्य सम्पन्न, विश्वोत्तीर्ण निराकार—ज्ञान—स्वरूप तथा सदैव पूर्ण—करुणामयी, तीनों लोकों की उत्पत्ति करने वाली और उत्तमोत्तम शिवधाम में ठहरी हुई आप परापारमेश्वरी को, जो भक्तजन स्मरण करते हैं, उन्हें सांसारिक भोगों की प्राप्ति हो अथवा परमानन्द रूप मोक्षप्राप्ति हो, उन्हें दोनों एक तुल्य हैं। यहाँ तात्पर्य है कि उनके लिए सांसारिक भोग भी मोक्ष पर ही पर्यवसित रहते हैं।[29] इसी विषय को आचार्य उत्पलदेव भी प्रस्तुत करते हैं।[30]

यहाँ स्तोत्रकार शैवदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त को भी स्थापित करते हैं कि इस जगत् के सभी पदार्थ सत् हैं, तथा मोक्ष प्राप्ति में सभी वस्तुएँ कारण बनती है।

परमशक्ति को परमशिव की अन्यतम शक्ति के रूप में प्रदर्शित करते हुए स्तोत्रकार कहते हैं कि हे समस्त जगत् का निर्माण करने वाली माता! हे विधिस्वरूप सृष्टिकारिणी! हे विद्या! चतुष्टय रूपी देवी! हे स्वात्मरूपता से जानने योग्य! हे अनन्त प्रकार के आचरणों वाली! हे तीन वेदों की उत्पत्ति करने वाली देवि! हे विचित्र रूप अर्थात् अत्यन्त रूप बनी हुई! हे जगत् की आद्य अर्थात् समस्त संसार का बीज बनी हुई, हे विनय अर्थात् कौल आदि शास्त्रों के द्वारा सहज ही प्राप्त करने वाली देवी! हे समस्त वेदों का सार बनी हुई! हे स्वच्छन्द नाथ शिव की आज्ञा बनी हुई अर्थात् पाँच प्रकार के शास्त्र का स्वरूप बनी हुई! हे देवि! ऐहिक और पारलौकिक कल्याणों की कोषरूपा अर्थात् हे (सभी जनों को सुख देने वाली) भगवती, हे महादेव शङ्कर भगवान् की अर्धाङ्गिनी! मुझे अपने स्वरूप में अनुरक्त बना दीजिए अर्थात् मुझे अपना अनुपम दास बनाइये।[31] यहाँ शिव एवं शक्ति का सामरस्य एवं समन्वित स्वरूप प्राप्त होता है। शिव एवं शक्ति के इसी सामरस्य को प्रस्तुत करते हुए स्तोत्रकार कहता है कि हे माता! कैलासवासी शङ्कर भगवान् ने ब्रह्मा जी का सर काट कर उसे अपने हाथ का पात्र बनाया, भगवान विष्णु को अपने त्रिशूल में धंसाकर उसे अपने कंधे पर रखकर अपना आभूषण बनाया और कालकूट विष का पान करने से अपने कण्ठ को विभूषित किया; परन्तु यह सारा कार्य शिव ने तब किया जब उसके स्वरूप में आप पर आप परा पारमेश्वरी शक्ति ठहरी थी।[32] भाव यह है कि यह सारा चरित्र आपका ही चरित्र है आपके बिना शिव कुछ भी नहीं कर सकते हैं।

परमशक्ति के पञ्चकृत्यों का प्रतिपादित करते हुए स्तोत्रकार कहते हैं कि हे माता! आप सृष्टि रूप कृत्य की अधिष्ठात्री (ब्रह्मा) बनाकर जगत् को उत्पन्न करती हैं। स्थिति रूप कृत्य की अधिष्ठात्री (विष्णु) बनी हुई इस भव, अभव तथा अति भावात्मक संसार का पालन करती हैं, संहृतिरूप कृत्य की अधिष्ठात्री (रूद्र) नाम से विभूषित होकर इसका संहार करती हैं। तिरोधान कर्म की अधिष्ठात्री अर्थात् ईश्वरदशा को धारण करके इस समस्त जगत् का पिधान करती हैं और सदाशिव संज्ञा प्राप्त करके आप इस जगत् के सभी पाश-आणव आदि मल काटकर इसका अनुग्रह करती हैं। है पर्वत राजपुत्री! इस प्रकार आप वास्तव में एक स्वरूप वाली होकर भी सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह करती हैं। हे पर्वतराज पुत्री! इस प्रकार आप वास्तव में एक स्वरूप वाली होकर भी सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह रूपी पांच कृत्यों को धारण करके अनेक बन जाती हैं।[33] अर्थात् आप ही ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, ईश्वर और सदाशिव इन पांच कारणों का स्वरूप धारण करती हैं।

पौराणिक विशेषताओं से परमशक्ति का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए स्तोत्रकार कहता है कि हे जगज्जननी मां! सृष्टि के आरम्भ में पहले आप दक्ष प्रजापति की पुत्री बन गई; उसके पश्चात् दोषयुक्त उस प्रजापति का त्याग करके हिमालय की कन्या बनीं। आप यदि तत्त्वदृष्टि से भगवान शङ्कर से अभिन्न होकर आदि और अंत से रहित भी हैं तथापि उस शङ्कर भगवान के साथ विवाह करके उनकी पत्नी बन गई। इस प्रकार के आपके लीलामय चरित को कौन जान सकता है अर्थात् आप लीलामय स्वातन्त्र्य सर्वथा अगम्य है।[34] परमशक्ति के विविध वैशिष्ट्यों को वर्णित करते हुए स्तोत्रकार कहते हैं कि हे भगवती सूर्य, चन्द्रमा

और अग्नि आदि सभी प्रकाश आपकी रश्मियों के कारण मात्र हैं। परिपूर्ण शिवरूप ब्रह्मा भी आपकी महान् तेज के सामने क्षुद्र अर्थात् तुच्छ बना हुआ उस आपके आघात तेज का एक कण है यह तो मैंने समझ लिया है। इसके अतिरिक्त शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक सभी तत्त्व भी त्रिवलयाकार कुण्डलिनी के बीच में ठहरे हुए हैं। इस प्रकार आपका आश्चर्य पूर्ण स्वरूप आपके भक्त के हृदय में अनुभव किया जाता है।[35] यहाँ शैवदर्शन के समान शाक्त परम्परा की तत्त्वमीमांसा की ओर संकेत किया गया है।

परमशक्ति के शक्ति का वैशिष्ट्य का बखान करते हुए स्तोत्रकार कहते हैं कि हे माता! जो शिव आप की ही परापररूपिणी ज्ञान शक्ति से समस्त प्रमाण-प्रमेयादि जगत् को जान लेता है, आप की ही अपराशक्ति रूपा क्रियाशक्ति से इस जगन्मण्डल की रचना करता है और आप की ही पररूपा इच्छा शक्ति से इस जगत् को फिर से अपने स्वरूप में लय करके संहृत् करता है। इस के अतिरिक्त जिस शिव की सभी आठ मूर्तियाँ आप ही बनी हुई हैं, इस प्रकार जो शिव आप के स्वरूप-साम्य को प्राप्त हुआ परमाकाश रूप शून्य धाम में चला गया है; अर्थात् सदा के लिए आप के स्वरूप में लीन होकर अपनी सत्ता समाप्त करता है। ऐसा होकर भी आप इस शिव की अनाख्य रूपता को छोड़ कर इस के साथ फिर से विहार करती हैं – यह तो क्या है? अर्थात् यह आप की लीला मुझे आश्चर्य चकित कर देती हैं।[36] यहाँ भी शिव एवं शक्ति के सामरस्य को प्रदर्शित किया गया है।

निष्कर्ष

भक्तिदर्शन का अपना वैशिष्ट्य है, जैसे 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' ऐसा, आम्नाय में कहा गया है, वहाँ देहपात में ही शिवता स्वीकार्य है; परन्तु काश्मीर स्तोत्रों में इसके विपरीत भक्त का ही महत्त्व है, उत्पल के मत में 'भक्तो भूत्वा शिवं यजेत्' यही समीचीन है; क्योंकि परमेश्वर का पारमार्थिक सारभूत शरीर भक्ति से अद्वैत शोधित होता है। उनके मत में भक्त से भगवान् की अद्वैतसिद्धि के लिए सभी युक्तियाँ साधन ही हैं। प्रायः स्तोत्र स्तुति प्रधान होते हैं, तथापि वहाँ दार्शनिक तत्त्वों का उल्लेख, उपासना पद्धति का निर्देश और संस्कृति का बोध भी बहुधा प्राप्त होता है। कश्मीर मण्डल का वैशिष्ट्य है कि विविध सम्प्रदाय के उपास्य भिन्न होते हुए भी इनमें भक्ति स्वरूप, उपासना पद्धति एवं सिद्धान्तों में समरूपता है। उपास्य परमतत्त्व के कार्यों, गुणों एवं दार्शनिक सिद्धान्त प्रायः समान ही है। इसका ही कारण है कि कश्मीर में सम्प्रदायों की विविधता होने के कारण भी किसी भी प्रकार का विरोध प्राप्त नही होता है।

सन्दर्भ

1. मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः। शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्॥ *गीतार्थसङ्ग्रहः,* पृ0 285
2. *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी*, 1/1/1 पृ. 13
3. शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वा इति कथ्यति। त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम्॥
   न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते। अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥ *शिवस्तोत्रावली* 1/14, 17
4. *पञ्चस्तवी* 5/335.
5. *पञ्चस्तवी* 5/34
6. *पञ्चस्तवी* 5/38
7. पञ्चस्तवी 3
8. पञ्चस्तवी 4
9. पञ्चस्तवी 5
10. एकैकं तव देवि बीजमनघं सव्यञ्जनाव्यञ्जनं, कूटस्थं यदि वा पृथक्क्रमगतं यद्वा स्थितं व्युत्क्रमात्।
    यं यं काममपेक्ष्य येन विधिना केनापि वा चिन्तितं जप्तं वा सफलीकरोति सहसा तं तं समस्तं नृणाम्॥ *पञ्चस्तवी* 1/6

11. देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरास्त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथोत्रिब्रह्मवर्णास्त्रयः।
यत्किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं, तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः॥ *पञ्चस्तवी* 1/16
12. माया कुण्डलिनी क्रिया मधुमती काली कला मालिनी, मातङ्गी विजया जया भगवती देवी शिवा शाम्भवी।
शक्तिः शङ्करवल्लभा त्रिनयना वाग्वादिनी भैरवी, ह्रींकारी त्रिपुरा परापरमयी माता कुमारीत्यसि॥ *पञ्चस्तवी* 1/18
13. *पञ्चस्तवी* 1/19
14. बोद्धव्या निपुणं बुधैः स्तुतिरियं कृत्वा मनस्तद्गतं, भारत्या त्रिपुरेत्यनन्य मनसा यत्राद्यवृत्ते स्फुटम्।
एकद्वित्रिपदक्रमेण कथितस्त्वत्पादसङ्ख्याक्षरैर्मन्त्रोद्धारविधिर्विशेषसहितः सत्सम्प्रदायान्वितः॥ *पञ्चस्तवी* 1/20
15. त्वामैन्दवीमिव कलामनुभालदेशमुद्भासिताम्बरतलामवलोकयन्तः।
सद्यो भवानि सुधियः कवयो भवन्ति त्वं भावनाहितधियां कुलकामधेनुः॥ *पञ्चस्तवी* 2/21
16. *पञ्चस्तवी* 2/28
17. कवित्वं पञ्चमं ज्ञेयम्, सालङ्कारं मनोहरम्॥ *तन्त्रालोक* 1/67
18. *पञ्चस्तवी* 3/1
19. जन्तोरपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये निःशेषपाशपटलच्छिदुरा निमेषात्।
कल्याणि! दैशिककटाक्षसमाश्रयेण, कारुण्यतो भवसि शाम्भववेधदीक्षा॥ *पञ्चस्तवी* 3/11
20. शक्तिः शरीरमधिदैवतमन्तरात्मा, ज्ञानं क्रिया करणमासनजालमिच्छा।
ऐश्वर्यमायतनमावरणानि च त्वं, किं तन्न यद्भवसि देवि! शशाङ्कमौलेः॥ *पञ्चस्तवी* 4/25
21. *पञ्चस्तवी* 4/26
22. *पञ्चस्तवी* 5/9
23. *पञ्चस्तवी* 5/10
24. *पञ्चस्तवी* 5/11
25. *पञ्चस्तवी* 5/12
26. *पञ्चस्तवी* 5/16
27. *पञ्चस्तवी* 5/17
28. *पञ्चस्तवी* 5/19
29. *पञ्चस्तवी* 5/19
30. लब्धत्वत्सम्पदां भक्तिमतां त्वतपुरवासिनाम्।सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया॥ *शिवस्तोत्रावली* 1/30
31. *पञ्चस्तवी* 5/21
32. *पञ्चस्तवी* 5/22
33. *पञ्चस्तवी* 5/23
34. *पञ्चस्तवी* 5/28
35. *पञ्चस्तवी* 5/29
36. *पञ्चस्तवी* 5/30

सहायकाचार्य, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय),
राय बरेली रोड, लखनऊ-226025
मो. 9773683877

नाथ-दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया में शिव तथा ललिता तत्त्व की महत्ता

डॉ. रञ्जनलता

शोध-सार –

"सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा"[1] कथनानुसार भारतीय संस्कृति को विश्व की प्रधान तथा श्रेष्ठ संस्कृति के रूप में जाना जाता है। भारत जैसा राष्ट्र सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध रहा है। विश्व भर में काल प्रवाह के साथ अनेक संस्कृतियाँ आती-जाती रही हैं परन्तु भारत जैसे राष्ट्र की संस्कृति आज भी विद्यमान है। इसका कारण इसकी सनातनता तथा सभी प्रकार की संस्कृतियों को समाहित करने का भाव रहा है। 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः'[2] का उद्घोष यही कहता है कि सभी दिशाओं से अच्छे विचार आने दो। वास्तव में इसने इसकी सनातनता को बरकरार रखा। इस शोध-पत्र के माध्यम से इसी सनातन मूलधारा की सहायक एक धारा जिसे नाथ-पन्थ के नाम से भी जानते हैं, में विचारित तत्त्व-मीमांसा के अन्तर्गत शिव तत्त्व व उसकी शक्ति ललिता तत्त्व का विशेष विवेचन है।

कूट-शब्द

तत्त्व, मीमांसा, शिव, ललिता, सनातनता।

युग-धर्म के अनुसार स्वयं का शुद्धिकरण भी इसकी अनन्य विशेषता रही है अर्थात् भारतीय संस्कृति ऐसी संस्कृति है, जिसने कालगत रूढ़ियों से उत्पन्न हुए पाखण्डों पर भी तीक्ष्ण प्रहार किया। इसका प्रमाण हमें वैदिक स्वर्णिम युग के अनन्तर काल-बाह्य परम्पराओं के शुद्धिकरण, युगानुकूल परिवर्तन के माध्यम से तथा बौद्ध-जैन आदि परम्पराओं के उदय से मिलता है। इस परिवर्तन, परिवर्धन के द्वारा विभिन्न कालों में विभिन्न सम्प्रदायों, पन्थों के माध्यम से भारतीय संस्कृति की यह मूलधारा अनवरत रूप से युगानुकूल होते हुए प्रवाहित होती रही है। यही इसकी सनातनता का एक कारण भी है।

वेदों, ब्राह्मणों,आरण्यकों तथा उपनिषदों के अनन्तर वैदिक याग व कर्मकाण्ड जब पाखण्ड मात्र के प्रतीक होकर समाज को दिग्भ्रमित करने लगे तब वैदिक संस्कृति की यह मूलधारा पुनः परिष्कृत होकर आगे बढ़ी तथा विभिन्न बौद्ध, जैन मत के साथ-साथ शैव, वैष्णव, पाञ्चरात्र, कापालिक तथा पाशुपत आदि धार्मिक परिष्कृति के लिए समाज के समक्ष आए। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति के पश्चात् विभिन्न मत-मतान्तरों का उदय अथवा अस्त होना अपनी इस भारतीय संस्कृति के

शुद्धिकरण के हेतु से ही था। नाथ-पन्थ इसी धार्मिक विशिष्टता की दृढ़ आधारशिला पर प्रतिष्ठित एक ऐसा सम्प्रदाय है, जिसका मूल शैव सम्प्रदाय अथवा आदिशिव से प्रकट किया जाता है।

नाथ-पन्थ को आगम-परम्परा से जोड़ा जाता है। आगम-परम्परा के अन्तर्गत एक परम्परा शैव भक्तों की चली जिसे नाथ-पन्थ के नाम से अभिहित किया जाता है। नाथ पन्थ में मूल प्रवर्तक के रूप में आदिनाथ शिव ही है। यह परम सत्य है कि आदिनाथ स्वयं शिव ही है –

देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्ता साक्षात् स्वयं शिवः।
संरक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः।।[3]

शिव के बाद शिवावतार रूप में भगवान दत्तात्रेय का भी नाम आता है जो महाराष्ट्र परम्परा से सम्बन्धित रहेहैं।भगवान दत्तात्रेय के अनन्तर गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने नाथ-पन्थ को पुनः संगठित करने का प्रयास किया। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ चौरासी नाथों की परम्परा में सबसे प्रमुख हैं। उन्हें असम, बंगाल, नेपाल, तिब्बत तथा बर्मा में विशेषकर पूजा जाता है। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ योग सिद्ध तन्त्र परम्पराओं और अपरम्परागत प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध थे।

गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के बाद उनके शिष्य गुरु गोरखनाथ ने शैव धर्म की सभी प्रचलित धारणाओं को एकजुट करके 'नाथ' परम्परा को एक नई ऊंचाई पर पहुंचाया। उनके लाखों शिष्यों में हजारों उनके जैसे ही सिद्ध होते थे। नाथ संप्रदाय के देवता एवं शैव और वैष्णव पंथ के गुरु माने जाते हैं। भगवान् दत्तात्रेय भगवान् ब्रह्मा जी के मानस पुत्र महर्षि अत्रि इनके पिता तथा सती अनुसूया उनकी माता थी। पुराणों के अनुसार इनके तीन मुख और छः हाथों वाला त्रिदेवमय स्वरूप है। चित्र में इनके पीछे एक गाय तथा इनके आगे चार कुते दिखाई देते हैं। औदुंबर वृक्ष के समीप इनका निवास बताया गया है।

कापालिकों के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदि शिव का ही है।[4] नाथ पन्थ के अनुसार शिव जी से ही योगशास्त्र का प्रारम्भ हुआ है। अर्थात् शिव जी ही योगशास्त्र के मुख्य प्रवर्तक हैं क्योंकि शिव जी को हम आदि योगी के रूप में जानते हैं। जैसा कि गोरक्ष पद्धति में कहा गया है –

योगशास्त्रं पठेत् नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्।।[5]

योग से मुक्ति संभव है अतः शिव जी ने अपने भक्तों को मुक्ति प्रदान करने के लिए योगशास्त्र का प्रणयन किया जो आज के सन्दर्भ में अत्यन्त उपयोगी और फलप्रद भी है।

शिव के साथ ही शक्ति की उपासना भी नाथ-पन्थ में ललिता-तत्त्व के रूप में की गई है। ललिता तत्त्व की महिमा पद्मपुराण के पातालखण्ड में निम्न प्रकार से बताई गई है—

अहं च ललितादेवी राधिका या गीयते।

अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः।
सत्यं योषित्स्वरूपोऽहं योषिश्चाहं सनातनी।
अह च ललितादेवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा ॥[6]

अर्थात् वह शिव तत्त्व ही कहता है कि मैं ही ललिता-तत्त्व हूँ और जो राधिका-तत्त्व के नाम से प्रसिद्ध हैं, वह भी मैं ही हूँ। सभी पुरुष-स्त्रियाँ मेरी ही रूपवाली हैं और मैं ही सनातन नारी (आदिशक्ति जगदम्बा) हूँ तथा पुरुष रूप में श्रीकृष्ण का विग्रह धारण करने वाली ललितादेवी मैं ही हूँ, मैं श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट अथवा अभिव्यक्त होती हूँ।

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
लोकसम्मोहनार्थाय स्वरूपं विभ्रती परा।
कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा।
रा शक्तिरिति विख्याता मशिवः परिकीर्तितः।[7]

शिव व शक्तिमय यही तत्त्व ब्रह्म व राम के रूप में भी गाया जाता है। यही जटा-जूट धारी के रूप में भी योगासन में मग्न रहता है। यही देव त्रिनेत्रधारी भी है तथा इसी का तेज गौरी के अन्तः में तथा सीता के अन्तः में भी प्रकट होता है।

शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म रामरामेति गीयते।
योगासनसमारूढ़ं जटामण्डलमण्डितम्।
विभूतिभूषितं देवं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम्।
तेजः पुञ्जनिभां देव सीतां तेजः स्वरूपिणीम्।
गौरीरूपां परां सीतां महासाम्राज्यनायिकाम् ॥[8]

वही महाविष्णु तथा ईश्वर रूप में भी सुशोभित है।

महाविष्णोरहंकारो बभूव सहसेति च।
सर्वमल्लोमकूपेषु विश्वान्यवाहमीश्वरः ॥[9]

वह शिव तत्त्व ही भैरव रूप में समस्त संसार की लीलाओं को स्वयं में समाहित करते हुए संहारक तथा मूर्धारूप में भी प्रसिद्ध है।

संहारभैरवो भूत्वा तं जग्राह स लीलया।
स्थिते मूर्धावशेषेण प्रसादं च चकार सः ॥

वह शिव तत्त्व ही सभी का आत्मास्वरूप तथा ध्येय भी है।

सर्वात्मानं ध्यायमानं स्तुतं भीतं कृपानिधिम्।
तच्छरीरं सुसम्पन्नं पुनरेव चकार सः ॥"[10]

शिव की सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा का नाम ही शक्ति है। शक्ति से समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। शिव के अन्तः में ही शक्ति विराजमान है तथा शक्ति के अभ्यन्तर में शिव ही हैं। ये परस्पर उसी प्रकार संयुक्त हैं जैसे चन्द्र व चन्द्रिका। यह जो जगत् का प्रसार है यह उस शक्तिस्वरूपा की ही देन है तथा इस जगत् का संकोच अर्थात् सिमटना उस शिव में ही निहित है। जो व्यक्ति योग से इन दोनों को जान लेता है वही सिद्ध योगी कहलाता है।

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।
प्रसरं भाषयेत् शक्तिः संकोचं भासयेच्छिवः।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट्।।[11]

न शिवः शक्ति रहितो न शक्तिः शिववर्जिता।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव।।

न तो शिव शक्ति से रहित है न ही शक्ति शिव से वर्जित। अतः दोनों का तादात्म्य अग्नि व उसकी शक्ति दाहकता के समान अभेद सम्बन्ध है। यही शक्ति तत्त्व ही ललिता तत्त्व के नाम से भी नाथ-पन्थ के ग्रन्थों में वर्णित है। बिना इस ललिता तत्त्व के शिव भी शववत् है।

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।[12]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शिव व ललिता तत्त्व नाथ-दर्शन में सृष्टि-उत्पत्ति में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करते हैं। नाथसम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीनकाल से ही जन-जीवन में रचा-बसा है और शिव उसकी परम्परा आज भी इस पन्थ के त्यागी, तपस्वी सन्तों के द्वारा शिव व ललितातत्त्व की उपासना अबाध गति से प्रचलित है और भविष्य में भी इस समन्वय को स्थापित करते हुए जब भी राष्ट्र को उनकी आवश्यकता होगी वह समन्वयता पुनः प्रस्फुटितहोगी।

संदर्भग्रन्थ-सूची

ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, तृतीय-भाग, मण्डल 6-8, भाष्यकार, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, वलसाड, 2011

यजुर्वेद का सुबोध भाष्य, तृतीय-भाग, मण्डल 6-8, भाष्यकार, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, वलसाड, 1985

द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद, *नाथ संप्रदाय*, हिदुस्तान एकेडमी, लखनऊ, 1950

द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद, *नाथ सिद्धों की रचनाएं*, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

नाथ संप्रदाय परम्परा युवा कल्याणार्थ नाथ पन्था, अरुण प्रकाश त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन,2021
चौहान, प्रकाशनाथ, *नाथ इतिहास,* श्री सरस्वती प्रकाशन, अजमेर
ब्रह्मवैवर्तपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
पद्मपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
शक्तिसंगमतन्त्र, छिन्मस्ता खण्ड, प्रभाकर मालवीय व पं. चितरन्जन मलावीय, कृष्णदास प्राच्य विद्या सीरीज- 34
अलंकार, सुभाष, *गोरक्षपद्धति*, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, संपादक रामलाल श्रीवास्तव, श्री गोरखनाथ मन्दिर 2019
सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, गोरखनाथ, संपादक रामलाल श्रीवास्तव, श्री गोरखनाथ मन्दिर 2019
त्रिपाठी, रामजी, *नाथ-पन्थ का दर्शन*, आदित्य प्रकाशन, दिल्ली, 2022
बनर्जी, अक्षय कुमार, *गोरख-दर्शन*, महन्त दिग्विजयनाथ व्यास, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, 2015
सिद्धसिद्धान्त पद्धति, शक्ति संगम तन्त्र, बडौदा सीरीज (91)
गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह, संपादक - श्रीवास्तव, रामलाल, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, सं. 2036

सन्दर्भ

1. *यजुर्वेद*, 7/14, 'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा,' श्री राम शर्मा आचार्य, पृ.5
2. *ऋग्वेद*, 1/89/1
3. *सिद्धसिद्धान्त पद्धति, शक्ति संगम तन्त्र,* बडौदा सीरीज (91) के ताराखण्ड में आदिनाथ और काशी के संवाद से ग्रंथ प्रारम्भ होता है। ये आदिनाथ स्वयं शिव हैं।
4. कापालिकों के बारह आचार्य हैं—आदिनाथ, अनादिकाल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरवनाथ, वटुकनाथ, वीरनाथ और श्रीकण्ठ । उनके 12 शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं- नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पटनाथ, अवयनाथ, वैरागीनाथ, कन्थाधारीनाथ, जालंधरनाथ और मलयार्जुननाथ । इस सूची में से अनेक नाम नाथ योगियों के हैं।
5. *गोरक्षपद्धति*, मुक्तिसोपान अध्याय, उत्तरशतक, श्लोक 100
6. *पद्मपुराण* के पातालखण्ड, 75-45,46 गीताप्रेस, गोरखपुर
7. *शक्तिसंगमतन्त्र*, अष्टम पटल, प्राच्य विद्या सीरीज- 34
8. *शक्तिसंगमतन्त्र*, अष्टम पटल, प्राच्य विद्या सीरीज- 34
9. वही
10. *ब्रह्मवैवर्तपुराण*, गीताप्रेस, गोरखपुर
11. *गोरक्षसिद्धान्त* संग्रह उद्धृत, पृ. 56
12. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत *नाथसंप्रदाय* पुस्तक, पृ.62 देवी भागवत वचन

(सहायक आचार्य)
संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग,
आवास : महारानी लक्ष्मीबाई महिला छात्रावास,
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
मो. 7906607153
Email-ranjan.sans@ddugu.ac.in

वैष्णव पाञ्चरात्र आगम : परिचय

डॉ. बिंदिया त्रिवेदी

पाञ्चरात्र वैष्णव आगमों की प्रसिद्ध परम्पराओं में से एक है। वैष्णव आगम तीन भागों में विभक्त है— वैखानस, पाञ्चरात्र तथा भागवत[1] पाञ्चरात्र का सम्बन्ध ऋग्वेद के पुरुष सूक्त से है।[2] *विष्णु पुराण*[3] के अनुसार छह गुणों से युक्त विष्णु को भागवत नाम से जाना जाता है। ये छह गुण हैं – ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज तथा जो विष्णु को पूजने वाले हैं वह भागवत कहलाते हैं। वैष्णव धर्म का मुख्य सिद्धान्त भक्ति है। पाञ्चरात्र साहित्य में भक्ति सिद्धान्त भलीभांति प्रतिपादित है। पाञ्चरात्र मत के अनुसार वासुदेव सर्वोच्च सत्ता है। *शतपथ ब्राह्मण*[4] के अनुसार पुरुष नारायण ने कामना की कि मैं इस पुरुषमेध यज्ञ के द्वारा समस्त जीवों में व्याप्त हो जाऊँ। नारायण शब्द वैष्णव धर्म के आरम्भिक चरण में इस परम्परा के अधिष्ठातृ देवता के रूप में महत्त्वपूर्ण है। विष्णु नारायण का तथा नारायण वासुदेव का तादात्म्य बाद में हुआ।

पाञ्चरात्र मत को आगम कहा गया है। भारतीय शास्त्र दो प्रधान विभागों में विभक्त है—आगम तथा निगम। वेद तथा वेदमूलक ज्ञान एवं क्रियाप्रधान शास्त्र निगम कहलाते हैं तथा आगम से अर्थ सभी शास्त्र है। आगम शब्द आ उपसर्गपूर्वक गम् धातु से बना है। √गम् का अर्थ 'जाना' होता है। *शब्दकल्पद्रुम*[5] के अनुसार यह शास्त्र शिवपार्वती संवाद के रूप में है। इस श्लोक में वासुदेवस्य मत आया है जिससे आगम के साथ वैष्णव सम्प्रदाय का सम्बन्ध पता चलता है। आगम को तन्त्र भी कहा जाता है। तन्त्र शब्द √तन से बना है जिसका अर्थ है फैलना। इसमें त्र प्रत्यय है। तन्त्र शब्द शास्त्र के अर्थ में भी आता है[6] संहिता, आगम, तन्त्र क्रमशः वैष्णव, शैव तथा शाक्त के लिए प्रयुक्त होता है। आगम साधक को ज्ञान प्रदान करता है तथा तन्त्र उन्हें बंधन से मुक्त करता है।[7] वाचस्पति मिश्र ने अपने *योगभाष्य* में तन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा— **"आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति अभ्युदयानिः श्रेयसोपाया यस्मात् स आगमः।"** *नारदीय संहिता* में नारद ने पाञ्चरात्र को महातन्त्र कहा है।[8] आगम हिन्दू धर्म में विशिष्ट शास्त्रों की तरह एक शास्त्र है जिसकी विभिन्न परम्पराएँ एवं कर्मकाण्ड के विधान है।

पाञ्चरात्र शब्द विद्वानों में एक चर्चा का विषय है। आचार्यों में इस शब्द के अर्थ को लेकर अनेक विचार हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार पाञ्चरात्र शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं है। इसका एक कारण है कि पाञ्चरात्र साहित्य में इस शब्द की अनेकों व्याख्याएँ दी गई है। *महाभारत*[9] के शान्तिपर्व के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग ही पाञ्चरात्र है। भगवान नारायण ने इस महोपनिषद को स्वयं गाया था। पाञ्चरात्र शब्द में दो पद हैं पाञ्च एवं रात्र। 'पाञ्च' मूलतः पञ्च पद से बना है तथा यहाँ इसका अर्थ संख्यावाची है। शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त पञ्चरात्र के पञ्च का मूल अर्थ सर्व या सम्पूर्ण मानने पर समग्र के रात्र की बात पर स्पष्टता आती है।[10] रात्र का अर्थ रात्रि है। पाञ्चरात्र की अनेक संहिताओं में पाँच रात्रियों तक चलने वाले सत्र का संकेत प्राप्त होता है।[11]

नारद पाञ्चरात्र[12] के अनुसार पाञ्चरात्र का नाम पाञ्चरात्र इसलिए है क्योंकि यह पाँच विषय को बताने वाला है। रात्र शब्द का अर्थ है ज्ञान एवं पाञ्चरात्र ज्ञान, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय को बताने वाला है अतः पाञ्चरात्र है।

ईश्वर संहिता के अनुसार स्वयं भगवान द्वारा इस धर्म का उपदेश पाँच ऋषियों को दिया गया था। ये पाँच ऋषि हैं शाण्डिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भारद्वाज। इसका उपदेश सतत पाँच रात्रियों में किया गया तथा यह पाञ्चरात्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[13] *प्रश्न संहिता* के अनुसार पाञ्चरात्र अज्ञानता को दूर करता है।[14] *अग्निपुराण* तथा *परमसंहिता* के अनुसार[15] पञ्चमहाभूतों के रूप में पाञ्चरात्र की व्याख्या की गई है। अहिरबुधन्य संहिता[16] जो पाञ्चरात्र का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है, के अनुसार पर, व्यूह, विभव एवं अर्चा अन्तर्यामी को ही पाञ्चरात्र नाम से जाना जाता है। इस अर्थ को कई विद्वानों ने मान्यता दी है।

इन सब संहिताओं के द्वारा विभिन्न व्याख्याओं को देने के कारण पाञ्चरात्र शब्द के सही अर्थ के बारे में अनेक मतभेद हैं। परन्तु परम्परा के अनुसार वासुदेव का जो सिद्धान्त है वही पाञ्चरात्र आगम है।

पाञ्चरात्र परम्परा में इसका स्रोत वैदिक एकायन शाखा है।[17] महाभारत[18] के नारायणीय अंश में पाञ्चरात्र की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है कि नारदमुनि हिमालय में नर तथा नारायण से मिलने गये, तब नारायण के कहने पर नारद मुनि श्वेतद्वीप गये। वह श्वेतद्वीप अत्यन्त दुर्गम था। वहाँ रहने वाले लोग इन्द्रियातीत थे। वह सब भूख, प्यास तथा निद्रा से परे थे तथा सभी पाप एवं पुण्यों से भी परे थे। इनको एकान्तिन कहा जाता है तथा भक्त भी कहते हैं। नारद मुनि स्वयं एकान्तिन थे अतः वह उनका दर्शन कर पाए। वहाँ नारद ने पाञ्चरात्र का ज्ञान प्राप्त किया।[19] अतः सर्वप्रथम नारायण ने अपने श्रीमुख से नारद को पाञ्चरात्र का उपदेश दिया तथा नारदमुनि से पृथ्वी पर पाञ्चरात्र का प्रचार-प्रसार हुआ। *ईश्वर संहिता*[20] के अनुसार नारद ने इसका उपदेश सात ऋषियों को दिया। यह सात ऋषि थे, सनत्, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल तथा सनातन।

पाञ्चरात्र संहिताएँ

पाञ्चरात्र आगम संहिताओं की कोई एक निश्चित संख्या नहीं है। चूंकि विद्वानों ने इसकी संख्या निश्चित करने का प्रयास किया है। श्रौडर ने सबसे पहले इनकी संख्या 215 बताई है। विष्णु तन्त्र इनकी संख्या 154 बताते हैं। पाद्म तथा विश्वामित्र संहिता इसकी संख्या 108 बताते हैं। पुरुषोत्तम संहिता के अनुसार 106 पुराणों की तरह पाञ्चरात्र की संख्या पहले 18 फिर 108, पुनः 1008 तथा अन्त में सार्धकोटि कही गयी है।[21] परन्तु विडम्बना है कि प्रकाशित संहिताएँ देवनागरी में 26 है तथा तेलुगु में 4 है। हालांकि पैनोरामा ऑफ पाञ्चरात्र लिटरेचर जो कि चैन्नई से प्रकाशित है उसमें 300 संहिताओं के नाम एकत्र किये गये हैं। पाञ्चरात्र संहिताओं में सात्वत, पौष्कर एवं जयारख्य संहिताओं को रत्नत्रय के नाम से जाना जाता है। इनमें से प्रत्येक संहिता का एक विशिष्ट स्थान से सम्बन्ध है। यदुशैल जिसे आजकल मेलकोटे या मैसूर कहा जाता है उसका सम्बन्ध सात्वत विधि से है, श्रीरंगम के पौष्कर विधि से और कांचीपुरम में जयाख्य विधि से हरि की उपासना की जाती है। त्रिरत्न संहिताओं के अतिरिक्त अन्य संहिताएँ हैं—अगस्त्य, भारद्वाज, विश्वामित्र, नारदीय, परम, शाण्डिल्य, अनिरुद्ध, अहिर्बुहन्य, श्रीप्रश्न, भार्गव, हयशीर्ष, विष्णु इत्यादि। पाञ्चरात्र

संहिताओं की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है। केवल प्रारंभिक एवं पश्चात् संहिताओं में इस प्रकार इनके बारे में कहा जाता है। अतः कोई निश्चित तिथि इन संहिताओं के विषय में प्राप्त नहीं है। पाञ्चरात्र साहित्य तीन प्रकार का है—दिव्य, मुनिप्रोक्त एवं पौरुष।

दिव्य

इसमें *सात्वत, पौष्कर* एवं *जयाख्य* संहिताएँ आती हैं। ये तीन संहिताएँ रत्नत्रय के नाम से जानी जाती हैं। ये दिव्य संहिताएँ, माना जाता है, कि ये स्वयं वासुदेव से प्राप्त हुयी तथा जिन्होंने इसे वासुदेव से प्राप्त किया तथा संसार में इसका प्रसार किया। यह अनुष्टुप छन्द में है तथा यह पाञ्चरात्र सिद्धान्तों को संक्षेप तथा विस्तार दोनों प्रकार से वर्णन करती है।[22] ये दिव्य संहिताएँ वेदों से सम्बन्धित हैं तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए इनकी रचना की गई। यह भगवान के चार मुख्य रूपों को बताती हैं—व्यूह, विभव, अर्न्तयामी एवं अर्चा।[23]

मुनिप्रोक्त

मुनिप्रोक्त शास्त्र चार विभागों में है—सात्त्विक, राजस, तामस तथा पौरुष।[24] सात्त्विक शास्त्र ऋषियों तथा देवताओं के द्वारा प्रष्ठित है वासुदेव ने स्वयं इनका उपदेश इन ऋषियों को दिया था। सात्त्विकशास्त्र के अपनी बुद्धि के द्वारा अर्थ को जानकर, सर्वेश्वर से लेकर पुनः ब्रह्मादि से एवं ऋषियों से सुनकर स्वविकल्प से उनके द्वारा ही प्रणीत शास्त्र को राजशास्त्र कहा गया है। राजस शास्त्रों में दार्शनिक विचार हैं तथा मूर्तिपूजा से सम्बन्धित विधियों को बताते हैं। तामस शास्त्र ऋषियों द्वारा दिव्य एवं राजस मुनिप्रोक्त शास्त्रों को पढने के बाद तैयार किए गये। ये शास्त्र उन्होंने अपनी समझ से लिखे अतः यह उनके स्वयं के कार्य माने जा सकते हैं।[25]

पौरुषशास्त्र

पाञ्चरात्र साहित्य का अन्तिम पौरुषशास्त्र है। इसे मानुष भी कहते हैं क्योंकि इनका प्रणयन मनुष्यों द्वारा किया गया है। पौरुषशास्त्र को तीनों में निम्न कोटि का माना जाता है तथा विधान है कि दिव्य एवं मुनिप्रोक्त शास्त्र उपलब्ध है तो पौरुषशास्त्र को अनुसरण न किया जाए। दिव्य शास्त्रों में सात्वत, पौष्कर, जयाख्य, अनिरुद्ध, वराह इत्यादि शास्त्र मुख्य हैं। मुनिप्रोक्त शास्त्र है, ईश्वर, भारद्वाज, पारमेश्वर, पाराशर, सत्य, मायावैभव, पञ्चप्रश्न तत्त्व, सागर, भारद्वाज, पौरुष शास्त्र में *जाबाल संहिता, बौधायन* है। *इन्द्रसंहिता, पैंगलसंहिता* इत्यादि हैं।[26] पाञ्चरात्र साहित्य के लिए मुख्य रूप से संहिता शब्द प्राप्त होता है। ये संहिताभिधान वेद के संहिता भाग को ही अनुकृति की तरह प्रतीत होते हैं। संहिताओं की भाषा प्रायः पद्य में है। पाञ्चरात्र आगम साहित्य में मुख्य विषयों को डॉ. श्रौडर ने दस विषयों में विभक्त किया है, ये विषय हैं – 1. दर्शन, 2. मन्त्रशास्त्र, 3. यन्त्रशास्त्र, 4. मायायोग, 5. योग, 6. आलय निर्माण, 7. प्रतिष्ठा-विधि, 8. आह्निक, 9. वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा 10. उत्सवविधि वर्णन।[27] *पाद्म संहिता* चार पादों में विभक्त है।[28] पाञ्चरात्रागम का विषय प्रतिपादन क्रम वैज्ञानिक है।[29] अनेक संहिताओं में प्रश्नोत्तर प्रणाली के द्वारा इष विषय का क्रमिक विकास के आधार पर प्रतिपादन किया गया है। पाञ्चरात्र आगम की रत्नत्रय संहिताओं में सात्वत, पौष्कर एवं जयाख्य संहिताओं की महत्ता अतुलित है। इसमें पाञ्चरात्र सिद्धान्त के व्यूह एवं विभवों की चर्चा है इसके अतिरिक्त विशेष व्रत विधान भी है। सात्वत संहिता सर्वप्राचीन संहिता है। इसी संहिता में त्रिविध ब्रह्म का प्रतिपादन है।[30]

पौष्कर संहिता पाञ्चरात्र आगम की एक विशिष्ट कृति है तथा त्रिरत्नों में से दूसरी है। श्रीरंगम एवं कांजीवरम् के मन्दिरों में अर्चक पौष्कर संहिता में वर्णित विधि के अनुसार अर्चना करते हैं।[31]

त्रिरत्न की तृतीय संहिता जयाख्य है जिसका प्रकाशन बडौदा से हुआ है। त्रिरत्नों में जयाख्य श्रेष्ठ मानी गई है। इस संहिता में मांसाहार विधान पर चर्चा है जिसमें कुछ विशेष समय में मांसाहार वर्जित था।[32] इस संहिता में तान्त्रिक अभिचारक क्रियाओं का यहाँ वर्णन है।[33]

पाञ्चरात्र संहिताओं में पाञ्चरात्र के सिद्धान्तों का विवेचन प्राप्त होता है। पाञ्चरात्र सिद्धान्तों में भक्ति, व्यूहवाद, परब्रह्म, तथा पञ्चकला का वर्णन प्रचुरता से प्राप्त होता है। पाञ्चरात्र दर्शन में भक्ति का सिद्धान्त एक अभिन्न अंग है। वैष्णव आचार्य परब्रह्म की प्राप्ति में भक्ति को एक मुख्य अंग मानते हैं। आचार्य रामानुज के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के पाँच तरीके हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, प्रपत्ति योग तथा आचार्याभिमान योग[34], *परम संहिता* के अनुसार श्रीहरि का ध्यान करना मोक्ष प्राप्ति में आवश्यक है।[35] पाञ्चरात्र मत को मानने वाले के लिए भागवत शब्द का प्रयोग हुआ है। *परम संहिता* के अनुसार जो भगवान की पूजा करता है वह भागवत कहलाता है।[36] *विष्णु संहिता* के अनुसार भागवत शब्द की परिभाषा करते हुए कहा कि जो सत्य का ज्ञाता है वह भागवत है तथा वही सर्वश्रेष्ठ है।[37] *परम पुरुष संहिता* में अर्चक की योग्यता, कर्तव्य एवं अधिकार की चर्चा है।[38] *पाञ्चरात्र संहिताओं* में दीक्षा का भी विधान है। दीक्षा प्राप्त व्यक्ति दीक्षित कहलाता था।[39] *पौष्कर संहिता* में वर्णन है कि ईश्वर का भजन करने वाला भगवान के श्रीचरणों को प्राप्त करता है। पद्मपुराण[40] में नवधा भक्ति का वर्णन है। पाञ्चरात्र साहित्य में नवधा भक्ति का पूर्णरूपेण वर्णन है। विष्णु या वासुदेव का चिन्तन कीर्तन, स्मरण इत्यादि नवधा भक्ति के रूप हैं। पौष्कर संहिता के अनुसार नारायण की अर्चना करने वाले नारायण को प्राप्त करते हैं।[41] अतः भक्ति का सिद्धान्त पाञ्चरात्र मंत्र में भलीभांति प्रतिपादित है। पाञ्चरात्र मत में व्यूह की अवधारणा विस्तृत रूप में दी गई है। यह पाञ्चरात्र का महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक सिद्धान्त है। व्यूह शब्द वि उपसर्ग पूर्वक ऊह धातु से निष्पन्न है जिसमें घञ् प्रत्यय है। ऊह का अर्थ है विस्तार[42] व्यूहवाद जो कि चतुर्व्यूहवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यह विकासक्रम है। सबसे पहले महाभारत के शांतिपर्व में वासुदेव को परमात्मा कहा है तथा उन्हीं से तीन व्यूहों की स्थिति बतायी है।[43]

ये है पर, व्यूह, विभव।[44] कालान्तर में अर्चा एवं अन्तर्यामी भी जुड़ गये। ब्रह्म को षड्गुण से सम्पन्न माना गया है।[45] पाञ्चरात्र की परम्परा अनुसार परम ब्रह्म वासुदेव षड्गुणों से युक्त है तथा ये सभी गुण वासुदेव में निहित माने गये हैं। परब्रह्म व्यूहभेद से चतुर्धा विभक्त हो जाते हैं जिन्हें वासुदेव, संकषर्ण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध चार नामों से जाना जाता है[46]—वासुदेव षड्गुण युक्त हैं। संकर्षण ज्ञान एवं बल, प्रद्युम्न ऐश्वर्य एवं वीर्य, अनिरुद्ध शक्ति एवं तेज का प्रतिनिधित्व करते हैं।[47] संकर्षण प्रलयकर्ता, प्रद्युम्न सृष्टिकर्ता है और अनिरुद्ध के कार्यों में भेद आ जाता है, तब अनिरुद्ध प्रलयकर्ता होते हैं।[48] इन चारों व्यूहों को दिव्य माना जाता है और उनकी शक्तियाँ क्रमशः लक्ष्मी, कीर्ति, जया तथा माया है।[49] *ईश्वर संहिता*[50] में वासुदेव के स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया कि वासुदेव का सगुण रूप विश्वकल्याण के लिए होता है। उनका स्वरूप पूर्ण चन्द्र के समान है। *बृहद संहिता*[51] के अनुसार चतुर्भुज रूप में वासुदेव अति विख्यात हैं। वासुदेव का स्वरूप पीतवस्त्र, उदार, अंग, शुद्ध स्फटिक वाले चजुर्भुज वासुदेव के स्वरूप को हृदय में रखना चाहिए।[52]

हयशीर्ष संहिता के अनुसार वासुदेव की मूर्ति शास्त्र सम्मत लक्षणों से युक्त होनी चाहिए जिसमें वासुदेव के स्वरूप का परम्परागत प्रतीकत्व की अभिव्यक्ति हो।[53] चतुर्व्यूह में दूसरा व्यूह संकर्षण है जो जीव का प्रतिनिधि है। संकर्षण को 'बल' से भी जाना जाता है। संकर्षण वाम हस्त में शंख धारण करते हैं। संकर्षण का वर्णन भी चतुर्भुज रूप में है।[54] *ईश्वर संहिता*[55] के अनुसार तेज शक्ति आत्मा वाले परमेश्वर रूपरहित होते हुए भी व्यूहात्मक गुणों तथा लक्षणों में परिवर्तित होते हैं। *पाद्म संहिता*[56] के अनुसार संकर्षण के स्वरूप मूर्ति में चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म को धारण किया होना चाहिए। तृतीय व्यूह प्रद्युम्न है। षड्गुणों में से जब ऐश्वर्य एवं वीर्य नामक गुणों का उद्रेक होता है तो उस स्थिति में उत्पन्न व्यूह प्रद्युम्न है। प्रद्युम्न का कार्य पाञ्चरात्र सिद्धान्त के अनुसार क्रिया की शिक्षा तथा उपदेश देना है। प्रद्युम्न के स्वरूप वर्णन में कहा गया कि एक मुख तथा चार भुजाओं में से दो मुख्य भुजाओं में शस्त्र धारण करते हैं। दूसरे दो हाथों में शारङ्ग, धनुष एवं दक्षिण हाथ में वाण धारण करते हैं[57], इनका वर्ण कृष्णपीत है। प्रद्युम्न पश्चिम दिशा में सुशोभित होते हैं।

प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की निष्पत्ति व्यूहवाद का अन्तिम रूप है। जगत सृष्टि के पश्चात् अनिरुद्ध का कार्य मोक्ष के रहस्य को बताना है।[58] जगत की रक्षा का कार्य अनिरुद्ध का है। *जयाख्य संहिता*[59] में अनिरुद्ध के सकल विग्रह का मंत्रों से पूजा का उल्लेख है। चतुर्व्यूहात्मक अनिरुद्ध के शरीर में सभी देवता निवास करते हैं।[60] ज्ञान, वैराग्य, कैवल्य आदि भेद से अनिरुद्ध की ही उपासना स्व आयुध एवं विधा से अलग-अलग रूप से करते हैं।[61] अनिरुद्ध का वर्ण नीला है तथा शंख, चक्र आदि से युक्त चतुर्भुज रूप में उत्तर की ओर स्थित है। *सात्वत संहिता*[62] में विशाख यूप की चर्चा व्यूह की चर्चा के अन्तर्गत की गई है। *लक्ष्मी तन्त्र*[63] में इसे ब्रह्म यूप कहा गया है, इसे यह एक दिव्य स्तम्भ है तथा स्वर्ग में स्थित है। यहाँ पर वासुदेव के द्वारा यागियों की साधना के लिए इस विशाखयूप का रूप धरा गया है।[64] अतः यह यूप चारों व्यूह को एक साथ बताता है। व्यूह के पश्चात् विभव का पाञ्चरात्र मंत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। विभव का अर्थ है अपने से इतर[65] अर्थात् सभी स्थावर जंगम के सजातीय रूप में आविर्भाव को विभव कहते हैं, विभव के दो प्रकार हैं – मुख्य एवं गौण। शुद्ध सृष्टि की प्रक्रिया में विभव या अवतार की गणना है। विभिन्न संहिताओं[66] में विभावों के भिन्न-भिन्न नाम हैं। *पाद्म संहिता*[67] के अनुसार वासुदेव के मत्स्य, कूर्म एवं वराह विभव हुए। द्वितीय व्यूह संकर्षण से नृसिंह, वामन, श्रीराम एवं परशुराम विभव आर्विभूत हुए, प्रद्युम्न से बलराम तथा अनिरुद्ध से श्रीकृष्ण एवं कलिक विभव की उत्पत्ति हुयी। विभिन्न संहिताओं के आधार पर 39 विभव देवताओं का परिचय प्राप्त होता है। व्यूह एवं विभव विश्वकल्याण के लिए है तथा इनमें दिव्यता होती है अतः इनकी अर्चा आवश्यक है। विष्णुसहस्रनाम[68] में पर, व्यूह एवं विभव का उल्लेख है।

पञ्चकाल

पाञ्चरात्र संहिताओं में पञ्चकाल के विषय में विस्तार से बताया गया है। कर्म के भेद से एक ही काल की पञ्च परिकल्पना पञ्चकाल है। वैष्णव दर्शन में प्रपत्ति अथवा शरणागति का सिद्धान्त है। प्रपत्ति का यह सिद्धान्त भक्त की मानसिक भावना है परन्तु यह भावना पञ्चकाल के रूप में कायिक रूप धारण करती है। अर्थात् भक्त समय की पाँच भागों में विभक्त करके शारीरिक क्रिया से अपने भाव के अनुसार व्यवहार करता है तथा मन को ईश्वर में आसक्त रखता है।[69] ये पाँच काल हैं – अभिगमन, उपादानकाल, इज्याकाल, स्वाध्यायकाल एवं योगकाल।[70]

अभिगमनकाल

ब्रह्ममुहुर्त से लेकर दिन के प्रथम प्रहर तक अभिगमन का काल है।[71] जिन क्रियाओं के द्वारा भक्त ईश्वर का स्मरण करता है वह अभिगमन है।[72]

उपादानकाल

दिन का द्वितीय प्रहर उपादान काल है। उपादान का अर्थ है संग्रह करना[73] जिस काल में भक्त खरीदे गये पुष्प, फल आदि का संग्रह करता है वह उपादान काल है।[74]

इज्याकाल

भगवान की विधिवत अर्चना जिस काल में की जाती है वह इज्या काल है। तृतीय प्रहर इसमें आता है। इज्या शब्द यज् धातु से बना है जिस क्रिया में देवता की पूजा एवं दान दिया जाए वह इज्या है।[75]

स्वाध्यायकाल

दिन के चतुर्थ प्रहर में अध्ययन अध्यापन एवं विष्णु सम्बन्धी जप किया जाता है। श्रीप्रश्न संहिता में स्वाध्याय काल की विस्तृत विवेचना है।[76]

योगकाल

पञ्च काल का अन्तिम है योगकाल। इसमें रात्रि का दूसरा, तीसरा एवं चौथा प्रहर आता है जिस समय भक्त योग का अभ्यास करता है वही योग काल है।[77] मध्य रात्रि में उठकर वैष्णव प्रसन्न चित् पाद शुद्धि तथा विधिवत आचमन करके योगाभ्यास करें।[78] इस प्रकार पञ्चकाल का जीवन पर्यन्त अनुष्ठान करने वाला भक्त ईश्वर को प्राप्त करता है।

उपसंहार

वैष्णव पाञ्चरात्र आगम परम्परा से सम्बन्धित है जो वासुदेव अथवा नारायण द्वारा प्रोक्त है अतः दिव्य है। सर्वोच्च सत्ता विष्णु में निहित होने के कारण आगम शास्त्र को वैष्णव कहा गया।[79] पाञ्चरात्र आगम में परम ब्रह्म नारायण हैं जिनसे संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुयी। पाञ्चरात्र परम्परा में व्रत एवं उत्सव, पूजा विधान एवं कर्मानुष्ठान के आवश्यक अंग हैं। पाञ्चरात्र में वर्णित चतुर्व्यूह समाज में बहुत प्रसिद्ध थे। कई प्रमाणों के अनुसार इन सभी की अर्चना मन्दिरों में की जाती थी। पाञ्चरात्र साहित्य अत्यन्त विपुल है यह मत वैष्णव तन्त्र से सम्बन्धित होने से दक्षिण के अनेक मन्दिरों में तान्त्रिक पद्धति से आज भी पूजा की जाती है। पाञ्चरात्रागम के अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जो तान्त्रिक प्रभाव व्यक्त करते हैं इसी के अनुरूप इस परम्परा के इतिहास को सूचित करने वाले पुरावशेष भी प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा स्वयं को परम भागवत कहने वाले गुप्त सम्राटों ने वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बनाया।

संदर्भ

1. *आगम एवं तन्त्रशास्त्र* – ब्रजवल्लभ द्विवेदी, पृ. 36, 37
2. *ऋग्वेद*–10.90

3. *विष्णुपुराण* – ज्ञानंशक्तिर्बलैश्वर्यं वीर्यं तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः।। *विष्णुपुराण* 6.5.79
4. पुरुषो ह नारायणो कामयत! अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहमेवेदं सर्वस्यमिति। स एवं पुरुषमेधं पाञ्चरात्रं यत्रश्रतुमपश्यत्...। *शतपथ ब्राह्मण* 13.6.1
5. आगतं पञ्चवक्त्रतात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं चं वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते।। *शब्दकल्पद्रुम*, पृ. 165
6. Tantra - A religious realise generally in the form of a dialogue between Shiva and Durga, teaching Peliar and mystical formulae for the worship of the eities or the attainment of superwoman power - Manierwilliams Dictionary, p. 795.
7. आज्ञावस्तु समन्ताद्य गम्यत इत्यगमो मतः।
तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः।। *Tantra: Studies in their Religion and Literature*, p. 2
8. वैखानसं च शैवं च तन्त्रं पाशुपतं तथा।
पाञ्चरात्रं महातन्त्रं तन्त्राण्येतानि सुव्रत।। *नारद संहिता*–25.337
9. इदं महोपनिषदं चतुर्वेद समन्वितम्।
सांख्ययोगकृतं तेन पाञ्चरात्रानुशब्दितम्।
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽस्तावयत् पुनः।। *महाभारत शान्तिपर्व*, 339.100
10. *वैष्णव पाञ्चरात्र आगम* – कतिपय पक्ष – रामप्यारे मिश्र, पृ. 70
11. *पादम् संहिता, पौष्कर संहिता, मार्कण्डेय संहिता* इत्यादि
12. रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविध स्मृतम्। *नारद पाञ्चरात्र*, अध्याय 331
13. पाञ्चरात्रे पञ्च शाण्डिल्यक्षोपगायनः
मौञ्जायनः पृथकगेकैकादिवारात्र जगत्प्रभुः।
अध्यापयामास यतस्तदेवन्मुनिपुङ्वा।
14. शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते।। *ईश्वर संहिता* 21.519.532-33
15. अग्निपुराण xxix.7, *परमसंहिता* I.; 39.41
16. *अर्हिबुधन्य संहिता* xi.64.6
17. सनत् कुमार कपिल तथा सनातन।
18. *आगम कोष भाग-4*, एस.के. रामचन्द्रराव, *महाभारत*
19. इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्
सांख्य योग कृतान्तेन पंचरात्रानुशब्दितम्।
नारायण मुखोद्गीतं नारदोश्रावयत्पुनः।
ब्रह्मणः सदने तात यथादृष्टं यथाश्रुतम्।। *महाभारत शान्तिपर्व* 339.111-112
20. *ईश्वर संहिता* 1.29-30
21. सार्धकोटिप्रमाणं हि पाञ्चरात्रमिद स्मृतम्। *पाराशर संहिता*
22. *ईश्वरसंहिता*– 10, 336-337
23. *पाराशर संहिता*– 346-347
24. *पाराशर संहिता*– 340-343
25. *पाञ्चरात्रागम* – डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, पृ. 24

26. *आगमकोश*, भाग 4, पृ. 41
27. इन्ट्रोडक्शन टू पाञ्चरात्र एण्ड अहिर्बुधन्य संहिता, पृ. 26
28. *वैष्णव पाञ्चरात्र आगम* – डॉ. रामप्यारे मिश्र
29. *पाञ्चरात्र आगम* – डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, पृ. 30
30. वही, पृ. 35
31. वही, पृ. 36
32. *वैष्णव पाञ्चरात्र आगम* – डॉ. रामप्यारे मिश्र, पृ. 259
33. वही, पृ. 259
34. *कल्याण भक्ति अंक*, पृ. 183
35. अभ्यासाद्य भवन्त्येते न कदाप्यविचिन्तयेत्।
ध्वनिनैव हरेरुपे कुर्यात्परिचयं वदा।।
ततोस्य वर्धते भक्ति सततः स्नेहोस्यजायते।।
अनपायी भवन्त्येव देवदेवस्य पादयो:।। *परमसंहिता* 24-10-11
36. *परमसंहिता* 3.3738
37. *विष्णु संहिता* 2.1-11
38. *परमपुरुष संहिता* 2.1-100
39. *पाञ्चरात्रागम*, डॉ. राधवप्रसाद चौधरी, पृ. 15
40. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
41. अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ।। *पद्मपुराण* 7/5/23
42. *पौष्कर संहिता* 31.207-10
43. यो वासुदेवो भगवान्दोषज्ञो त्रिगुणात्मकः। ज्ञेयः स एव भगवाञ्जीवः संकर्षणः संकर्षवाच्च प्रद्युम्नो मनोभूत स उच्चयवे।।
प्रद्युम्नाथोनिरुद्धस्तुसोकारो महेश्वरः।।
44. त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म शाश्वतं।
आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दूरतः।। *सात्वत संहिता* 1-24
45. षाड्गुण्यविग्रहं देवं भास्वज्जवलनतेजसम्।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतों क्षिशिरोमुखम्।। *सात्वत संहिता* 1.125
46. त्रिविधेन प्रकारेण परमं ब्रह्म शाश्वतं।
आराधयन्ति ये तेषां रागस्तिष्ठति दुःखहा।। *सात्वत संहिता* 1.24
47. सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वताक्षिशिरोमुखम्।। *सात्वत संहिता* 11.25
48. सृजते हनिरुद्धोत्र प्रद्युम्नः पाति तत्कृतम्।
सृष्टं तद्दिक्षंत चास्ति स च संकर्षणः प्रभुः।। *लक्ष्मीतन्त्र* 4.19
49. *जयाख्य संहिता* 6.77 49
50. *ईश्वर संहिता* 6.77
51. *बृहदसंहिता* 1.100
52. *विष्णु संहिता* 6.64-65
53. *वैष्णव पाञ्चरात्र आगम* – डॉ. रामप्यारे मिश्र, पृ. 133
54. *लक्ष्मी तन्त्र*, 10.31-33

55. *ईश्वर संहिता* 24.83-97
56. वासुदेवो जगद्योनिः संकर्षणमतः शृणु।
गदाशंखाजचक्राणि धारयन्तं चतुर्भुजम्।। *पाद्म संहिता* 16.137
57. *ईश्वर संहिता* 24.123-124
58. *वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त*, पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 83
59. *पाञ्चरात्रागम* - डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, पृ. 40
60. *वैष्णव पाञ्चरात्र आगम*, डॉ. रामप्यारे मिश्र, पृ. 137
61. वही
62. *सात्वत संहिता* अध्याय-4.2.34
63. *लक्ष्मीतन्त्र*, अध्याय-5.22-35
64. *हिस्ट्री एंड डाक्टरीन्स ऑफ पाञ्चरात्र आगम* - पीएच.डी थीसिस, बिन्दिया त्रिवेदी, पृ. 147
65. विभवो नाम तत्तत् सजातीयरूपेणविर्भावः, *आगम कोष*, भाग-4
66. *लक्ष्मी तन्त्र, जयाख्य संहिता, आर्हिबुधन्य संहिता*
67. *पाद्यसंहिता, ज्ञानपद*, 2.26-33
68. परव्यूहविभवात्मना त्रिविधं परं ब्रह्मेति भागवत सिद्धान्तः। *विष्णुसहस्रनाम*, पराशरभट्ट
69. *पाञ्चरात्रागम* - डॉ. राघवप्रसाद चौधरी, 322
70. वही, पृ. 323
71. जयाख्यसंहिता, *नारदीय संहिता* 30.4
72. ब्राह्मोमुहुर्तः सैव यात् तदा निद्रां परित्यजेत।
प्रक्षाल्य पाणिपादं च स्मरेत्त पापहरं हरिम्।। *प्रश्नसंहिता* 17.5-6
73. उपदीयते इति उपादानम्
74. सनतकुमार संहिता 1.6.7.8
75. अर्चितो देवदेवेशः कालज्ञेन तु मन्त्रिणा।
इज्यार्चेति समाख्याता यागकर्मणि यत् कृतम्।। *सनत कुमार संहिता* 1.9
76. *श्रीप्रश्नसंहिता* 171.55-56
77. यदा भागवत श्रेष्ठो योगं योगी च योगवित्। स योग काले विज्ञेयः। *नारदीय संहिता* 30.8
78. *श्रीप्रश्न संहिता* 17.13
79. *आगम एवं तन्त्र शास्त्र*, ब्रज वल्लभ द्विवेदी

सहायक आचार्य
भारती महाविद्यालय, सी-4 जनकपुरी
दिल्ली विश्वविद्यालय
Res : 451 New Sansad Vihar Society
Plot No. 4, Sec-22, Dwarka-110077
M. 9811093715

श्रीनेत्रतन्त्रोक्त अष्टाङ्ग योग विमर्श

नवकान्त

सार

काश्मीर शैवशाक्त आगमिक परम्परा में श्रीनेत्रतन्त्र योग के प्रचलित आठ अङ्गों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि यथावत् नाम के साथ परन्तु नए स्वरूप को प्रस्तुत करता है। आचार्य क्षेमराज *नेत्रतन्त्र* की उद्योत व्याख्या में इसे लोकप्रचलित स्वरूप से विलक्षण बताते हैं। *श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र* उपलब्ध मुख्य आगम ग्रन्थ 6 अङ्गों—प्राणायाम, धारणा, तर्क, ध्यान, समाधि और प्रत्याहार—की चर्चा करता है। जिसमें तर्क को उत्तम योगाङ्ग कहते हैं। पातञ्जल योग सूत्र वर्णित अष्टाङ्ग योग अविद्या रूपी अशुद्धि का क्षय कर विवेकख्याति की प्राप्ति है और समाधि को लक्षित कर स्वरूपावस्थित होने पर केंद्रित है। श्रीनेत्रतन्त्र में वर्णित प्रत्येक योगाङ्ग की विलक्षणता यह है कि प्रत्येक अङ्ग का सम्बन्ध चेतना के सद्यः प्रकाशन से है और यहअक्रम है। इसमे श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्रोक्त उत्तम योगाङ्ग तर्क से इन अङ्गो के स्वरूप का सम्बन्ध स्पष्टतया देखा जा सकता है।

मुख्य शब्द– *अष्टाङ्ग योग, श्रीनेत्रतन्त्र, काश्मीर शैवशाक्त आगमिक दर्शन, षडङ्ग योग।*

भूमिका

नेत्रतन्त्र की एक उपागम के रूप में काश्मीर शैवशाक्त आगमिक परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है। स्वयं महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त इसे तंत्रालोक में उद्धृत करते हैं व उनके शिष्य आचार्य क्षेमराज इस पर उद्योत व्याख्या करते हैं। 22 अधिकारों में विभाजित यह तन्त्र ग्रन्थ योग के प्रचलित आठ अंगों को यथावत् नाम के साथ परन्तु नए स्वरूप को प्रस्तुत करता। आचार्य क्षेमराज अपनी नेत्रतन्त्र की उद्योत व्याख्या में इसे आठ अंगों के लोकप्रचलित स्वरूप से विलक्षण बताते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र नेत्रतन्त्र में वर्णित अष्टाङ्ग योग की विलक्षणता को काश्मीर शैवशाक्त आगमिक परम्परा के मूल उपलबद्ध आधार आगम श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र में प्रस्तुत योग के 6 अंगों और मुख्यतः प्रचलित महर्षि पतंजलि कृत योग सूत्र में प्रस्तुत योग के 8 अंगों से विलक्षणता को देखने का प्रयास है।

आठ अंग

पतंजलि कृत योग सूत्र में वर्णित प्रचलित आठ अङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योग के शास्त्रों में भी इन्ही नामों अथवा कुछ कम अङ्ग ही उपलब्ध होते हैं। कुछ उपर्युक्त से भिन्न अन्य नाम भी उपलब्ध होते हैं जो लक्षणया उपर्युक्त में अनुस्यूत किए जा सकते हैं अथवा यह अङ्ग विशेष नए किसी बिन्दु पर केंद्रित होता है। श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र में प्राणायाम, धारणा, तर्क, ध्यान, समाधि, प्रत्याहार क्रम से षडङ्ग प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि यहाँ षडङ्ग योग नहीं कहा गया है। इसमे तर्क को

योग का सबसे उत्तम अङ्ग कहते हैं।[1] श्रीनेत्रतन्त्र में आठ अंगों के नाम महर्षि पतंजलिकृत योग सूत्र जैसे ही हैं।

श्रीनेत्रतन्त्रोक्त अष्टाङ्ग योग

अष्टाङ्ग योग नेत्रतन्त्र में अष्टम अधिकार में वर्णित है। "पर उपाय"[2] "पर ध्यान"[3] नाम भी यहाँ वर्णित अष्टाङ्ग योग को दिया गया है। आचार्य क्षेमराज प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग को अन्य शास्त्र में प्रतिपादित अष्टाङ्ग योग से विलक्षण बताते हैं।[4] संसार से नित्य विरक्ति यम है।[5] पर तत्त्व की नित्य भावना नियम है।[6] प्राण अपान पथ के मध्य मध्यम प्राण का आश्रय और ज्ञान शक्ति का आलंबन ले कर स्थित होना आसन है।[7] आसन के संदर्भ में आचार्य क्षेमराज स्पष्ट करते हैं—मध्यम प्राण का आश्रय लेना अर्थात् उदान प्राण का आश्रय लेना है। वहाँ पर प्राण व्याप्ति का निमज्जन और चिद् व्याप्ति का उन्मज्जन होने से स्फुरत्ता रूप उन्मिषित् हो रही संविद्रूप ज्ञान शक्ति में दृढता से धारण कर स्थित होना। इस आसन में स्थित हो योगी निज ज्ञान शक्ति के आसन में आसीन चिन्महेश रूप हो जाता है।[8] प्राण व्याप्ति का निमज्जन अर्थात् प्राण के विभिन्न बहिर्मुख व्यवसायों और इंद्रिय इत्यादि के बहिर्मुख व्यवसायों का शांत हो अंतर्मुख होना। चिद् व्याप्ति का उन्मज्जन अर्थात् चैतन्य की व्यापकता का उन्मेष होना। प्राण आदि स्थूल व्यापारों को त्याग कर सूक्ष्म अंतर व्यापारों में स्थिति, सूक्ष्म को त्यागकर सूक्ष्मातीत परम स्पंदन में स्थिति प्राणायाम है। जिसे प्राप्त कर पुनः वियुक्त नहीं होता है।[9] वियुक्त नहीं होने का अर्थ है चित् प्रमातृता कभी नहीं जाती।[10] शब्द आदि गुणों में वृत्ति को त्यागकर परम धाम में प्रवेश प्रत्याहार है।[11] बुद्धि के सभी गुणों का अतिक्रम कर जो निर्ध्येय है,विभू है का ध्यान यह ध्यान है।[12] धारणा है परमात्मत्व को सतत धारण किए रहना। यह धारणा भव बन्ध विनाशिनी है।[13] आचार्य क्षेमराज स्पष्ट करते हैं परमात्मत्व को धारण करना अर्थात् समावेश के आलंबन से चैतन्य को धारण करना।[14] समाधि 4 प्रकार की है। आचार्य क्षेमराज इन्हे आणव, शाक्त,शाम्भव और अनुपाय से प्राप्त होने वाली बताते हैं।[15] सभी प्राणियों में सम चित्त प्रथम प्रकार की समाधि है। स्व व पर अर्थात् अहंता और इदंता में समान बुद्धि कर शिवोहम् अद्वितीयोहम् शुद्ध विकल्प में स्थिति द्वितीय समाधि है। स्वाभाविक स्वसंवेद्य संविद् स्वरूप का सम्यक रूप से स्वयं स्फुरित होना तृतीय प्रकार है। चेतन और जड़ राशियों में नित्य शाश्वत पद का स्फुरण चतुर्थ प्रकार की समाधि है।[16] इस अष्टाङ्ग योग के द्वारा स्वभाव में स्थित हो मृत्युञ्जित हो जाता है।[17] इस प्रकार नेत्रतन्त्र में वर्णित यह आठों अंगों का लक्ष्य चेतना के सीधे ज्ञान से है। प्रोफेसर बेट्टीना बॉमर जी "दि योग ऑफ नेत्रतन्त्र" में स्पष्ट करती हैं नेत्रतन्त्र के पहले अध्याय में आचार्य क्षेमराज द्वारा इंगित षडङ्ग योग और आठवें अध्याय में वर्णित अष्टाङ्ग योग में अंतर यह है कि पहले अध्याय में आस्तिकता पहलू प्रमुखता में है और योग की पहचान आराधना से की गई है। इस प्रकार यह द्वैतवादी उपासना है। अध्याय 8 में अष्टाङ्ग योग में ये दोनों पहलू अनुपस्थित है। यह परम सर्वात्मक अर्थात् परमाद्वय केंद्रित है।[18]

श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्रोक्त षडङ्ग योग

मालिनिवियोत्तर तन्त्र में सत्रहवें अधिकार में षडङ्ग योग प्राणायाम, धारणा, तर्क, ध्यान, समाधि और प्रत्याहार क्रम में है। प्राणायाम मन की गतिभंग के लिये अभ्यास है और यह पाँच प्रकार का है। पूरक, कुम्भक, रेचक, अपकर्षक व उत्कर्ष।[19] यहाँ वर्णित प्राणायाम का सम्बन्ध पातञ्जल योग सूत्र से अधिक

निकट है। धारणा यहाँ चार प्रकार की है और इनका स्थान नाभि, हृत्, तालु और कंठ है। इन धारणाओं की विशेषता है सर्वगत रूप में ग्रहण करना और स्थिति होने पर हेय के परित्याग से अनुत्तम पद की स्थिति होती है।[20] तर्क है निश्चय कर उपादेय को ग्रहण करने का यत्न और हेय का त्याग।[21] ध्यान मन की अनामय में निश्चल भाव में स्थिरता है। मुहूर्त पर्यंत भी इसमे स्थिरता समाधि है।[22] प्रत्याहार है किसी वस्तु पर चित्त के स्थिर होने पर उसके अतिरिक्त किसी अन्य का न भासना और उसी में तन्मयता होने के बाद अभाव की स्थिति जिसमे की चित्त किसी अन्य पर गति नहीं करता है।[23]

पातञ्जल योग सूत्र वर्णित अष्टाङ्ग योग

योग सूत्र में वर्णित अष्टाङ्ग योग का लक्ष्य है अविद्या रूपी अशुद्धि का क्षय कर विवेकख्याति की प्राप्ति है।[24] प्रत्येक अङ्ग का यहाँ एक उद्देश्य है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरङ्ग हैं और धारणा, ध्यान और समाधि अंतरङ्ग हैं।[25] निर्बीज समाधि में यह भी बहिरङ्ग साधन हैं।[26] यहाँ लक्ष्य है साधन द्वारा चित्त की निरुद्ध स्थिति को प्राप्त करना। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं।[27] शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं।[28] स्थिर और सुख पूर्वक उपवेशन आसन है। यह प्रयत्न शैथिल्य और अनन्त समापत्ति से सिद्ध होता है।[29] आसन स्थिर होने पर श्वास प्रश्वास का गतिविच्छेद प्राणायाम है।[30] गतिविच्छेद श्वास के आचमन और निःसारण दोनों का अभाव है।[31] अपने विषयों के साथ असंयुक्त होने पर इंद्रियाँ चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती है अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने पर इंद्रियाँ भी निरुद्ध होती हैं यही प्रत्याहार है।[32] धारणा चित्त का देश में स्थिर होना है।[33] इस देश में ध्येय विषयक प्रत्यय की एकतानता ध्यान है।[34] ध्येयाकार निर्भास स्वरूप शून्य के समान ध्यान समाधि है।[35] समाधि सबीज और निर्बीज है। चित्त की मूढ़, क्षिप्त विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध 5 भूमिकाएं हैं। यहाँ साधन चित्त की निरुद्ध अवस्था को लक्षित कर है।

उपर्युक्त का विश्लेषण कर हम निम्लिखित बिंदुओं पर पहुंचते हैं—

1. श्रीनेत्रतन्त्रोंक्त अष्टाङ्ग योग यद्यपि सभी नाम यथावत् है तथापि उनका स्वरूप भिन्न है।
2. नेत्रतन्त्रोंक्त अष्टाङ्ग योग में प्रत्येक अङ्ग सीधे लक्ष्य की प्राप्ति हेतु है।
3. श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र यद्यपि 6 अंगों को बताता है परन्तु उन्हे षडङ्ग या षडङ्ग योग नहीं कहता है। तर्क से हर स्तर पर हेयोपादेय ज्ञान से योग मार्ग प्रशस्त होता है। शास्त्र में इसे योगाङ्गों में उत्तम अङ्ग कहा है। श्रीनेत्रतन्त्र वर्णित अष्टाङ्ग योग का इसी तर्क के साथ सबंध है।
4. पांतजल योगाङ्ग क्रम से चित्त की निरुद्ध अवस्था को प्राप्त कर स्वरूपस्थ होना को लक्षित है नेत्रतन्त्रोक्त अष्टाङ्ग योग का सम्बन्ध चेतना के सद्यः प्रकाशन से है यह अक्रम है।

पातञ्जल अष्टाङ्ग योग और नेत्रतन्त्र अष्टाङ्ग योग सम्बन्धमेंप्रोफेसर नवजीवन रस्तोगी जी के शब्दों में – "यद्यपि पातञ्जल योग के अवधारणा–प्रत्ययों की शब्दावली को नेत्रतन्त्र बनाए रखता है, फिर भी उनका प्रतिपादन मूलतः भिन्न ज्ञाननिष्ठ धार के साथ हुआ है"।[36] "पातञ्जल योग और नेत्रतन्त्र के योग में मौलिक अंतर उनकी क्रमशः व्यावहारिक और मोक्षपरक अन्तः प्रेरणाओं के कारण है"।[37] "जहाँ तक अष्टाङ्ग योग और पतंजल अष्टाङ्ग योग के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न है, पातञ्जल अष्टाङ्ग योग क्रिया प्रधान है और नेत्र

तन्त्र का अष्टअङ्ग योग ज्ञान प्रधान"।[38] बेट्टीना बॉमर जी के शब्दों में "पतंजलि की प्रणाली में अष्टअङ्ग योग चरणों में प्रगतिशील है जबकि शिवाद्वैत में यह प्रत्येक चरण अंतिम लक्ष्य में भागीदार है"।[39]

उपसंहार

श्रीनेत्रतन्त्र में वर्णित अष्टाङ्ग योग की विलक्षणता है कि प्रत्येक अङ्ग का सम्बन्ध चेतना के सीधे प्रकाशन से है।इस अष्टाङ्ग योग में स्थित योग के उत्तम् अङ्ग तर्क की स्पष्ट स्थिति देखी जा सकती है। प्रोफेसर नवजीवन रस्तोगी जी के शब्दों में "सत्तर्क को शुद्ध विद्यात्मक और प्रातिभ कहने का अर्थ यह है कि योग को मन और चित्त की भूमि से हटाकर विशुद्ध प्रज्ञा की भूमि पर प्रतिष्ठित किया जा रहा है। शरीर और मन से ऊपर विशुद्ध प्रज्ञा के धरातल पर योग की प्रतिष्ठा योग की तीसरी धारा या तीसरे स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। यह विचारद्वय- प्राणायाम आदि का तिरस्कार और सत्तर्क का अभ्युपगम- त्रिक योग के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है"।[40] श्री विज्ञान भैरवोक्त निस्तरंग उपदेशों, और श्री नेत्रतन्त्र वर्णित अष्टाङ्ग योग में श्रीमालिनिविजयोत्तर की उक्त योगांग तर्क की स्थिति स्पष्ट दिखती है। यही इसे पातञ्जल योग से विलक्षण स्वरूप देता है। प्रोफेसर नवजीवन रस्तोगी जी के शब्दों में -"इस पातञ्जल प्रक्रिया में अभिनवगुप्त केवल एक ही अंतर करते हैं कि वह यमादि अष्टांगों को स्वपूर्वपूर्वोपायरूप से अन्ततः तर्क में उपयोगी मानते हैं, संवित् के प्रति उनका कोई उपयोग नहीं है। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि समाधि रूप अंतिम अंग भी तर्क का उपकारक या सहायक है और वस्तुतः तर्क अंतिम और सर्वोच्च अंग है। हम यहाँ पर आकर अटकते हैं। जयरथ का कहना है कि यद्यपि तन्त्रयोग के छह अंग हैं परन्तु उसे छोड़कर अभिनव के द्वारा आठ अंगों के उल्लेख के पीछे आशय यह है कि कहीं भी आठ से अधिक अंग नहीं माने गए हैं और ये सारे तर्क के ही उपाय हैं न कि संवित्साक्षात्कार के, वह तो केवल तर्कलभ्य है। इस आधार पर शैव योग, पातञ्जल योग से भिन्न और विशिष्ट है"।[41]

संदर्भ ग्रन्थ

1. *श्रीनेत्रतन्त्रम्*, क्षेमराजकृत उद्योत सहित, संपादक पण्डित मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, काश्मीर-श्रीनगर, प्रथमखंड1926।
2. *नेत्रतन्त्रम्*, क्षेमराजकृत उद्योत सहित, संपादक पं. ब्रजबल्लभ द्विवेदी, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, 2004।
3. *श्रीनेत्रतन्त्रम्* , क्षेमराजकृत उद्योतसहित, आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी, चौखम्बा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2013।
4. श्रीमालिनीयोत्तरतन्त्रम्, नीरक्षीर विवेक सहित, संपादक डॉ. परमहंस मिश्र, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2010।
5. *पातञ्जल योग दर्शन*, व्यास भाष्य, स्वामी हरिहारानंद आरण्यकृत भास्वती टीका, संपादक डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, नवम्पुनर्मुद्रण, 2017, प्रथम संस्करण, 1953।
6. *काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ*, प्रो. नवजीवन रस्तोगी, मुँशी राममनोहर लाल पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, 2002।
7. *अभिनवगुप्त का तंत्रागमीय दर्शन*, प्रो. नवजीवन रस्तोगी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, प्रथम संस्करण, 2012, द्वितीय 2018।
8. *The Yoga of Netra Tantra*, Bettina Sharada Baumer, Edited byShivam Srivastava, Second edition, 2021.

सन्दर्भ

1. योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम् । *श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र*, 17/18- अ ।
2. त्रिविधं तदुपायं तु स्थूलं सूक्ष्मं परं च तत्॥- *श्रीनेत्रतन्त्र6*/6
3. आचार्य क्षेमराज इसे "पर ध्यान" भी कहते हैं- सूक्ष्मध्यानानन्तरं परध्याननिर्णयाय.... —आचार्य क्षेमराज, *नेत्रोद्योत*, अष्टम अधिकार, पूर्व पीठिका प्रथम श्लोक।
4. तमष्टाङ्गयोगमन्यशास्त्रप्रतिपादितरूपवैलक्षण्येन क्रमेणादिशतिदेवः – आचार्य क्षेमराज, *नेत्रोद्योत*, 8/10 पूर्व पीठिका।
5. संसाराद्विरतिर्नित्यं यमः पर उदाहृतः ।-*श्रीनेत्रतन्त्र*, 8/10अ
6. भावना तु परे तत्त्वे नित्यं नियम उच्यते ॥ – *श्रीनेत्रतन्त्र*, 8/10ब
7. मध्यमं प्राणमाश्रित्य प्राणापानपथान्तरम् ।
   आलम्ब्य ज्ञानशक्तिं च तत्स्थं चैवासनं लभेत ॥- *श्रीनेत्रतन्त्र*,8/11
8. प्राणापानमार्गयोः सव्यापसव्ययोरान्तरं मध्यनाड्यां भवंप्राणमित्यूर्ध्वगामिनमुदानमाश्रित्य, ततश्च प्राणीयव्याप्तिनिमज्जनेन चिद्व्याप्त्युन्मज्जनाद्ज्ञानशक्तिमुन्मिषत्स्फुरत्तारूपां संविदमालम्ब्यावष्टभ्य, तत्स्थमेवासनं योगी लभते निजज्ञानशक्त्यासनासीनश्चिन्महेशरूपो भवतीत्यर्थः। – आचार्य क्षेमराज, *नेत्रोद्योत* 8/11।
9. प्राणादिस्थूलभावं तु त्यक्त्वा सूक्ष्ममथान्तरम्।
   सूक्ष्मातीतं तु परमं स्पन्दनं लभ्यते यतः ॥
   प्राणायामः स उद्दिष्टो यस्मान्न च्यवते पुनः। —*श्रीनेत्रतन्त्र*,8/12, 13 अ ।
10. ..... चित्प्रमातृमयतां न कदाचिज्जहाति – आचार्य क्षेमराज, *नेत्रोद्योत*, 8/12 ।
11. शब्दादिगुणवृत्तिर्या चेतसा ह्यनुभूयते ॥ 8-13
    त्यक्त्वा तां प्रविशेद्धाम परमं तत्स्वचेतसा।
    प्रत्याहार इति प्रोक्तो भवपाशनिकृन्तकः ॥8-14 ॥ -*श्रीनेत्रतन्त्र*,8/13ब, 14॥
12. धीगुणान् समतिक्रम्य निर्ध्येयं चाव्ययं विभुम् ।
    ध्यात्वा ध्येयं स्वसंवेद्यं ध्यानं तच्च विदुर्बुधाः ।8-15॥- *श्रीनेत्रतन्त्र*,8/15
13. धारणा परमात्मत्वं धार्यते येन सर्वदा ।
    धारणा सा विनिर्दिष्टा भवबन्धविनाशिनी ॥8-16॥ – *श्रीनेत्रतन्त्र*,8/16
14. .....परमात्मत्वं चैतन्यं धार्यतेसमावेशेनावलम्ब्यते... – आचार्य क्षेमराज, *नेत्रोद्योत*, 8/16
15. ...समाधिमपिपरस्वरूपविषयमाणवशाक्तशाम्भवोपायप्राप्यमनुपायं...-.आचार्य क्षेमराज,*नेत्रोद्योत*, 8/17 पूर्व पीठिका।
16. समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्तनिग्रहः।
    समाधानमिति प्रोक्तमन्यथा लोकदाम्भिकम् ॥8-17॥
    स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन् समानधीः॥
    शिवोऽहमद्वितीयोऽहं समाधिः स परः स्मृतः ॥ 8-18॥
    सम्यक्स्वरूपसंवेद्यं संविद्रूपं स्वभावजम्॥
    यस्वसंवेद्यस्वरूपं च समाधानं परं विदुः॥8-19॥

राशिभ्यां चिज्जडाभ्यां च विचार्य निपुणं पदम्।
यन्नित्यं शाश्वतं रूपं समाधानं तु तद्विदुः ॥8-20॥ /*श्रीनेत्रतन्त्र*,8/17,18,19,20

17. एवमष्टाङ्गयोगेन स्वभावस्थं परं ध्रुवम्।
दृष्ट्वा वश्यते कालममृतेशं परं विभुम् ॥ 8-21॥
मृत्युजित् स भवेद्देवि न कालः कलयेच्च तम् । -*श्रीनेत्रतन्त्र*,8/21, 22अ

18. "The striking difference between the brief definition of the sixfold Yoga in chapter 1 (Kşemarāja), and the transformation of the astānga-yoga of Patañjali is that in the first the theistic aspect is in the foreground, and the identification of Yoga with ārādhana, thus a kind of dualistic worship. In chapter VIII, devoted to para-dhyāna, both these aspects are absent, and Yoga is neither understood as a (dualistic) practice, much less a dualistic worship, it is beyond any objectification (of Śiva as a tattva or as a goal). Therefore, the extremely brief definition of para-dhyāna in chapter VI is fitting: param sarvātmakam, "the supreme (meditation) is universal", which Kşemarāja clarifies as of supreme non-duality (paramādvayam) (p. 127)".-*The Yoga of Netratantra*, Bettina Baumar, page- 73 .

19. गतिभङ्गं ततस्तस्य प्राणायामेन कारयेत् ।
स च पञ्चविधः प्रोक्तः पूरकादिप्रभेदतः ॥ 2 ॥
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचको ह्यपकर्षकः।
उत्कर्षः पञ्चमो ज्ञेयस्तदभ्यासाय योगिभिः ॥ 3॥ - *श्रीमालिनीविजयोत्तरतंत्र* 17/2,3

20. चतस्रो धारणा ज्ञेया शिख्यम्व्वीशामृतात्मिकाः ।
यद्यत्र चिन्तयेद्द्रव्यं तत्तत्सर्वगतं स्मरेत् ॥ 14॥ - *श्रीमालिनीविजयोत्तरतंत्र* 17/14

21. योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।
हेयाद्यालोचना तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते ॥ 18॥ - *श्रीमालिनीविजयोत्तरतंत्र* 17/18

22. मार्गे चेतः स्थिरीभूते हेयेऽपि विषयेच्छया ।
प्रेर्यं तेनानयेत्तावद्यावत्पदमनामयम् ॥ 19 ॥
तदर्थभावनायुक्तं मनोध्यानमुदाहृतम् ॥
तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते ॥ 20॥
मुहूर्तादेव तत्रस्थः समाधिं प्रतिपद्यते । - *श्रीमालिनीविजयोत्तरतंत्र* 18/19,20, 21अ

23. तत्रापि च सुनिष्पन्ने फलं प्राप्नोत्यभीप्सितम् ॥ 21 ॥
यत्किंचिच्चिन्तयेद्वस्तु नान्यत्वं प्रतिपद्यते ।
तेन तन्मयतामाप्य भवेत्पश्चादभाववत् ॥ 22 ॥
पश्चतामिव संप्राप्तस्तीव्रैरपि न चाल्यते ।
ततः शब्दादिभिर्योगी योगिनीकुलनन्दनः ॥ 23॥
इत्यनेन विधानेन प्रत्याहृत्य मनो मुहुः।
प्राणायामादिकं सर्वं कुर्याद्योगप्रसिद्धये ॥ 24॥- *श्रीमालिनीविजयोत्तरतंत्र* 17/21 ब,22,23,24

24. योगङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति राविवेकख्यातेः । - 2/28 *योग सूत्र*

25. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः । – *योग सूत्र* 3/7
26. तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य । – *योग सूत्र* 3/8
27. *योग सूत्र* 2/30
28. *योग सूत्र* 2/32
29. *योग सूत्र* 2/46,47
30. *योग सूत्र* 2/49
31. सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कौष्ठ्यस्य वायो निःसारणं प्रश्वासः, तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः।।– 2/49 *योग सूत्र* व्यास भाष्य ।
32. *योग सूत्र* 2/45
33. *योग सूत्र* 3/1
34. *योग सूत्र* 3/2
35. *योग सूत्र* 3/3
36. *अभिनवगुप्त का तन्त्रागमीय दर्शन,* अद्वयमूलक काश्मीरी शैवागम परम्पराओं में योग, नवजीवन रस्तोगी, 305, ।
37. *अभिनवगुप्त का तन्त्रागमीय दर्शन,* अद्वयमूलक काश्मीरी शैवागम परम्पराओं में योग, नवजीवन रस्तोगी, 306 ।
38. *काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारनाएं, योग,* नवजीवन रस्तोगी, 209।
39. "The section on aṣtanga-yoga placed at the level of para-dhyāna contains its essential practice, lifted from the Patanjali scheme, whose terminology is followed by the Netra, to a higher, transcendent level: in the words of Kṣemarājalokottaradṛṣṭyāpratipadya (on 8.16).

    He thereby implies that aṣtanga in the system of Patañjali is progressive in stages, whereas in the light of the non-dualism of Consciousness (cidadvaya), each stage is already a participation in the final goal. Even then the transcendental view of each anga follows the logic contained in it and connects with the original meaning by lifting it up to the higher level". - *The Yoga of Netratantra* Bettina Baumar, page- 73.
40. *काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ,* नवजीवन रस्तोगी, 2002, पृष्ठ 205
41. *काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ,* नवजीवन रस्तोगी, 2002, पृष्ठ 205

शोधार्थी,
धर्मागम विभाग,
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी– 221005
9997899199
navkantjuyal@gmail.com

आगम तन्त्र : दार्शनिक, साधनात्मक एवं सांस्कृतिक अन्वेषण

सिद्धार्थ तिवारी

शोध-सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र भारतीय आध्यात्मिक एवं दार्शनिक परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण धारा 'आगम तन्त्र' का समग्र विश्लेषण करता है, जिसमें इसके ऐतिहासिक विकास, शास्त्रीय स्वरूप, मूल दार्शनिक प्रतिपादन तथा साधनात्मक तकनीकों को समन्वित रूप से विवेचित किया गया है। आगम को वैदिक 'निगम' का प्रतिद्वन्द्वी न मानकर उसके पूरक और व्यावहारिक विस्तार के रूप में स्थापित किया गया है, जो कर्म, ज्ञान और उपासना के वैदिक आदर्शों के लिए साधन-तन्त्र प्रदान करता है। शोध में शैव, शाक्त और वैष्णव—इन तीन प्रमुख आगमिक धाराओं के अंतर्गत शिव-शक्ति अद्वैत, सृष्टि के 36 तत्त्व, पंचकृत्य, जीवन्मुक्ति, मंत्र-यंत्र-कुंडलिनी की साधना तथा विवादास्पद पंचमकारों के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार का विश्लेषण किया गया है। साथ ही, तन्त्र के प्रति व्याप्त सामाजिक भ्रांतियों—विशेषतः गोपनीयता और वाममार्गी आचरण—का समालोचनात्मक परीक्षण कर यह दिखाया गया है कि प्रामाणिक आगम-तन्त्र एक अनुशासित, वैज्ञानिक और अंतर्दर्शी साधना-पथ है, जिसका लक्ष्य लौकिक सिद्धि नहीं, बल्कि अंतःशुद्धि और मोक्ष, विशेषतः 'जीवन्मुक्ति' है। मंदिर-वास्तु, मूर्तिकला, योग, आयुर्वेद और समकालीन ट्रांसपर्सनल मनोविज्ञान में आगमिक सिद्धांतों की गहरी उपस्थिति के आधार पर यह शोध आगम तन्त्र की सांस्कृतिक तथा आधुनिक प्रासंगिकता को रेखांकित करता है और निष्कर्ष रूप में इसे जीवन को पूर्णता, सजगता और दिव्यता के साथ जीने वाली भारतीय ज्ञान-परम्परा का एक प्रभावशाली, जीवंत एवं पुनर्पाठ योग्य आयाम सिद्ध करता है।

Keywords

आगम; तन्त्र; निगम-आगम समन्वय; शैव आगम; शाक्त तन्त्र; वैष्णव आगम (पांचरात्र); शिव-शक्ति अद्वैत; 36 तत्त्व; पंचकृत्य; जीवन्मुक्ति; पंचमकार; मंत्र-विज्ञान; यंत्र-पूजन; कुंडलिनी योग; षट्कर्म; कश्मीर शैव दर्शन; श्रीविद्या; मंदिर वास्तुकला; भारतीय दर्शन; समकालीन आध्यात्मिकता।

प्रस्तावना एवं आगम तन्त्र का स्वरूप

भारतीय आध्यात्मिक एवं दार्शनिक परम्परा में आगमतन्त्र का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण और विशाल है। यह न केवल एक साहित्यिक व्यवस्था है, बल्कि जीवन के हर पहलू को प्रभावित करने वाली एक सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र एवं साधना पद्धति है। 'आगम' का शाब्दिक अर्थ है 'आने वाला' ज्ञान, जो सीधे परमात्मा से उद्दीप्त होता है। इस ज्ञान को केवल तादात्म्य या शाब्दिक रूप में नहीं माना जाता, बल्कि इसे व्यावहारिक

साधनाओं के जरिए आत्मानुभूति के रूप में प्राप्त करना भी उद्देश्य है। तन्त्र शब्द का अर्थ है 'विस्तार करना', अर्थात् यह विज्ञान जीवन के अनेक आयामों, शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक, का विस्तार कर उन्हें परम चैतन्य से जोड़ता है। वैदिक परम्परा जहाँ सामाजिक अनुष्ठान और यज्ञ-कर्मों पर आधारित है, वही आगमतन्त्र व्यक्तिगत, गुप्त, और अनुभवप्रधान साधना पद्धति है, जिसे 'भोग से योग' का मार्ग भी कहा जाता है। आगम तन्त्र की स्थापनाएँ हिंदू धर्म के तीर्थस्थल, मंदिर, और धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्रियाकलापों में गहराई से अंतर्निहित हैं। यह तन्त्रसमग्रता में वैदिक प्रथाओं का पूरक है, न कि उनका प्रतिद्वंदी। वैदिक चिंतन जहाँ कर्मकांड और यज्ञ के माध्यम से सामाजिक और ब्रह्माण्डीय संकल्पनाओं को व्यावसायिक स्तर पर प्रस्तुत करता है, वहीं आगम तन्त्रशरीर, मन और आत्मा के गूढ़ आध्यात्मिक अनुभवों को साधना के रूप में प्रस्तुत करता है।आगम तन्त्रकी मूलीकृत परिपाटी में तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं — शैव, शाक्त, और वैष्णव आगम। प्रत्येक सम्प्रदाय का दर्शन, उपासनापद्धति, तथा साधनात्मक क्रियाएँ स्वच्छ और विशिष्ट हैं। शैव आगम में शिव को सर्वोच्च देवता माना जाता है, जिसमें कश्मीर शैव दर्शन प्रमुख है, जो अद्वैत सिद्धांत पर आधारित है। शाक्त आगम में देवी (शक्ति) को परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया जाता है, तथा यह सम्प्रदाय श्रीविद्या और कुंडलिनी जागरण का महत्व देता है। वैष्णव आगम विष्णु को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए पंचरात्र और *लक्ष्मी तन्त्र* के ग्रंथों के माध्यम से आयतित होता है। आगम ग्रन्थ स्वयं भी विभिन्न विमर्शों में प्रमाणीकृत हैं, जिनमें मन्त्र विज्ञान, यंत्र पूजा, साधना के मौलिक तत्त्व एवं गूढ़ क्रियाएं सम्मिलित हैं। ये ग्रन्थ आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ तांत्रिक क्रियाकलापों की व्याख्या, वैदिक संस्कारों के प्रति एक व्यावहारिक दृष्टिकोण, और सामाजिक-सांस्कृतिक अनुष्ठानों का मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। आगम तन्त्र का अध्ययन केवल आध्यात्मिकता तक सीमित नहीं है, बल्कि यह भारतीय कला, वास्तुकला, मूर्तिकला, योगशास्त्र, आयुर्वेद और आधुनिक मनोविज्ञान के कई आयामों के लिए भी आधार प्रदान करता है। जैसे खजुराहो और कोणार्क के मंदिरों की मूर्तिशिल्प को तांत्रिक प्रतीकवाद से जोड़कर देखा जाता है, वैसे ही हठ योग और आयुर्वेद की कई क्रियाएं तांत्रिक साधना का सशक्त प्रतिबिंब हैं। आगम तन्त्र में सैद्धांतिक चिंतन के साथ-साथ अनुभव प्रधान साधना पर भी पक्ष दिया जाता है। इसमें पंचमकारों का विश्लेषण और उनके दार्शनिक आधार की अवधारणा इस प्रणाली को विशिष्ट बनाती है। पंचमकार—मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन—को तन्त्र एक सीमित और नियंत्रित साधना पथ के भीतर व्यापक आध्यात्मिक प्रयोग के रूप में प्रस्तुत करता है, जो साधक के वासनाओं एवं आसक्तियों का सामना करने का मार्ग है। मन्त्र विज्ञान, यन्त्र पूजन और कुंडलिनी योग आदि आगम तन्त्र के प्रमुख साधन हैं। मंत्रों को देवताओं का शरीर माना जाता है, प्रत्येक देवता का एक बीज मन्त्र होता है, और यन्त्र देव तत्त्व की ज्यामिति अभिव्यक्ति। कुंडलिनी योग मानव ऊर्जा और चेतना की जागृति का केन्द्र है, जो मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

आगम तन्त्र :ऐतिहासिक विकास एवं वर्गीकरण

ऐतिहासिक विकास—आगम तन्त्र की उत्पत्ति को लेकर सम्यक् साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इसके विचार और तत्त्व प्राचीन वैदिक काल से ही विद्यमान माने जाते हैं। ऋग्वेद के 'अम्भृणी सूक्त' या 'देवी सूक्त'

में शक्ति के विस्तार और उसकी महत्ता का उल्लेख पाया जाता है, जो आगम तन्त्र के मूल सिद्धान्तों की नींव रखता है। पौराणिक साहित्य जैसे मार्कण्डेय पुराण का 'देवी महात्म्य' या 'चण्डीपाठ' शाक्त तन्त्र के आरम्भिक आभास हैं। प्राचीन भारतीय मंदिरों और मूर्तिशिल्पों में भी आगम तन्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। खजुराहो के मंदिर, जिन्हें विश्व धरोहर का दर्जा प्राप्त है, विक्रमशिला एवं कोणार्क के सूर्य मंदिर में तान्त्रिक मूर्तिकला तथा प्रतीकवाद की झलक मिलती है। कश्मीर के महान योगी और दार्शनिक अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ *'तन्त्रालोक'* में आगम तन्त्र के दर्शन और साधनाओं की गूढ़ विवेचना की है, जिससे पता चलता है कि मध्यकालीन भारत में तन्त्रपर गहन शोध और परिचालन हुआ था। दक्षिण भारत की सिद्ध परम्परा और तमिल संप्रदायों ने भी अपने मंदिरों, पूजा पद्धति एवं अनुष्ठानों में आगम सिद्धांतों को अद्वितीय रूप से अंगीकार किया। इस प्रकार, आगम तन्त्र ने भारतीय सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन में एक अप्रतिम स्थिरता और गहराई स्थापित की।

वर्गीकरण—आगम तन्त्र का साहित्य तीन मुख्य सम्प्रदायों में वर्गीकृत किया जाता है, जो अपने-अपने देवताओं एवं साधना पद्धति के आधार पर अलग-अलग हैं:

शैव आगम (Shaiva Agama)—शैवागम सिद्धान्त के तीन पदार्थ हैं—पति, पशु तथा पाश (पतिपशुपाशभेदात् त्रय: पदार्था इति) शिव को सर्वोच्च सत्ता मानने वाली यह शाखा दो मुख्य धाराओं में विभाजित है—काश्मीर शैव दर्शन और सिद्धांत शैव दर्शन। काश्मीर शैव दर्शन अद्वैत (एकत्व) की व्याख्या करता है, जिसमें सभी प्राणी और वस्तुएं परम शिव के स्वरूप मानी गई हैं। प्रमुख ग्रंथों में *विज्ञानभैरवतन्त्र*, *स्वच्छन्दतन्त्र*, और अभिनवगुप्त की *'तन्त्रालोक'* शामिल हैं। ये ग्रन्थ ध्यान तकनीकों (धारणाओं) और साधनाओं का विस्तृत वर्णन करते हैं।

शाक्त तन्त्र(Shakta Tantra)—इस सम्प्रदाय में देवी (शक्ति) को परम ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसमें श्रीविद्या एवं *कुलार्णवतन्त्र* विशेष महत्व के ग्रन्थ हैं। शाक्त तन्त्र में यंत्र-पूजन, कुंडलिनी जागरण और समस्त तांत्रिक साधनाएँ देवी की महाशक्ति के अनुष्ठानात्मक साधन हैं। *देवी भागवत पुराण* एवं *ब्रह्माण्ड पुराण* में शाक्त दर्शन का विस्तृत वर्णन मिलता है जो वैदिक परम्परा से पूरक है।

वैष्णव आगम (Vaishnava Agama): विष्णु को सर्वोच्च देवता मानने वाली विष्णु सम्प्रदाय की आगम शाखा पंचरात्र और *लक्ष्मीतन्त्र* से परिभाषित होती है। ये ग्रन्थ मंदिर निर्माण, देव मूर्तियों की स्थापना, और आराधना विधियों का विस्तृत निर्देश देते हैं। वैष्णव आगम में भक्ति, पूजा और सामाजिक अनुष्ठान प्रमुख आगम तन्त्र का यह वर्गीकरण न केवल विभिन्न पूजा पद्धतियों को स्पष्ट करता है, बल्कि दर्शन और साधना के विभिन्न स्तरों पर भी इनके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक योगदान को उजागर करता है। प्रत्येक आगम शाखा की गहनता और जटिलता इसके समृद्ध साहित्य, मंत्र, यंत्र, तथा साधनात्मक विधियों में विद्यमान है, जो भारतीय आध्यात्मिकता की विविधता और गूढ़ता को प्रतिपादित करते हैं।

आगम तन्त्र :दार्शनिक सिद्धांत एवं जीवन्मुक्ति

शिव और शक्ति का अद्वैत तत्त्व—आगमतन्त्र का केंद्रीय दार्शनिक आधार शिव और शक्ति के अद्वैत (अविभाज्य एकत्व) सिद्धांत पर टिका है। कुलार्णवतन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि शिव और शक्ति परस्पर

अविभाज्य हैं—शक्ति शिवमयी है और शिव शक्तिमय। शिव स्थिर, शून्यमय, पुरुष तत्त्व हैं, जो चेतना का आधार हैं, जबकि शक्ति गतिशील, स्त्री तत्त्व है जो सृजनशीलता एवं क्रियाशीलता का स्रोत है। ये दोनों मिलकर सृष्टि का निरन्तर संचलन करते हैं। उनकी यह एकता अस्तित्व की विविधता और अभिन्नता का दार्शनिक आधार प्रदान करती है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार, सृष्टि 36 तत्त्वों की प्रणाली द्वारा होती है, जिनमें से एक तत्त्व शिव है और बचे हुए 35 शक्तियां एवं उनकी क्रियाएं हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में इन तत्त्वों की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। यह दर्शन समस्त ब्रह्माण्ड को एक निरंतर चेतन अभिव्यक्ति मानता है, जो शिव और शक्ति के मेल से व्याप्त है।

सृष्टि-सिद्धान्त : पंचकृत्य—आगम तन्त्र के अनुसार, सृष्टि की प्रक्रिया पंचकृत्यों (पाँच कार्यों) के माध्यम से संचालित होती है:

सृष्टि (सृजन)—नव सृष्टि का उद्भव।
स्थिति (पालन)—सृष्टि का संरक्षण एवं संचालन।
संहार (नाश)—सृष्टि का पुनः एकता में विलय।
तिरोभाव (विलय)—सृष्टि के अस्तित्व में निग्रह।
अनुग्रह (कृपा)—परमात्मा की कृपा जो जीवात्मा को मोक्ष की ओर ले जाती है।

यह पंचकृत्य केवल भौतिक कर्म नहीं, बल्कि निरन्तर आध्यात्मिक प्रक्रिया भी हैं, जो सृष्टि, प्रलय और पुनर्निर्माण को अभिव्यक्त करते हैं। यह सिद्धान्त जीव और परम के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

जीवन्मुक्ति की अवधारणा—आगम तन्त्र में जीवन्मुक्ति का महत्व अत्यन्त उन्नत एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत हुआ है। वैदिक परम्परा में मोक्ष को सामान्यतः मृत्यु के बाद की प्राप्ति माना जाता है, लेकिन आगम तन्त्र उस अवस्था को इनकार करता है जहाँ साधक इस जीवन में ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से जीवन्मुक्ति का अर्थ है 'जीवन मे पूर्ण मुक्ति या मोक्ष'। *मालिनीविजयोत्तर* तन्त्र के अनुसार, साधक का लक्ष्य भौतिक शरीर को दिव्य देह में परिवर्तित करना है, जिसे ही जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है। यह वह अवस्था है जब साधक सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर परमात्मा के अनन्त चेतना स्वरूप के साथ अभिन्न एकत्व अनुभव करता है।

पंचमकारों का दार्शनिक आधार—पंचमकार—मद्य (मद्यपान), माँस (मांसाहार), मत्स्य (मछली), मुद्रा (हस्त मुद्रा या अनुष्ठानिक भोजन), मैथुन (मैथुन क्रिया)—को तन्त्रसाधन में माना गया है। किन्तु इनके दार्शनिक आधार को गहनता से समझना आवश्यक है। *कुलार्णवतन्त्र* में स्पष्ट कहा गया है कि साधक को वासना और आसक्ति से लड़ते हुए इन वस्तुओं का सही तरीके से उपयोग करना चाहिए, जो साधक को योग सिद्धि के मार्ग पर ले जाता है। ये पंच तत्त्व राजसिक और तामसिक वृत्तियों के प्रतीक हैं, जो साधक को अपने स्वभाव को पहचानने एवं आत्मा की अनुभूति की ओर ले जाते हैं। यह मार्ग अत्यन्त कठिन होता है और बिना गुरु की उपस्थिति के सम्भव नहीं।

शिव-शक्ति के अनुभवात्मक स्वरूप—आगम तन्त्र न केवल दर्शन प्रस्तुत करता है, बल्कि शिव-शक्ति के अनुभवात्मक स्वरूप पर भी बल देता है। साधना में साधक आत्मा, प्रकृति, चेतना और ऊर्जा के विभिन्न पहलुओं को अनुभव करता है। मन्त्र, यन्त्र, और ध्यान की साधनाओं से जागृत कुंडलिनी शक्ति सृष्टि और चेतना के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करती है। शिव और शक्ति की यह जीवंत एकता साधक को उसके स्वभाव, ब्रह्माण्ड और परम सत्ता के बीच सम्बन्ध की अनुभूति कराती है। *तंत्रालोक* सहित अनेक आगम ग्रन्थों में इस अनुभवात्मक तत्त्व को शाश्वत महत्व दिया गया है।

आगम तन्त्र :साधना पद्धतियाँ एवं पंचमकार

मंत्र-विज्ञान—आगम तन्त्र में मन्त्र का अत्यंत महत्त्व है। मन्त्र को देवताओं का 'शरीर' माना गया है, जिसके माध्यम से उनकी दिव्य ऊर्जा प्राप्त होती है। *शारदा तिलक तन्त्र* के अनुसार, मन्त्र वह है "जिसके मनन से त्राण (मुक्ति) मिले"। प्रत्येक देवता का एक बीज मन्त्र होता है जो उसकी सम्पूर्ण शक्ति का सार रूप है। तन्त्र में पंचदशी मन्त्र की महिमा का विस्तार से वर्णन है। मन्त्र जप, उच्चारण और ध्यान के द्वारा साधक अपने मन, चेतना और आत्मा को नियंत्रित कर आध्यात्मिक उन्नति करता है।मंत्र-विज्ञान में ध्वनि की ऊर्जा, उसके उच्चारण की पद्धति, और मन्त्र के प्रभाव की समझ आवश्यक है। तन्त्रग्रंथों में मंत्रों को केवल शब्द नहीं, बल्कि शक्तिशाली ऊर्जा के रूप में देखे जाने का निर्देश है, जो साधक को परम सत्ता से जोड़ने वाला सेतु है।

यंत्र-पूजन—यंत्र देवता की गतिशील ऊर्जा का ज्यामितीय प्रतिरूप होते हैं। यंत्र पूजन से साधक देवता की उपस्थिति और शक्ति का अनुभव करता है। *काम कलाविलास* तन्त्र किंवदंती के अनुसार, जहाँ एक यंत्र स्थापित होता है, वहाँ देवता का निवास होता है। श्रीयंत्र तन्त्र में यह सर्वोत्कृष्ट यंत्र माना जाता है, जिसका *भावनोपनिषद्* और *योगिनी हृदय* जैसे ग्रंथों में विस्तृत विवरण मिलता है। यंत्र की आकृतियाँ, उनकी रचना, समुचित पूजा और विसर्जन का विधान आगम ग्रंथों में उल्लिखित है। यह पूजा साधक के चित्त को स्थिर करती है और शक्ति जागरण की प्रक्रिया को सरल बनाती है।

कुंडलिनी योग—कुंडलिनी योग आगम तन्त्रकी हृदयस्थ पद्धति है। कुंडलिनी ऊर्जा का जागरण एवं षट्चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा) का सक्रियण साधक को उच्च चेतना की ओर ले जाता है। *हठयोग प्रदीपिका* में कहा गया है कि जागृत कुंडलिनी शक्ति मृत्यु को भी नष्ट कर सकती है।यह योग केवल शारीरिक अभ्यास या साधारण ध्यान नहीं है, बल्कि इस ऊर्जा के सहारे साधक के पूरे अस्तित्व का सशक्त और दिव्य परिवर्तन सम्भव होता है। कुंडलिनी जागरण के लिए गुरु-मार्गदर्शन अत्यावश्यक है क्योंकि इस ऊर्जा के अनुचित जागरण से हानिकारक प्रभाव भी हो सकते हैं।

षट्कर्म—षट्कर्म तन्त्र में छह प्रकार की क्रियाएँ बताई गई हैं, जो शरीर और मन को शुद्ध करते हैं। *शारदा तिलक* तन्त्रएवं *मन्त्रमहोदधि* में इन क्रियाओं के मन्त्र एवं विधियाँ विस्तार से वर्णित हैं। षट्कर्म में शामिल हैं—धौति, नौली, वमन, बस्ति, निद्रा, और संगीत। इन क्रियाओं का उद्देश्य साधक के अन्दर की अशुद्धि, विकार और रोगों को दूर कर मोक्ष की प्राप्ति के लिए शरीर को उत्कृष्ट बनाना है। षट्कर्म साधना का

प्रारंभिक चरण होती हैं, जिनके बिना तंत्रिक साधना की गहन प्रगति सम्भव नहीं। साधक को केवल इनके बाहरी प्रदर्शन का अभिमान नहीं करना चाहिए, बल्कि आंतरिक शुद्धि एवं चेतना के विकास को लक्ष्य बनाना आवश्यक माना गया है।

पंचमकार और तांत्रिक साधना—पंचमकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन—आगम तन्त्र के ऐसे विषय हैं जिन्होंने विवादों और भ्रांतियों को जन्म दिया। किंतु तन्त्र ग्रन्थ बताते हैं कि इनका उद्देश्य साधक को सामाजिक और मानसिक वासनाओं से लड़ाना है, न कि उनका अंधाधुंध अनुसरण। कूलार्णव तन्त्र में कहा गया है कि साधक को इन वस्तुओं का सेवन करते हुए स्वभाव और आंतरिक वैराग्य नहीं छोड़ना चाहिए। पंचमकार का दार्शनिक रहस्य वासनाओं का प्रत्यक्ष सामना कर उससे ऊपर उठना है, जो गुरु-शिक्षा एवं अनुशासन के बिना सम्भव नहीं। यह मार्ग अत्यंत कठिन है, किन्तु इससे साधक को अपने अंतर्निहित स्वभाव, आसक्तियों और मोह-माया का वास्तविक अनुभव होता है।

सांस्कृतिक एवं समकालीन प्रासंगिकता

आगम तन्त्र का प्रभाव मात्र वैदिक कर्मकांड तक सीमित नहीं है, बल्कि यह प्राचीन से समकालीन भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों में ईंधन की तरह कार्य करता है।

मंदिर वास्तुकला—भारत के प्राचीन और प्रतिष्ठित मंदिर आगम ग्रंथों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार निर्मित हैं। *मानसार* एवं *मयमतम्* जैसे वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ आगम सिद्धांतों पर आधारित हैं। यह वास्तुकला न केवल शिल्प कला का विमर्श है, बल्कि अध्यात्म एवं ब्रह्मांड विज्ञान का व्यावहारिक अनुकरण भी है।

कला एवं मूर्तिकला—खजुराहो, कोणार्क और कश्मीर की मूर्तिकला तांत्रिक प्रतीकों से पूर्ण है। ये मूर्तियाँ केवल सजावट नहीं, बल्कि आध्यात्मिक वेदना, शक्ति और चैतन्य के प्रतीक हैं।

योग एवं आयुर्वेद—हठयोग की अधिकांश क्रियाएं, जैसे प्राणायाम, मुद्रा, धारणाएं, आगम तन्त्रसे प्रभावित हैं। *घेरंड संहिता* एवं *शिव संहिता* जैसे ग्रन्थ तन्त्रसाधना के अंग हैं। आयुर्वेद भी तन्त्र के साथ सहचर है जिससे शरीर और मन की शुद्धि एवं स्वस्थता के उपाय मिलते हैं।

समकालीन मनोविज्ञान—तन्त्र के कुंडलिनी जागरण और चक्र सिद्धांत आधुनिक ट्रांसपर्सनल साइकोलॉजी में गहन शोध के विषय हैं। स्थानीय और वैश्विक स्तर पर तन्त्रतकनीकों का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक उपचार में उपयोग हो रहा है।

जीवन्मुक्ति बेहतर जीवन की खोज—वर्तमान युग की भौतिकता और आध्यात्म के द्वैध में आगम तन्त्र का 'जीवन्मुक्ति' का सिद्धांत और 'इसी शरीर में दिव्यता' की अनुभूति अत्यंत प्रासंगिक व वैज्ञानिक मार्ग प्रदान करता है।

निष्कर्ष

आगम तन्त्र का अध्ययन यह दर्शाता है कि यह भारतीय दर्शन का एक अत्यंत प्रभावशाली और व्यापक आयाम है, जो वैदिक परम्परा का पूरक होते हुए जीवन के गूढ़ रहस्यों को वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से

व्याख्यायित करता है। शिव-शक्ति के अद्वैत सिद्धांत पर आधारित ये दर्शन और साधनाएँ न केवल साधक को जीवन्मुक्ति की ओर ले जाती हैं, बल्कि उसे जीवन के हर क्षेत्र में पूर्ण चेतना और दिव्यता से जोडने का माध्यम भी हैं। इस तन्त्रकी गूढ़ साधनाएँ, जैसे मन्त्र विज्ञान, यंत्र पूजा, कुंडलिनी योग, और षट्कर्म, संशोधित और अनुशासित गुरु-शिष्य परम्परा के बिना समझना और अपनाना कठिन है, जिसके कारण सामाजिक भ्रांतियाँ उत्पन्न हुईं। तथापि, वैज्ञानिक अध्ययन, आधुनिक शोध और जागरूक प्रसार के माध्यम से इन भ्रांतियों का निवारण सम्भव है। आगम तन्त्र न केवल प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक प्रणाली है, बल्कि उसकी विधियाँ तथा सिद्धान्त आधुनिक योग, आयुर्वेद, वास्तुकला और मनोविज्ञान जैसे विभिन्न क्षेत्रों में आज भी प्रभावशाली रूप में विद्यमान हैं। यह तन्त्र आज के सामाजिक-आध्यात्मिक परिवेश में जीवन को समग्र और संतुलित रूप से जीने का सशक्त, वैज्ञानिक और अनुभूति प्रधान मार्ग प्रस्तुत करता है। अतः आगम तन्त्र का सम्यक् और अनुकरणीय अध्ययन न केवल भारतीय सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करता है, बल्कि मानवीय चेतना के विकास एवं आत्मा के मुक्त अनुभव के लिए भी अत्यंत आवश्यक है। यह तन्त्रज्ञान और प्रायोगिक साधना का अद्वितीय समागम है, जो मानव जीवन के हर क्षितिज को दिव्यता से प्रकाशित करता है।

ग्रन्थ सूची

1. चौधरी, डॉ. राघव प्रसाद. (1987). *पाञ्चरात्रागम.* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।
2. द्विवेदी, डॉ. श्यामाकान्त `आनन्द`. (2005). *श्रीविद्या-साधना.* चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
3. मिश्र, डॉ. परमहंस. (2000). *तन्त्रालोक* - अभिनवगुप्त. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
4. मालवीय, डॉ. सुधाकर. (2001). *कुलार्णव तन्त्र.* कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
5. मिश्र, डॉ. परमहंस. (2001). श्री *मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्.* सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
6. शर्मा, प्रो. उमाशंकर `ऋषि`. (2023). *सर्वदर्शनसंग्रह.* चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
7. द्विवेदी, पं0 ब्रजवल्लभ. (1984). *आगम और तन्त्रशास्त्र.* परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली।

शोधच्छात्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

निगम आगम में शिव तत्त्व

शुभम कुमार पाण्डेय

सारांश

भारतीय ज्ञान परम्परा के दो मुख्य स्रोत **निगम** (वैदिक) और **आगम** (तांत्रिक) हैं। निगम, जिसे वेद कहा जाता है, वैदिक है, जबकि आगम तांत्रिक है, जिसे पंचम वेद भी कहा गया है। निगम धर्म के स्वरूप को बतलाता है, और इसका अधिकार सिर्फ द्विजों को है। आगम, जिसका अर्थ है व्यापक ज्ञान, कलयुग में महत्वपूर्ण है, सभी वर्णों के लिए अधिकार रखता है, और मोक्ष के साथ मारण, मोहन आदि विषयों का भी वर्णन करता है। दोनों के समन्वय की भूमिका महाभारत और पुराणों में दिखती है।

शिव तत्त्व इन दोनों धाराओं के केंद्र में है। निगमों में शिव को **विनाशकारक (रुद्र)** और **कल्याणकारक (शिव)** दो रूपों में पूजित किया जाता है। रुद्र का वर्णन *ऋग्वेद* में प्राप्त होता है। आगमों में शिव को परम तत्त्व, अनिर्वचनीय प्रकाश, तथा **सत्-चित्-आनंद** स्वरूप माना गया है। शैव दर्शन में शिव की पाँच शक्तियाँ—चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान, और क्रिया—संपूर्ण सृष्टि की अभिव्यक्ति का मूल आधार हैं। अंततः, निगम का ज्ञान मार्ग और आगम की क्रियात्मक साधना दोनों ही साधक को परम शिव तत्त्व की प्राप्ति की ओर ले जाते हैं, जो भारतीय धर्म की अखंडता का परिचायक है।

अतः इस शोध पत्र द्वारा भारतीय आध्यात्मिक और दार्शनिक परम्परा के दो प्रमुख स्तंभों, निगम और आगम, की गहरी समझ प्रदान होगी। निगम (वेद) और आगम (तन्त्र) की सटीक परिभाषा, व्युत्पत्ति, और तात्विक अंतरों को स्पष्ट करेगी, जिससे पाठक इन दोनों के बीच के भ्रम को दूर कर पायेंगे।

मुख्य वाक्यांश

निगम, आगम, शिव तत्त्व, तन्त्र शास्त्र, सत्, चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान, क्रिया।

परिचय और परिभाषा

भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार के विषयों को जानने के लिए अनेक ग्रंथों का वर्णन किया गया है। उन सभी शास्त्रों में निगम शास्त्र अग्रगण्य माने जाते हैं। निगम वेद को कहा जाता है। इस शब्द का प्रयोग छह अंगों में से एक निरुक्त शास्त्र में हुआ है। निरुक्त में **"निगमा इमे भवन्ति"**[1] कहकर वेद को परिभाषित किया गया है।

इसी वेद के दो पक्ष हैं, जिन्हें निगम और आगम के रूप में जाना जाता है। निगम वैदिक है तथा आगम तांत्रिक के रूप में विख्यात है।

आगम शास्त्र के महत्व को बतलाते हुए आद्यशंकराचार्य *प्रपञ्चसारतन्त्र* में कहते हैं:

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः।।[2]

अर्थात्, हर युग के अपने-अपने धार्मिक महत्व के ग्रंथों का वर्णन हुआ है; उनमें से कलयुग में आगम शास्त्र का महत्व कहा गया है। आगम शास्त्र की उपादेयता को जानकर ही *शारदातिलक* तथा महर्षि हारीत ने इसे पंचम वेद की संज्ञा दी है: **यथा- "आगमो पञ्चमो वेदः कौलस्तु पञ्चमाश्रयः"** एक अन्य ग्रन्थ *त्रिपुरारहस्य* में तो वेद को ही आगम का अंश कहा गया है: **"वेदो ह्यागमभागः"**।

निगम आगम के सम्बन्ध में संत तुलसीदास ने अपने बहुचर्चित ग्रन्थ रामचरितमानस में कहा है: **"नाना पुराण निगमागम सम्मत"** यहाँ निगम शब्द से वैदिक वाङ्मय तथा आगम शब्द से तंत्रागमशास्त्र का बोध कराया गया है।

निगम शब्द की व्युत्पत्ति **'नि'** उपसर्गपूर्वक भ्वादिगण के **'गम्'** धातु और **घञ्** प्रत्यय से बनता है। गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी होते हैं। निगम शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य यास्क ने निरुक्त में कहा है: **"निगमा इमे भवन्ति"** अर्थात जो शास्त्र निश्चितरूप से ज्ञानबोध कराये वह निगम है या जिसे वेद के रूप में जाना जाता है।

आगम शब्द व्युत्पत्ति पर विचार करें तो आगम शब्द **'आ'** उपसर्गपूर्वक गति अर्थवाले **'गम्'** धातु से बनता है। **'आ'** उपसर्ग का अर्थ चारों तरफ यानी सर्वत्र व्यापक रूप से होता है। तात्पर्य यह हुआ कि समग्र ब्रह्माण्ड में व्यापकता प्रदान करने वाला या व्यापक गति प्रदान करने वाला ज्ञान ही आगम है। वाचस्पति मिश्र ने *योगसूत्र* के *तत्त्ववैशारदी* टीका में आगम शब्द पर कहा है: **"आगच्छन्ति बुद्धिम् आरोहन्ति यस्माद् अभ्युदय-निःश्रेयसोपायाः सः आगमः"**[3] अर्थात्, जिस शास्त्र पर बैठ कर बुद्धि अभ्युदय और निःश्रेयस के मार्ग को बतलाती है, वह आगम शास्त्र है।

जैसा कि शास्त्रों में आया है: निहित रूप से तत्त्व की ओर ले जाने वाला निगम तथा आप्त वचन से आविर्भूत तत्त्वार्थ विशेष का संवेदी आगम होता है। **"आङ् भावस्तु समन्ताच्च गम्यतेत्यागमो मतः"** अर्थात्, सर्वतोमुखी अध्यात्मज्ञान जो सर्वतः प्रसृत हो चतुर्दिक व्याप्त हो रहा है, वही आगम है।

शैवमत के अनुसार

आ = पाश, ग = पशु और म = पति है।
अथवा आ = शिवज्ञान, ग = मोक्ष और म = पति है।

आगम शास्त्र को एक अन्य संज्ञा प्राप्त है जो तन्त्र शास्त्र कहलाता है, यह तन्त्र यानी शास्त्र कहलाता है क्योंकि इसके द्वारा ही सब कुछ शासित होता है, सुरक्षित होता है, स्थिर होता है। प्राणिमात्र की रक्षा या त्राण करने के कारण भी यह तन्त्र कहलाता है। जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार हो, वह शास्त्र तन्त्र कहलाता है: "तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्" तत्त्व, मन्त्र, देवता, साधनाविधि, फल आदि सभी का वर्णन जिसमें हो तथा जो साधक की रक्षा भी करे, वह शास्त्र या विद्या अथवा ज्ञान तन्त्र कहलाता है।

यह शब्द विस्तार अर्थवाले 'तन्' धातु से औणादिक 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर बनता है (सर्वधातुम्यः ष्ट्रन्)। जैसाकि उल्लेख है:

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।।[4]

निगम आगम में भेद एवं सामंजस्य

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति प्रारंभ से ही निगम आगम से जुड़ी हुई मानी जाती है। ग्रंथों में इसकी प्रमाणिकता देखते हैं तो देवी भागवत में कहा गया है: "**निगम्यते ज्ञायते अनेन इति निगमः**"।[5] अभिनव गुप्त के शब्दों में निगम आगम को समझें तो, वे ईश्वरप्रत्यभिज्ञानविवृतिविमर्शनी में कहते हैं: "**वेद धर्माद्युपायं निश्चितं गमयतीति निगमो वेदः**"।[6] अर्थात्, जो ग्रन्थ धर्म के स्वरूप को बतलाने में सहायक सिद्ध होता है, वह निश्चित ही निगम शास्त्र अर्थात् वेद है।

आगम को कहते हैं:

इह तावत् समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः।
प्रसिद्धिमनुसंधाय सदैव चागम उच्यते।।[7]

अर्थात्, हमारे जगत् के सभी प्राचीन व्यवहार तथा प्रसिद्धि (ख्याति) ही आगम नाम से व्यवहृत है। यहाँ प्रयोग प्रसिद्धि अर्थात् ख्याति का अर्थ बताते हैं कि प्रामाणिक व्यक्ति से उक्त वाक्य या कथन को ही प्रसिद्धि के नाम से जानना चाहिए यथा- "**प्रसिद्धिश्चाविगानोत्था प्रतीतिः शब्दनात्मिका**"।[8] इस प्रकार से निगम आगम शब्दों की विधि कही गई है।

प्राचीन काल से आध्यात्मिक मार्ग की साधना के लिए दो प्रकार के मार्गों का आलम्बन लिया जाता रहा है।

यजुर्वेद के बृहदारण्यक उपनिषद तथा सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद में पंचाग्नि विद्या के प्रसंगों से यह बात स्पष्ट होती है कि वैदिक तथा आगमिक पूजा पद्धतियों का प्रयोग एक ही काल में प्रचलित रहा है। वर्तमान समय में भी वैदिक एवं आगमिक कर्मकांड का प्रयोग भारत के चारों दिशाओं में दृष्टिगोचर होता है।

निगम आगम शास्त्र के प्रारंभ के विषय में जब हम ज्ञात करते हैं तो शारदातिलक में कहा गया श्लोक इस विद्या के सर्वप्रथम वक्ता एवं श्रोता को स्पष्ट बतलाता है:

"**आगमो शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ, तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम्।**" अर्थात्, पहला बोलने वाला भगवान शंकर एवं सुनने वाली माता पार्वती हैं।

एक अन्य श्लोक में निगम आगम के लिए कहा गया है कि जो देवी के मुख से उत्कृत है, वह निगम है तथा जो शिव के द्वारा वर्णित है, वह आगम है। तथा इन दोनों के मतों पर भगवान विष्णु का समर्थन है, वहीं निगम आगम है।

निर्गतं गिरिजावक्त्राद् गतं च गिरिशश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मान्निगममुच्यते ॥
आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥

इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि संपूर्ण तान्त्रिक वाङ्मय आगम पद से और वैदिक वाङ्मय निगम पद से संबोधित हुआ है। प्रायः आजकल ये दोनों शब्द इन्हीं अर्थों में प्रसिद्ध हो गए हैं।

आगम और निगम के मध्य जब समन्वय स्थापित करने की बात होती है, तो इसमें सबसे प्रमुख भूमिका रामायण, महाभारत और पुराणों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ दृष्टिगोचर होते हैं। भगवद्गीता को हम इसके उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में उपस्थित कर सकते हैं। महाभारतकार ने वेद के साथ साङ्ख्य, योग, पाशुपत और पाञ्चरात्र शास्त्र को समान प्रमाणकोटि में रखा है।

साङ्ख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै।।[9]

कालिदास कहते हैं:

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योधा जाह्नवीया इवार्णवे।।[10]

पुष्पदन्त महिम्न स्तोत्र में कहते हैं—

त्रयी साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने...
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥[11]

वीरमित्रोदयकार लिखते हैं—

ननु साख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपताद्यागमा धर्मे प्रमाणमुत न।[12]

ये सभी प्रमाण शास्त्रों में समन्वय की बात को ही प्रतिष्ठापित करते हैं, क्योंकि परस्पर समन्वय के आधार पर ही इन सब शास्त्रों का प्रामाण्य सिद्ध किया जा सकता है।

निगम आगम का स्वरूप

निगम और आगम दोनों ही भारतीय ज्ञानपरम्परा के मूल स्रोत हैं। जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन संगठित रूप से वाचन परम्परा में पाई जाती है, उन्हीं सिद्धान्तों को लोकोपयोग और व्यवहारिक अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु आगम की परम्परा विकसित होती है। निगम का स्वरूप बहुत ही वृहद् है, जैसे: चार वेद, छह अंग, दर्शन इत्यादि। इतिहास तथा पुराणों का सम्बन्ध निगम एवं आगम दोनों में ही प्राप्त होता है। इसमें कुछ विषय वेदों में कहे हुए से सम्बन्ध जोड़ते हैं, जैसे: उपासना, गृहस्थ धर्म, व्रतकथा आदि। आगम से संबंधित भी विषयों का वर्णन इसमें प्राप्त होता है, जैसे शिव पुराण में आगम का उल्लेख प्राप्त होता है।

भारतीय दार्शनिक ज्ञान एवं व्यावहारिक क्रियाकलापों के क्षेत्रों में वैदिक (औपनिषद) परम्परा और तांत्रिक परम्परा के बीच एक सुदृढ़ समन्वय दृष्टिगोचर होता है। वैदिक अथवा औपनिषदिक विचारधारा परम

तत्त्व (ब्रह्म या परम आत्मा) को विश्वोत्तीर्णता (Transcendence) के रूप में, सृष्टि के परे मानती है; जबकि तांत्रिक विचारधारा सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में परम शिव अथवा शक्ति के विश्वमयता (Immanence) स्वरूप का साक्षात्कार करने का प्रावधान प्रस्तुत करती है। भारतीय संस्कृति में परिलक्षित होने वाला विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता का यह सटीक समन्वय संभवतः अन्य संस्कृतियों में दुर्लभ है। इस समन्वयात्मक स्थिति का श्रेय मुख्य रूप से वैदिक एवं तांत्रिक परम्पराओं के संविलन को दिया जाता है।

तांत्रिक परम्परा को प्रायः वाममार्ग तथा वैदिक परम्परा को दक्षिणमार्ग के रूप में अभिहित किया जाता है। वाममार्ग का अभीष्ट तथाकथित त्याज्य एवं घृणित वस्तुओं को भी उदात्त रूप में ग्रहण करते हुए आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करने की एक विशिष्ट विधा प्रदान करना है, जो दक्षिणमार्ग द्वारा इंगित सर्वोच्च लक्ष्य तक पहुँचने का एक वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत करती है। शरीर क्रिया विज्ञान के सांकेतिक निरूपण के रूप में, वामहस्त और दक्षिणहस्त दोनों मिलकर एक ही अभीष्ट क्रिया को संपादित करते हैं। भारतीय जीवनधारा में ये दोनों परम्पराएँ कभी भी पृथक नहीं रहीं; अपितु धर्म, साहित्य, कला, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन सहित संस्कृति के प्रत्येक अंग में इनका समावेशी समन्वय परिलक्षित होता है।

इस समन्वय को नदी धाराओं के सांकेतिक उपमान से समझा जा सकता है: जिस प्रकार एक ही हिमालय से निकलने वाली गंगा और यमुना मैदानी कर्मक्षेत्र में आकर एक संग्रथित धारा के रूप में भारतीय भूभाग को आप्यायित करती हैं, उसी प्रकार एक ही परम तत्त्व (ब्रह्म/शिव) से उद्भूत निगम (वैदिक) और आगम (तांत्रिक) की दो धाराएँ सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में आकर अभिन्न हो जाती हैं और भारतीय जनजीवन को व्यापक रूप से आप्लावित करती हैं। इस प्रकार से यह भिन्न होते हुए भी एक ही प्रतीत होते है।

आगम शास्त्र के मुख्य संप्रदाय शैव, शाक्त, वैष्णव, स्कन्द, गणपति इत्यादि हैं। इन सभी संप्रदायों में ज्ञान, योग, चर्चा और क्रिया इन चार प्रकार की विषयों का वर्णन है। शैवागम की उत्पत्ति शिव के पाँच मुखों (सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईशान) से हुई है तथा इसकी संख्या 28 है। ये पति (शिव), पशु (जीव), पाश (कर्म या माया) तीन पदार्थ को मानते हैं। शैवागम के चार प्रकार के नाम हैं: कपाली, कालमुख, पाशुपत, शैव।

निगम–आगम में शिव तत्त्व

भारतीय ज्ञानपरम्परा में दार्शनिक विमर्श की दृष्टि से, उपनिषद् (जिसे वेदान्त भी कहा जाता है) का विशेष महत्त्व है। यद्यपि उपनिषदों में शक्ति की अवधारणा पूर्ण रूप से विकसित अथवा पल्लवित नहीं है, तथापि यह बीज रूप में अथवा स्पष्ट संकेत के रूप में विद्यमान है। तन्त्र ने इस बीजरूप अवधारणा को पूर्णता प्रदान करते हुए इसे विकसित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया।

उपनिषदों में ब्रह्म की सृष्टिक्रिया का **निरूपण** करने वाले **कथन** (यथा, "**एकाकी न रेमे, स ऐक्षत एकोऽहम् बहु स्याम्**" – वह अकेला रमण नहीं कर सका, उसने इच्छा की कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ ; तथा "**आनन्दाद्ध्येव हि खल्विमानि भूतानि जायन्ते**" – आनन्द से ही निश्चित रूप से ये सभी भूत–प्राणी पैदा होते हैं) ब्रह्म में उस तत्त्व की ओर इंगित करते हैं जिसे तन्त्र में शक्ति, क्रिया, विमर्श अथवा स्पन्द के

रूप में परिभाषित किया गया है। इन वाक्यों को मात्र आख्यायिका (कहानी) मानकर अस्वीकार कर देना – जैसा कि आचार्य शंकर ने किया है—उपनिषद् के मूल आशय के साथ अन्याय करना होगा।

इसके अतिरिक्त, केनोपनिषद् में वर्णित यक्षोपाख्यान में उमा हैमवती (सुनहले वर्ण की उमा) का प्रसंग इस बात का संकेत करता है कि ब्रह्म (यक्ष) शिव का प्रतिनिधित्व करता है और उमा शक्ति का। यह सर्वविदित है कि तन्त्र-परम्परा में उमा अथवा पार्वती को शक्ति का ही प्रतीकात्मक पर्याय माना जाता है।

निगम में शिव तत्त्व

भारतीय धार्मिक इतिहास में भगवान शिव का स्थान विशेष रहा है। वेदों में शिव को अंतरिक्ष स्थान के देवता के रूप में कहा गया है। शिव के एकादश अवतार हैं, जो कल्याण, मंगलता को प्रदान करने वाले तथा जल्द ही प्रसन्न होने वाले देवों के रूप में विख्यात हैं। जैसा कि उनके **"शिव-शंकर-आशुतोष"**, इस नाम से ही ज्ञात होता है। एकादश नामों में रुद्र नाम अत्यधिक प्रचलित है, जो उनकी संहारकर, भयानक और उग्र विशेषताओं के कारण ख्यातिलब्ध है। रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं: **"सः अरोदीत् यद्रोदीत् तद्रुद्रस्य रूद्रत्व"**। शिव की व्युत्पत्ति निरुक्त में कही है: **"रुद्रो रौतीति सतः रोरूयमाणो द्रवतीतिवा रोदयतेर्वा"**।

रुद्र एवं शिव में तदात्म्य है: **"स वै रुद्रः स शिवः...।"** इस श्लोक में रुद्र को शिव कहा है। वेदों में यत्र तत्र सर्वत्र स्थानों पर शिव तत्त्व या शिव से संबंधित कुछ न कुछ विषय वस्तु का ज्ञान अवश्य दिखलाई पड़ता है। जैसे- **"नमस्ते रुद्र मन्यवे। उत ते नमः"**, **"नमः शम्भवाय च मयोभवाय च। नमः शङ्कराय च मयस्कराय च। नमः शिवाय च शिवतराय च"**।

वेदों में शिव को दो मुख्य रूपों में वर्णित किया है—

1. **विनाशकारक (रुद्र रूप)**
2. **कल्याणकारक (शिव)।**

रुद्र का सर्वप्रथम वर्णन *ऋग्वेद* में प्राप्त होता है, जहाँ वे भयंकर स्वरूप वाले तथा सृष्टि का नाश करने वाले देवता हैं। ऋग्वेद में रुद्र के पुत्र के रूप में मरुतगणों को बतलाया गया है, जो उनचास प्रकार के होते हैं तथा विनाश के कार्यों में रुद्र के सहायक रहते हैं। *शतपथ ब्राह्मण* एवं *कौषीतकि ब्राह्मण* के अनुसार रुद्र उषा के पुत्र कहे गए हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय में रुद्र को बहुत से स्थानों पर मंगलकारी एवं उग्रकारी रूपों में भेद किया गया है। **विनाशकारी:** रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि। **कल्याणकारी:** पशुपति, महादेव, ईशान। शतरुद्रीय में शम्भु, शंकर तथा शिव भी कहा है।

शिव का स्वरूप[14]

वेद में शिव के विविध स्वरूपों का वर्णन है, जैसे: कपर्दिन (जटाजूट धारण करने वाले), गिरीशत: कैलाश पर्वत पर रहने वाले। सुमनाः—शोभन मन वाले। शिवेने वचसा:—कल्याण युक्त वाणी वाले। नीलग्रीवः—नीलकण्ठ वाले। सहस्राक्ष:—हजारों नेत्र वाले। इत्यादि प्रकार के स्वरूपों से युक्त शिव को वेदों में कहा गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों में शिव के अष्टमूर्ति नामों का वर्णन *शतपथ ब्राह्मण* में, कालिदास कृत *अभिज्ञानशाकुंतल*[15] में तथा *भविष्यपुराण* में आया है, जिनमें शिव के प्रत्येक नाम को प्रकृति के एक तत्त्व (जैसे: शर्व-जल, उग्र-वायु, महादेव-चन्द्रमा) के साथ जोड़ा गया है। इन्हीं नामों का वर्णन आगम शास्त्रों में भी किया गया है। पुष्पदन्त ने भी महिम्नस्तोत्र में इनका वर्णन किया है: **"भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः---।"**[16]

ब्रह्मपुराण में शिव को सभी सिद्धियों को देने वाले के रूप में कहा है:

शंकरः सर्वभूत आत्मा करुणावरुणालयः
सर्वसिद्धिः स्यात् शिवदेवं सुखात्मा..।[17]

आगम में शिव

शिव के विषय में कहा गया है कि शिव को बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि शिव का रूप अनिर्वचनीय है। तन्त्रालोक में कहा गया है:

"नसन्न चासत्सदसन च तन्नोभयोज्झितम्---।"[18] अर्थात्, शिव की अवस्था सत्-असत् रूप से परे है।

शिव का आत्मस्वरूप—**"तेन आत्मादे निराकरणे शिव"** अर्थात् आत्मस्वरूप में स्वयं ही सिद्ध है।

प्रत्यभिज्ञाहृदय में भी शिव को सर्वात्मा, आनन्दघन, प्रकाशपुञ्ज तथा अभेद रूप में कहा गया है।

चित् स्वरूप शिव: चित् का भाव चेतन से है, जो स्थायित्व से पृथक होता है। शिव तत्त्व भी ऐसा ही चित् स्वरूप वाला है, क्योंकि जो किसी आकार विशेष में आबद्ध न होकर निर्विकार स्वरूप वाला है। यथा—**विज्ञानस्य विभोरसौ।**

काश्मीर शैव दर्शन में शिव को विभिन्न स्वरूपों में बतलाया गया है। जिनमें से एक स्वरूप सर्वसम्पन्न सत्ता वाला है, जो सब में व्याप्त होकर भी सबसे बाह्य स्वतन्त्र सत्ता स्वभाव में है। वह शिव सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप वाला है।

सत् का सम्बन्ध शिव के शाश्वत, अजर, अमर और अविनाशी स्वरूप से है। चित् का सम्बन्ध चेतना के दिव्य गुणों से सुसज्जित, उच्चस्तरीय आदर्शों-आस्थाओं से युक्त है। *तन्त्रालोक* में चेतना को स्वयं सत्यस्वरूप गुण के रूप में वर्णित किया गया है। यथा—**संवितत्त्व स्वप्रकाशम्।**[19]

वेदान्ती लोग चेतना को शुद्ध चैतन्य रूप में स्वीकार किए हैं, परन्तु शैव लोग इसे स्वतन्त्र की संज्ञा देते हैं।

आनन्द का स्वरूप वेदान्ती एवं शैव दोनों ही मान्य करते हैं। आनन्द अर्थात् भाव संवेदनाओं, सरसता, मृदुलता से सिक्त अन्तःकरण स्वरूप में विषय-विषयी का भेद समाप्त हो जाता है। इस आनन्द का अनुभव तभी होगा जब स्वयं उसे प्राप्त कर लेते हैं। *वेदान्तसार* में भी परब्रह्म को अखण्ड- सत् चित् आनन्द रूप में कहा है। यथा—**अखण्ड सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् --।** इस श्लोक में सत्-चित्-आनन्द को अखण्ड रूप में कहा गया है तथा वह अखण्ड आत्मा को कहते हैं, जो शैव दर्शन में शिव का ही स्वरूप है।

वेदान्त में सत्त्व को ज्ञानरूप ब्रह्म कहा गया है—"**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**"।[20] चित् को चैतन्य था चित् स्वरूप कहा है। आनन्द को विज्ञानवान् ब्रह्म कहा है—"**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**"।[21] इस प्रकार जो सत् है, वही चित् है तथा वही आनन्द है।

वेदान्त में जहाँ परब्रह्म को अखण्ड-सत्-चित्-आनन्द रूप में कहा गया है, वहीं शैव दर्शन में इसी को शिव का ही स्वरूप माना गया है।

परमशिव की पंच शक्तियाँ

शिव तत्त्व ज्ञान, क्रिया से युक्त है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार मुख्यत: शिव की पाँच शक्तियाँ हैं:

- चित्: आत्म प्रकाशन की शक्ति, शिव नामक है।
- आनन्द: महेश्वर नामक शक्ति, आनन्द वाली है।
- इच्छा: सर्जन करने वाली शक्ति, सदाशिव एवं संहारी नामक हैं।
- ज्ञान: ज्ञान शक्ति वाली, ईश्वर नामक है।
- क्रिया: आकार ग्रहण की शक्ति (सर्वाकार योगिलं क्रियाशक्तिः)।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि भारतीय आध्यात्मिक परम्परा निगम (वेद) और तथा (तन्त्र) नामक दो मुख्य धाराओं में प्रवाहित होती है। जहाँ निगम (वेद) कर्म और ज्ञान के वृहद् स्वरूप को प्रस्तुत करता है, वहीं आगम शास्त्र (तन्त्र) मोक्ष के साथ-साथ मारण, मोहन आदि अन्य विषयों तथा सभी वर्णों के लिए अधिकार को स्वीकार करता है।

शिव तत्त्व इन दोनों धाराओं के केंद्र में स्थित है। निगमों में शिव को रुद्र के रूप में विनाशक और कल्याणकारी दोनों ही रूपों में पूजित किया जाता है, जबकि आगमों में शिव को परम तत्त्व, सत्-चित्-आनन्द और अनिर्वचनीय परम प्रकाश के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। शिव की ये पंच शक्तियाँ (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) ही संपूर्ण सृष्टि की अभिव्यक्ति का मूल आधार हैं।

निष्कर्ष

निगम और आगम के समन्वयकारी दृष्टिकोण से यह सिद्ध होता है कि वेदों का ज्ञान मार्ग और तंत्रों की क्रियात्मक साधना पद्धति, दोनों ही साधक को एक ही अंतिम लक्ष्य—मोक्ष या परम शिव तत्त्व की प्राप्ति की ओर ले जाती हैं। यह समन्वय ही भारतीय धर्म एवं दर्शन की अखण्डता और पूर्णता का परिचायक है।

ग्रन्थसूची/संदर्भ सूची

1. *अभिज्ञानशाकुंतलम्,* शिवराज शास्त्री, मेहरचंद लक्ष्मीदास पब्लिकेशन नई दिल्ली
2. *तन्त्रालोक*
3. *तैत्तिरीय*
4. *देवी भागवत*
5. *निरुक्त,* जमुना पाठक, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी,

6. *परिभाषाप्रकरण*, ए. हॉग सम्पादितम्
7. *प्रत्यभिज्ञाहृदय*, पद्मभूषण डॉ. श्रीपाददामोदर-सातवलेकरः
8. *ब्रह्मपुराण*, गीताप्रेस गोरखपुर पुनर्मुद्रण सं, 2071
9. *बृहदारण्यक उपनिषद्*, शङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस गोरखपुर पुनर्मुद्रण सं, 2071
10. *महाभारत अनुशासनपर्व* , पद्मभूषण डॉ. श्रीपाददामोदर-सातवलेकरः, गीताप्रेस गोरखपुर पुनर्मुद्रण स, 2071
11. *महिम्नस्तोत्र*

सन्दर्भ

1. *निरुक्त* 1अध्याय3सूत्र
2. *योनितन्त्र* प्रस्तावना पृष्ठ 3
3. *योगसूत्र* तत्त्ववैशारदी 1/7
4. *योनितन्त्र* प्रस्तावना पृष्ठ 4
5. *देवी भागवत*1/5/61
6. *तंत्रालोक* भा.1,पृष्ठ15
7. *तन्त्रालोक*35/1-2
8. *तन्त्रालोक* 35/19
9. *शान्ति* 349।64
10. *रघुवंश*
11. *शिव महिम्न* स्तोत्र, श्लोक7
12. *परिभाषाप्रकरण, पृष्ठ 25*
13. *महाभारत.* अनुशासनपर्व. 60/30/45
14. *शुक्ल यजुर्वेद* शतरुद्रीय(16)अध्याय
15. *अभिज्ञानशाकुंतलम* 1.1
16. *महिम्नस्तोत्र,* 24 श्लोक
17. *ब्रह्मपुराण109*/37, 211/79, 130/17
18. *तन्त्रालोक 2*-28
19. *तन्त्रालोक* 2/10
20. *तैत्तिरीय* 2/2/1
21. *बृ. उ.* 6/3/9/28

शोध छात्र, वेदविभाग,
सं.वि.ध.वि. संकाय का.हि.वि.वि. वाराणसी,
14395sp@gmail.com,
Phone no- 7524062626

मीमांसा दर्शन में लोक-अर्थ की प्रधानता

प्रो. गोपाल प्रसाद शर्मा

मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं।[1] लौगाक्षि भास्कर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः।'[2] मीमांसा को वेद वाक्य—विचार-शास्त्र कहा जाता है। वेद वाक्यों का अर्थ—विचार मीमांसा की सरणि में सम्यक् हो सकता है। वेदार्थ की जिज्ञासा करना धर्म है, अतः इस मीमांसा- शास्त्र को धर्मविचारशास्त्र कहा गया है।[3] वेदार्थ ही धर्म है तथा वेदाध्ययन का दृष्टफल अर्थज्ञान है, अतः वेदार्थ-विचार करना चाहिये। अदृष्ट को माने बिना मीमांसकों का काम नहीं चलता है परन्तु उनका सिद्धान्त है—**लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना** यह भी संभव है कि इस प्रत्यक्ष-प्रमाण की अवधारणा को चार्वाकों ने मीमांसकों से लिया हो तथा उनका संपूर्ण लोकायत—विचार इसी पर केन्द्रित हो गया हो।

वेद वाक्यों के विचार क्रम में मीमांसक लोक-प्रचलित अर्थ का त्याग नहीं करते हैं। भाषाविदों के अनुसार शब्दों के अर्थ अपनी मूल प्रकृति से विचलित होते रहते हैं।

यह अर्थ-विचलन तीन प्रकार का होता है—

1. अर्थविस्तार

इसके अन्तर्गत कुशल, प्रवीण, तैल, पशु, गधा तथा उल्लू जैसे शब्द आते हैं, जिनका अर्थ-विस्तार हो गया है, इनमें कुशलः (कुशं लातीति), प्रवीणः (वीणावादने पटुः) तथा तैलम् (तिलस्य सारभागः) आज अपने मूल अर्थ को भी कदाचित् लोक में नहीं कह पाते हैं।

2. रूढीभवन

इसे अर्थसंकोच भी कहा जाता है, यह अर्थ-विस्तार की विपरीत प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत वे शब्द आते हैं जो कि व्यापक अर्थ व्यक्त करने की क्षमता रखते हुए भी सीमित अर्थ में सिमट जाते हैं। जैसे पंकज, सरोज तथा वारिज केवल कमल का बोध करा रहे हैं। इसी प्रकार शाला, भवन, मन्दिर, गृह, आलय, सदन, निकेतन तथा अगार कुछ विशेष शब्दों के साथ ही प्रयुक्त होते हैं। 'वेदना' (संवेदः, ज्ञानम्)[4] सुख तथा दुःख दोनों को व्यक्त करने की क्षमता रखते हुए भी दुःख का ही बोध कराता है। घृणा (प्रियते सिच्यते हृदयमनया दयारसेन हि हृदयं सिक्तमिवार्द्रं भवतीति तथात्वम्)[5] करुणा तथा घिन दोनों अर्थ रखते हुए भी घिन का ही बोध कराता है।

3. अर्थान्तरीभवन

इसे भाषाविद् अर्थादेश भी कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि शब्द अपने अर्थ को छोड़कर दूसरे अर्थ को व्यक्त करने लगते हैं। जैसे विधुर विकल अथवा व्याकुल अर्थ से पत्नीरहित अर्थ में चला गया। पाषण्ड शब्द पहले एक सम्प्रदाय में रूढ़ था—

पालनाच्च त्रयीधर्म्मः पाशब्देन निगद्यते।
तं ष (ख) ण्डयन्ति ते यस्मात् पाषण्डास्तेन हेतुना।।

वेदविरुद्धाचारवान्[6] --- इस अर्थ से ढोंग अर्थ में चला गया है। प्रतीक शब्द अपने मूलार्थ अङ्ग[7] तथा प्रतिकूल अर्थ[8] को छोड़कर चिह्न अर्थ में आ गया है। मुग्ध शब्द भी मूढ़[9] अर्थ को छोड़कर मोहित अर्थ को बताता है। अर्थबोध के लिये शब्दों का प्रयोग किया जाता है परन्तु इनका अर्थ-विचलन भाषाशास्त्रीय सिद्धान्त है।

मीमांसक लोक अर्थ को ही स्वीकार करते हैं।[10] 'अथातो धर्मजिज्ञासा'[11] इस सूत्र का अर्थ करते हुए मीमांसा सूत्र के प्राचीन टीकाकार भवदास ने 'अथ' तथा 'अतः' इन दो पदों को एक पद मानकर अर्थात् 'अथातः' इस पद को आनन्तर्यार्थिक माना था। लोक में 'अथातः' यह पद आनन्तर्यार्थक नहीं है। इस प्रकार का अर्थ मानने में परिभाषा का अवलम्बन लेना होगा।[12] इसी पक्ष का खण्डन करने के लिये भाष्यकार ने 'लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि'[13] यह पक्ष लिखा। कुमारिलभट्ट का भी यही मत है कि इस प्रकार 'अथातः' पद की आनन्तर्यार्थक व्याख्या उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार की व्याख्या में प्रसिद्धहानि तथा अप्रसिद्ध कल्पना ये दो दोष उपस्थित होंगे। अर्थात् 'अथ' यह पद आनन्तर्यार्थक प्रसिद्ध है, इस अर्थ की हानि होगी तथा 'अथ' एवं 'अतः' ये दोनों पद सम्मिलित होकर किसी अर्थ को बताते हैं, इस अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना करनी होगी।[14]

इन दोषों के कारण आचार्य भवदास को 'अथातः' इस पदद्वय को आनन्तर्यार्थक नहीं मानना चाहिये था। यदि मीमांसा के प्रथम सूत्र की ही व्याख्या में इस लोकाप्रसिद्ध सरणि से चलना पड़ेगा तो इस मार्ग से वेदों का अर्थनिर्णय दूर हो जायगा, इस प्रकार के अर्थ से वक्ता तथा श्रोता दोनों का यत्नभार बढ़ जायगा।[15]

शाबर-भाष्य में धार्मिक कौन है, इस तत्त्व पर विचार करते हुए भाष्यकार का मत है कि लोक में जिस अर्थ को स्वीकार किया जाता है, वही अर्थ मान्य होता है। जो यागानुष्ठान करता है, वह धार्मिक कहलाता है। जैसे लोक में पाचक तथा लावक शब्द क्रमशः पकाने वाले तथा काटने वाले के लिये प्रयुक्त होते हैं। जो पुरुष को निःश्रेयस से संयुक्त करता है, वह धर्मपदवाच्य है।[16] लौकिक उदाहरणों के पश्चात् भाष्यकार ने वैदिक मन्त्र[17] उपस्थापित किया है, इस मन्त्र में यज् धातु के वाच्य को धर्म कहा गया है। इस प्रकार उभयथा लोक एवं वेद में यज्ञ ही धर्म है। कदाचित् इसीलिये लौगाक्षिभास्कर ने भी यही बात कही है।[18] मीमांसकों के मत में यागादि क्रियायें तथा उनसे सम्बद्ध द्रव्य गुण आदि हि धर्म हैं।[19]

यह स्मरणीय है कि *जैमिनि-सूत्रों* का भाष्य *शाबर भाष्य* है। इस शाबर भाष्य की भी व्याख्या में कुमारिलभट्ट की तीन टीकायें वर्तमान में उपलब्ध हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. श्लोकवार्त्तिक

यह शाबर भाष्य के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद की पद्यमयी व्याख्या है। इस ग्रन्थ में बौद्धदर्शन के विषयों की जितनी आलोचना उनके मतों का उल्लेख करते हुए की गयी है, उतनी अन्य किसी ग्रन्थ में सम्भवतः ही की गयी हो।

2. तन्त्रवार्त्तिक

यह शाबर भाष्य के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीयाध्याय तक की गद्य-पद्यमयी व्याख्या है।

3. टुप्टीका

यह शाबर-भाष्य के चतुर्थाध्याय से द्वादशाध्याय तक की संक्षिप्त व्याख्या है।

उपर्युक्त तीनों ग्रन्थ अपनी विशिष्टताओं के कारण स्वतन्त्र स्थान रखते हैं, यद्यपि ये तीनों शाबर भाष्य की ही व्याख्या के रूप में हैं।

कुमारिल भट्ट भी साधारण-जनों द्वारा किये जाने वाले यागादि अनुष्ठाता पुरुषों में धार्मिकत्व के व्यवहार को प्रस्तुत करते हैं।[20] कुछ विचारक धर्म के विषय में वैमत्य रखते हैं—सांख्यमतावलम्बी अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष को, बौद्ध चैत्यवन्दनादि से उत्पन्न शुभा वासना को जैन पुद्गलादि परमाणुओं को, न्याय-वैशेषिक-मतावलम्बी मनुष्य की आत्मा में रहने वाले एक विशेष प्रकार के गुण को तथा कुछ मीमांसक यागादि से उत्पन्न होने वाले अपूर्व को धर्म कहते हैं।[21]

उपर्युक्त सभी मतों के खण्डन के लिये भट्टपाद लोक का ही प्रमाण लेते हैं। जब लोक में इस प्रकार का अर्थ बहुशः स्वीकृत नहीं है तो इन सभी पाँचों मतों में से एक भी धर्म-पद-वाच्य नहीं हो सकता है।[22]

मीमांसक रूढार्थ की प्रधानता को जानते थे। तभी तो 'बर्हिः' इस पद के अर्थ-निश्चय के लिये तथा इसी प्रकार के पदों के अर्थज्ञान एवं तदनुसार यागादि क्रियाओं के अनुष्ठान के लिये उन्होंने हमें 'लिङ्ग' नामक प्रमाण दिया, जिससे कि विनियोग का यथार्थ ज्ञान होता है। उक्त प्रमाण को स्पष्ट करते हुए अर्थसंग्रहकार ने कहा है—'शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्'।[23] इसी प्रमाण के आधार पर 'बर्हिः' पद कुश का वाचक होता है न कि 'उलप' आदि कोमल तृणों का।[24] जबकि कुश भी तृण-विशेष ही है। विस्तृत रूप से इस प्रकरण को लौगाक्षिभास्कर के *अर्थसंग्रह* में देखा जा सकता है। यौगिक अर्थ से रूढार्थ बलवान् होता है, यह इस प्रकरण का सार है। इस प्रकार मीमांसकों ने आधुनिक भाषा – विज्ञान के लिये भी एक सिद्धान्त तो दे ही दिया। *जैमिनीयन्यायमाला* में भी पिकनेमाधिकरण में व्याकरण, निरुक्तादि से पिक, नेमादि पदों की अर्थ- कल्पना की जाय अथवा चूँकि आर्यों में ये पद किसी भी अर्थ में प्रसिद्ध नहीं हैं तथा म्लेच्छों का प्रामाण्य न होने से व्याकरणादि की सहायता से पिकादि शब्दों की अर्थ-कल्पना उचित है, ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित होता है।

यहाँ सैद्धान्तिक रूप से यह कहा गया है कि यदि म्लेच्छप्रसिद्धि का आर्यों के अर्थ से विरोध नहीं होता है तो वह म्लेच्छप्रसिद्धि ग्राह्य है। इस अधिकरण का सार यह है कि म्लेच्छों की लोक-प्रसिद्धि का भी प्रामाण्य है। अतः माधवाचार्य म्लेच्छों की ही सही यदि उस प्रसिद्धि का आर्य-प्रसिद्धि से विरोध नहीं है तो वेदाङ्गों से भी अधिक उसका प्रामाण्य स्वीकार कर रहे हैं।

वाक्य-शास्त्र तो मीमांसा ही है। अतः वेद- वाक्य- विचार की प्रक्रिया मीमांसा के बिना नहीं हो सकती है। अत एव मीमांसा का अध्ययन आवश्यक है।[25] मीमांसा के प्रथम सूत्र में धर्म-जिज्ञासा की बात कही गयी है। अतः मीमांसा का प्रयोजन धर्म- विचार है।[26] यदि मीमांसक धर्म विषयक चर्चा करते हुए लोक तथा वेद से धर्म-तत्त्व निरूपण करते हैं तो इसमें कुछ विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। इस मीमांसा – विद्या को समझने के लिए व्याकरणादि विद्याओं को जानना आवश्यक है।[27] इस मीमांसा को यथार्थ रूप में न जानने पर न्याय ठीक ढंग से नहीं हो सकता है।[28]

मीमांसकों का यह भी सिद्धान्त है कि आख्यात जब अपने अर्थ का बोध कराते हैं तब पुरुषगत सामर्थ्य भी अर्थबोध में सहायक होते हैं।[29] 'यजेत स्वर्गकामः' का यह भी तात्पर्य है कि जो आहिताग्नि हो तथा अध्ययन विधि से सिद्ध विद्यावान् हो, वह याग करे। 'स्रुवेणावद्यति' वाक्य से आज्य का ही अवदान होगा[30] तथा 'हस्तेनावद्यति' वाक्य से पुरोडाशावदान ही विवक्षित है। इसी प्रकार लोकव्यवहार में भी ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं जो मीमांसा के सामर्थ्याधिकरण से प्रभावित हैं। जैसे पानी लाओ कहने पर गिलास में ही लाया जाता है तथा भोजन लाओ कहने पर थाली में ही लाया जाता है। हमें यह मानना चाहिये कि इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था मीमांसकों की ही देन है। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी जहाँ अर्थ स्पष्टतया अवभासित न हो अथवा संशयात्मक स्थिति हो, वहाँ हमें मीमांसकों की सरणि का अनुसरण कर रूढार्थ (लोकार्थ) का ग्रहण करना उपयुक्त होगा।

सन्दर्भ

1. पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता।
   काठकादि समाख्यानाद्वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥ 25॥
   समाख्याध्यापकत्वेन वाक्यत्वं तु पराहतम्।
   तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता॥ 26॥ *जै. न्या.मा.*
2. *'अर्थसंग्रह* 'वेदलक्षणविचार' प्रकरण
3. 'धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्या इति शेषः। जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा। अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः॥'
4. *शब्दकल्पद्रुम*
5. *शब्दकल्पद्रुम*
6. *शब्दकल्पद्रुम*
7. अङ्ग प्रतीकोऽवयवोपघनः। *अमरकोश* 2.6.70
8. 'प्रतिकूले प्रतीकस्त्रिष्वेकदेशे तु पुंस्ययम्।' *अमरकोश* 3.3.7
9. *शब्दकल्पद्रुम*
10. लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि यानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्। नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा। एवं वेदवाक्यान्येवैभिर्व्याख्यायन्ते। इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि, स्वपदार्थश्च व्याख्येया इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत। *शा. भा. पू.* 1
11. *जै.सू.* - 1.1.1
12. वृत्त्यन्तरेषु केषाञ्चिल्लौकिकार्थव्यतिक्रमः।
    शब्दानां दृश्यते तेषामुपालम्भोऽयमुच्यते॥ 33॥
    अथात इत्ययं लोके नानन्तर्ये प्रयुज्यते।
    तस्मात्तादर्थ्यमेतस्य परिभाषादिभिर्भवेत् ॥ 34 ॥ *मीमांसाश्लोकवार्तिक प्रतिज्ञासूत्रम्*
13. टिप्पणी 10
14. प्रसिद्धहानिः शब्दानामप्रसिद्धे च कल्पना।
    न कार्या वृत्तिकारेण सति सिद्धार्थसम्भवे॥ 35॥ *मीमांसाश्लोकवार्त्तिक प्रतिज्ञासूत्रम्*
15. सूत्रार्थे क्लिश्यतश्चैवं दूरे वेदार्थनिर्णयः।
    तत्र यत्नस्य भारत्वं वक्तृश्रोत्रोः प्रसज्यते ॥ 36 ॥ *मीमांसाश्लोकवार्त्तिक प्रतिज्ञासूत्रम्*
16. य एव श्रेयस्करः, स एव धर्मशब्देनोच्यते। कथमवगम्यताम् यो हि यागमनुतिष्ठति, तं 'धार्मिकः' इति समाचक्षते।

यश्च यस्य कर्त्ता स तेन व्यपदिश्यते। यथा पाचको लावकः इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति, स धर्मशब्देनोच्यते। *मीमांसा शावर भाष्य पृ. 13, 14*

17. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। *ऋ.* 10.90.16 तथा *वा. स.* 31.16
18. `अथ को धर्मः, किं तस्य लक्षणम् ?, इति चेत्, उच्यते यागादिरेव धर्मः।` *अर्थसंग्रह – धर्मलक्षण-प्रकरण*
19. श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात् तेष्वेव धर्मता।। *मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदनासूत्रम् – 191*
20. अन्यत्साध्यमदृष्ट्वैव यागादीननुतिष्ठतः।
धार्मिकत्वसमाख्यानं तद्योगादिति गम्यते।। *मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदनासूत्रम् – 192*
21. अन्तःकरणवृत्तौ वा वासनायां च चेतसः।
पुद्गलेषु च पुष्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि।। *मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदनासूत्रम्- 195*
22. प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम्।
पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः।। मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदनासूत्रम् – 196
23. *अर्थसंग्रह लिङ्गस्वरूपनिरूपण प्रकरण*
24. *वाचस्पत्यम्*
25. `वैदिक वाक्यों में कौन से वाक्य विधायक हैं? कौन से अर्थवाद-वाक्य हैं? किन वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य है? किन वाक्यों का अन्यत्र तात्पर्य है? कहाँ वास्तव में निषेध है? कहाँ विधि का आभास हो रहा है? इन सबका ज्ञान मीमांसा दर्शन को जाने बिना नहीं हो सकता।` *मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास – पृ. 58* डा. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर
26. अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्रमाद्यमिदं कृतम्।
धर्माख्यं विषयं वक्तु मीमांसायाः प्रयोजनम्। – *मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदनासूत्रम्- 11*
27. मीमांसाख्या तु विधेयं बहुविधान्तराश्रिता।
न शुश्रूषयितुं शक्या प्रागनुक्त्वा प्रयोजनम्।। *मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदनासूत्रम् – 13*
28. मीमांसायां त्विहाज्ञाते दुर्ज्ञाते वाऽविवेकतः।
न्यायमार्गे महान् दोष इति यत्नोपचर्यता।। *मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदनासूत्रम्- 13*
29. आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी। – *अर्थसंग्रह अधिकारविधिलक्षण-प्रकरण*
30. `स्रुवेणावद्यति` इत्यवदानसामान्यशेषत्वावगमेऽपि स्रुवस्य सामर्थ्यरूपाल्लिङ्गादाज्यसान्नाय्यादि द्रवद्रव्यस्यावदानविशेषाङ्गत्वम् स्रुवेण पुरोडाशाद्यवदानस्य कर्तुमशक्यत्वात्। *मीमांसा परिभाषा* – पृ. 36

(आचार्य – वेद विभाग)
श्री.ला. ब. शा. रा. संस्कृत विश्वविद्यालय,
शहीद जीतसिंह मार्ग,
कटवारिया सराय,
नयी दिल्ली।
मो. 9911559965

कष्टार्तव की समस्या का योग द्वारा निवारण

कृष्णा दग्दी एवं डॉ राकेश गिरी

सार

अच्छा स्वास्थ्य एक ऐसी व्यक्तिगत एवं सामाजिक अनुभूति है जिसमें एक व्यक्ति स्वयं को सक्रिय, सृजन-शील, समझदार तथा योग्य महसूस करता है, एक महिला का स्वास्थ्य उनके जीवन के हर पहलू पर प्रभाव डालता है फिर भी अनेक वर्षों तक महिलाओं के लिए स्वास्थ्य सेवा का अर्थ गर्भावस्था तथा प्रसव में दी जाने वाली मृतस्वास्थ्य सेवाओं से अधिक को कुछ नहीं रहा है, यह सेवाएं आवश्यक है परन्तु महिलाओं की अन्य कई समस्याएं हैं—जैसे मासिक धर्म से संबंधित समस्याएं है। मासिक धर्म प्रत्येक स्त्री के जीवन चक्र का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, मासिक धर्म चक्र के दौरान एक महिला हार्मोन परिवर्तनों की एक शृंखला से गुजरना प्रारंभ कर देती है। मासिक धर्म स्त्रियों में एक स्वाभाविक क्रिया है। 75% लड़कियों को मासिक धर्म से संबंधित समस्याओं का अनुभव होता है। यूनिसेफ के अनुसार प्रत्येक माह दुनिया भर में लगभग 1.8 बिलियन स्त्रियों को मासिक धर्म होता है, परन्तु फिर भी प्रथम महावारी के पूर्व इस विषय में कहीं लड़कियों को इसकी पूर्व जानकारी नहीं होती है अतः समाज में महिलाओं की मासिक धर्म की समस्याओं की अवहेलना की जाती है। मासिक धर्म से संबंधित समस्याओं में से एक समस्याकष्टार्तव की भी है।कष्टार्तवमासिक धर्म के दौरान पेट के निचले भाग में बार-बार होने वाला ऐंठन वाला दर्द होता है। मासिक धर्म वाली महिलाओं में से 60% से 90% महिलाओं में कष्टार्तव की समस्या देखी जा सकती है। मासिक धर्म के समय होने वाला दर्द एवं ऐंठन किसी अभिशाप से काम नहीं होता है। यह दर्द अलग-अलग प्रकार से हो सकता है इस समस्या में महिलाओं को योग चिकित्सा द्वारा लाभ प्राप्त होता है।

मूल शब्द - *कष्टार्तव, महिला, मासिक धर्म, स्वास्थ्य, योग चिकित्सा आदि।*

परिचय

वर्तमान समय में वैज्ञानिक युग में जैसे-जैसे तकनीकी विकास हो रहा है, मानव को अनेक सुविधाएं प्रदान हो रही है, परन्तु मनुष्य की सामान्य जीवन शैली को अव्यवस्थित कर दिया है। आधुनिक जीवन शैली तथा असंतुलित आहार-विहार से मनुष्य के शरीर का संतुलन बिगड़ रहा है। अनियमित जीवन शैली के दुष्प्रभाव छात्राओं और महिलाओं के मासिक धर्म की कष्टार्तव की समस्या पर भी हुआ है, कष्टार्तव

महिलाओं की आम समस्या है, जो आज उनके जीवन का एक अंश बनता जा रहा है। कष्टार्तव महिलाओं एवं लड़कियों की मासिक धर्म से जुड़ी एक समस्या है जो प्रतिमाह महिलाओं को मासिक धर्म के पूर्व तथा दौरान होने वाले दर्द से हैं मासिक धर्म के दौरान व पूर्व गर्भाशय में असहनीय पीड़ा होना तथा इस असहनीय पीड़ा के कारण सामान्य क्रियाकलाप में भी बाधा उत्पन्न होने लगती है।

कष्टार्तव एक ऐसी पीड़ा है जो महिला के मासिक धर्म के समय होती है और यह गर्भाशय की मायोमेट्रियल मांसपेशियों में अधिक संकुचन के कारण होता है, जिसके कारण रक्त प्रवाह कम हो जाता है, जिससे मायोमेट्रियल कोशिकाओं में ऑक्सीजन की कमी से मासिक धर्म के दौरान पीड़ा होता है, इस पीड़ा के कारण पेट में जलन एवं दर्द महसूस होता है।[1]

महिलाएं सामान्यतः अपने मासिक धर्म से एक या दो दिन पहले से पेट के निचले भाग में ऐंठन या दर्द की शिकायत करती हैं और यह दो या तीन दिनों तक रहता है।[2] किशोर लड़कियों और महिलाओं को अक्सर अपने मासिक धर्म के दौरान कष्टार्तव अर्थात मासिक धर्म के समय होने वाली असहनीय पीड़ा का अनुभव होता है।[3] हर महिला मासिक धर्म के दर्द को अलग-अलग तरीके से अनुभव करती है, कुछ को हल्की असुविधा होती है, जबकि अन्य को गंभीर दर्द होता है जो मासिक धर्म से पहले तथा मासिक धर्म के समय होता है।

कष्टार्तव महिलाओं की एक सामान्य स्त्री रोग की स्थिति है जो लगभग 50% मासिक धर्म वाली स्त्रियों को प्रभावित करती है। विकासशील देशों यह स्थिति और अधिक है, लगभग 71% से 75% महिलाएँ कष्टार्तव की समस्यासे पीड़ित हैं।मासिक धर्म चक्र के समय कई बार महिलाओं को दैनिक जीवन की गतिविधियों से दूर रहने और अपने कार्य से अनुपस्थित रहने की अधिक संभावना होती है। कष्टार्तव से पीड़ित महिलाओं को अपनी जीवन की गतिविधियों को जारी रखने के लिए कभी-कभी दवाइयां भी लेनी होती है जबकि सामान्य मासिक धर्म वाली महिलाएं ऐसा नहीं करती हैं।[4] प्राथमिक कष्टार्तव श्रोणी अंगों में होने वाला आवर्ती दर्द है, जो मासिक धर्म चक्र के समय होता है और अन्य बीमारियों से जुड़ा नहीं होता है।[5] इसके विपरीत, द्वितीयक कष्टार्तव चिकित्सकीय रूप से पहचाने जाने योग्य बीमारी से जुड़ा होता है।[6] कष्टार्तव मासिक धर्म महिलाओं में उनके प्रजनन समय के दौरान होने वाली एक सामान्य समस्या है। कष्टार्तव स्वास्थ्य के नकारात्मक, मनोवैज्ञानिक, भावनात्मक, और कार्यात्मक प्रभावों से जुड़ा हो सकता है।[7]

कष्टार्तव के प्रकार

कष्टार्तव मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है; प्राथमिक और द्वितीयक कष्टार्तव। प्राथमिक कष्टार्तव मासिक धर्म प्रारम्भ होने के बाद शुरू होता है और बिना किसी जैविक विकृति के निचले पेट में ऐंठन के साथ मासिक धर्म का दर्द होता है। दूसरी ओर, द्वितीयक कष्टार्तव मासिक धर्म के प्रारंभ होने के कुछ वर्षों बाद होता है और इसमें पैल्विक दर्द, मतली, उल्टी, थकान, पीठ दर्द, सिरदर्द, चक्कर आना और दस्त शामिल हैं।[8]

प्राथमिक कष्टार्तव

प्राथमिक कष्टार्तव का मुख्य कारण प्रोस्टाग्लैंडीन को माना जाता है।[9] कष्टार्तव से पीड़ित महिलाओं के मासिक धर्म द्रव और एंडोमेट्रियल ऊतक में प्रोस्टाग्लैंडीन के उच्च स्तर देखे जा सकते हैं।[10] मासिक धर्म चक्र के समय हार्मोन के स्तर में कमी के कारण एंडोमेट्रियल (गर्भाशय की परत) निकालना शुरू होती है। मासिक धर्म की शुरुआत के दौरान गर्भाशय की परत निकलनें का समय वह होता है जब एंडोमेट्रियल कोशिकाएं प्रोस्टाग्लैंडीन जारी करती हैं। गर्भाशय के संकुचन का कारण प्रोस्टाग्लैंडीन बनते हैं, और प्रोस्टाग्लैंडीननिकालने के अनुपात में ऐंठन की तीव्रता अनुभव होती है।[11'12] महिलाओं को अपने पेट के निचले हिस्से, पीठ या जांघों में हल्के से लेकर गंभीर दर्द का अनुभव हो सकता है।

प्राथमिक कष्टार्तव महिलाओं के मासिक धर्म चक्र के समय होने वाली एक दर्दनाक स्थिति है, जिसमें श्रोणी अंगों की कोई विकृति नहीं होती है।[13] प्राथमिक कष्टार्तव के लक्षण पेट के अंगों में ऐंठन दर्द के रूप में हो सकते हैं जो निचले श्रोणी क्षेत्र तक फैल भी सकता है और साथ ही जी मिचलाना, उल्टी, सिरदर्द, पीठ में दर्द, सिरदर्द या चक्कर आना, अच्छा महसूस न करना, चिड़चिड़ापन, थकान या कमजोरी एक सामान्य रूप होता है।[14] महिलाओं द्वारा मासिक धर्म चक्र के समय होने वाले दर्द के आधार पर कष्टार्तव को हल्का, मध्यम या गंभीर के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।[15] सामान्य शारीरिक स्वास्थ्य के अलावा, प्राथमिक कष्टार्तव महिलाओं की नींद, सामाजिक संपर्क के साथ-साथ दैनिक जीवन की गतिविधियां को भी प्रभावित कर सकता है।[16] युवा महिलाओं में प्राथमिक कष्टार्तव की समस्या बहुत अधिक देखी जा सकती है।[17] दर्द आमतौर पर दो या तीन दिनों के भीतर कम हो जाता है। प्राथमिक कष्टार्तव, कष्टार्तव का अधिक सामान्य प्रकार है।

द्वितीयक डिसमेनोरिया

द्वितीयक कष्टार्तव गर्भाशय के भीतर या बाहर किसी संक्रमण या संरचनात्मक असामान्यता, अंतर्निहित बीमारी के कारण होने वाला मासिक धर्म दर्द है।[18] यह महिलाओं को मासिक धर्म के बाद किसी भी समय प्रभावित कर सकता है। द्वितीयक कष्टार्तव से होने वाला दर्द सामान्यतः महिलाओं के मासिक धर्म चक्र से पहले शुरू होता है और सामान्य मासिक धर्म कि ऐंठन से अधिक समय तक रहता है। उदाहरण के लिए, महिलाओं के मासिक धर्म चक्र से कई दिन पहले ऐंठन का अनुभव हो सकता है और दर्द तब तक रह सकता है जब तक रक्तस्राव पूरी तरह से बंद न हो जाए। द्वितीयक कष्टार्तव दर्द की अलग-अलग तीव्रता से जुड़ा हो सकता है और कई बार, अन्य लक्षण जैसे कि डिसपेर्यूनिया, मेनोरेजिया, इंटरमेंस्ट्रुअल ब्लीडिंग और पोस्टकोटल ब्लीडिंग भी हो सकते हैं।[19]

प्राथमिक कष्टार्तवकी यौगिक चिकित्सा

आधुनिकता से भरे हुए हमारे इस समाज में जहाँ आज मानसिक एवं शारीरिक रोग तीव्रता से बढ़ रहे हैं, वहाँ योग अत्यधिक प्रभावी उपाय के रूप में उभरकर सामने आया है। योग न केवल रोगों को रोकता है

अपितु जो रोग शरीर में हो गया है, उसका भी उपचार करने में सहायता करता है। योग के चिकित्सा के लाभों का कई वैज्ञानिक शोधों से पता चला है। आज योग शारीरिक-मानसिक विकारों सहित कई जीवन शैली से संबंधित विकारों का रोकथाम और प्रबंधन के कारण लोकप्रिय हो रहा है, कष्टार्तव न केवल एक शारीरिक असंतुलन, बल्कि जीवन शैली की अव्यवस्था का भी परिणाम है। संतुलित आहार, संयमित दिनचर्या, योग अभ्यास इस पीड़ा को दूर करने का गूढ़ साधन है।

आहार—यौगिक आहार का महत्व शरीर और मन की आंतरिक शुद्धता के लिए अत्यधिक है, यौगिक आहार की श्रेणी में सात्विक भोजन को शामिल किया जाता है जो व्यक्ति के शरीर और मन को शुद्ध, शक्ति वर्धक, स्वस्थ और प्रसन्नता से भर देता है। सात्विक आहार मनुष्य को स्वस्थ शरीर, शांति, सामंजस्यपूर्ण तालमेल की कुशलता और बौद्धिक व्यक्तित्व प्रदान करता है। सात्विक आहार शांत व स्पष्ट मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करता है। यौगिक आहार में मुख्य रूप से ताजे फल और सब्जियां व अनाज सम्मिलित हैं जिन से वजन घटाने में, पाचन सुधारने में तथा शरीर से विषाक्त और अपशिष्ट पदार्थों को बाहर निकालने में सहायता मिलती है। हार्मोनल संतुलन को बनाए रखने के लिए पौष्टिक आहार एक महत्वपूर्ण कारक है।[20] आज दुनिया भर में असंतुलित आहार की वजह से मासिक धर्म की समस्या बढ़ती जा रही है। असंतुलित भोजन जिसमें अत्यधिक वसा, चीनी अर्थात सोडियम की मात्रा अधिक होती है जो पोषण के लिए उसे पर्याप्त बनता है।[21] आयुर्वेद के अनुसार संतुलित भोजन से वात, पित्त, कफ (त्रिदोष) को भी संतुलित करता है जिसे शरीर से अनेक विकार दूर होते हैं।

आसन—आसन वह स्थिति है जिसमें शरीर स्थिरता और सहजता के साथ स्थित होता है, जिससे न केवल मांसपेशियों और स्नायु तन्त्र को विश्राम मिलता है, बल्कि मन भी स्थिर होकर ध्यान की ओर प्रवृत्त होता है। यह शारीरिक अभ्यास मात्र नहीं, बल्कि शरीर, मन और श्वास का समन्वित प्रयास है जो योग के उच्चतर अंगों की ओर मार्ग प्रशस्त करता है। योग के द्वारा रीढ़ की हड्डी में लचीलापन एवं शक्ति में प्राकृतिक रूप से वृद्धि होती है तथा रक्त का परीक्षण में भी वृद्धि करता है और योग अभ्यास से तांत्रिकातन्त्र को ऑक्सीजन और पोषक तत्त्व की आपूर्ति सुनिश्चित रूप से होती हैं। महिलाओं की मासिक धर्म की कष्टार्तव समस्या के लिए ऐसे आसनों का चयन उपयुक्त है, जिनसे अंतः स्त्रावी ग्रंथियां पर नियंत्रण के द्वारा हार्मोन उत्पादन को सुव्यवस्थित तथा संतुलित कर सकते हैं। आसनों के अभ्यास से शरीर के आंतरिक अंगों एवं ग्रंथियां की मालिश होती हैं, उन पर दबाव पड़ता है, उनमें ऊर्जा का संचार होता है, जिससे शरीर में जो अशुद्ध रक्त है, इसका निष्कासन होता है तथा शुद्ध रक्त का शरीर में परिसंचरण होता है।[22] मासिक धर्म की समस्या के लिए सूर्य नमस्कार, उष्ट्रासन, शशांकासन, वज्रासन, सुप्त वज्रासन, भुजंगासन, मर्जरी आसन, हलासन, श्वासन, धनुरासन, तितली आसन, शीर्षासन ताड़ासन आदि। विशेष रूप से विपरीत आसान

प्रजनन अंगों के प्राकृतिक प्रवाह को संतुलित करने में सहायक होते हैं और पिट्यूटरी ग्रंथि में रक्त संचार को सक्रिय करते हैं परन्तु इन आसनों का अभ्यास मासिक धर्म के तीव्र प्रभाव वाले दिनों में करने से बचना चाहिए।[23]

प्राणायाम—प्राणायाम, योगशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जिसमें श्वास को नियंत्रित कर शरीर और मन के बीच समरसता स्थापित की जाती है। "प्राण" जीवन ऊर्जा है, और जब यह अवरुद्ध या असंतुलित होती है, तो शरीर में विभिन्न शारीरिक व मानसिक विकार उत्पन्न हो सकते हैं। मासिक धर्म के दौरान अनुभव की जाने वाली असहनीय पीड़ा, ऐंठन और चिड़चिड़ापन—जिन्हें मिलाकर कष्टार्तव कहा जाता है—उन स्थितियों में से एक है, जिसमें प्राणायाम गहन रूप से लाभकारी सिद्ध हो सकता है। प्राणायाम तंत्रिका तन्त्र को शांत कर, मानसिक तनाव को कम करते हैं और गर्भाशय तथा पेट के निचले भाग में रक्त संचार को संतुलित करते हैं। इसके परिणामस्वरूप, हार्मोन का स्राव नियमित होता है और मांसपेशियों की ऐंठन में भी कमी आती है। उज्जयी, भ्रामरी, नाड़ी शोधन प्राणायाम, भस्त्रिका विशेष रूप से माइग्रेन और सामान्य रूप से मासिक तनाव के मामलों में प्रभावी है। गर्भाशय से जुड़ी समस्याओं में मूल और जालंधर बँध के साथ नाड़ी शोधन प्राणायाम प्रभावी होता है, भस्त्रिका प्राणायाम शरीर से विषाक्त पदार्थों को बाहर निकलता है, इस कारण कष्टार्तव की समस्या में इन प्राणायाम का अभ्यास करने की विशेष सलाह दी जाती है।[24]

निष्कर्ष

वर्तमान समय में महिलाएं तेजी से बदलती जीवनशैली, मानसिक तनाव, अनुचित आहार-विहार और शारीरिक निष्क्रियता के कारण अनेक स्वास्थ्य समस्याओं से ग्रसित हो रही हैं, जिनमें कष्टार्तव एक प्रमुख समस्या है। यह समस्या न केवल शारीरिक पीड़ा देती है, बल्कि मानसिक और भावनात्मक संतुलन को भी प्रभावित करती है। यद्यपि आधुनिक चिकित्सा इस पीड़ा को कम करने के लिए औषधियां उपलब्ध कराती है, परन्तु उनका निरंतर प्रयोग शरीर पर विपरीत प्रभाव डाल सकता है।

योग एक ऐसा प्राकृतिक, सुलभ और निरापद साधन है जो न केवल शारीरिक, मानसिक और हार्मोनल संतुलन को बनाए रखता है, बल्कि महिलाओं को आत्मनिर्भर और स्वस्थ बनाता है। शोध से यह स्पष्ट होता है कि नियमित रूप से योगाभ्यास — विशेषकर आसन, प्राणायाम और सात्विक आहार — कष्टार्तव की पीड़ा को प्रभावी ढंग से कम करने में सहायक होते हैं। योग एक समग्र जीवनशैली है, जो स्त्रियों को न केवल कष्टार्तव से राहत देती है, बल्कि उन्हें दीर्घकालीन स्वास्थ्य और मानसिक शांति की ओर भी अग्रसर करती है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कष्टार्तव की समस्या में योगिक उपाय एक प्रभावी, व्यावहारिक और स्थायी समाधान प्रदान करते हैं, जिसे अपनाकर महिलाएं अपने मासिक धर्म काल को भी सहजता और स्वस्थता के साथ जी सकती हैं।

सन्दर्भ

1. Lowdermik, & Jensen. (2012). BukuAjarKeperawatan Maternitas. Jakarta: *EGC*.
2. Anggasari, Y., &Windarti, Y. (2021). Acupressure effectiveness and yoga exercises to reduce menstrual pain. *STRADA* JurnalIlmiah Kesehatan, 10(2), 1443–1448.
3. Gerancher, K. R. (2018). Dysmenorrhea and endometriosis in the adolescent. *The American College of Obstetricians and Gynecologists*, 132(760), 249–258.
4. Charu, S., Amita, R., Sujoy, R., & Thomas, A. G. (2012). Menstrual characteristics and prevalence and effect of dysmenorrhea on quality of life of medical students. *International Journal of Collaborative Research on Internal Medicine & Public Health,* 4(4).
5. Burnett, M., & Lemyre, M. (2017). No. 345-Primary dysmenorrhea consensus guideline. *Journal of Obstetrics and Gynaecology* Canada, 39(7), 585–595.
6. FFrench, L. (2005). Dysmenorrhea. *American Family Physician,* 71(2), 285–291.
7. Chauhan, M., & Kala, J. (2012). Relation between dysmenorrhea and body mass index in adolescents with rural versus urban variation. *Journal of Obstetrics and Gynaecology* India, 62(4), 442–445.
8. Kannan, P., & Claydon, L. S. (2014). Some physiotherapy treatments may relieve menstrual pain in women with primary dysmenorrhea: *A systematic review. Journal of Physiotherapy,* 60(1), 13–21.
9. Proctor, M., & Farquhar, C. (2006). Diagnosis and management of dysmenorrhoea. *BMJ*, 332(7550), 1134–1138.
10. Kho, K. A., & Shields, J. K. (2020). Diagnosis and management of primary dysmenorrhea. *JAMA*, 323(3), 268–269.
11. Coco, A. S. (1999). Primary dysmenorrhea. *American Family Physician*, 60(2), 489–496.
12. Ylikorkala, O., & Dawood, M. Y. (1978). New concepts in dysmenorrhea. *American Journal of Obstetrics and Gynecology*, 130(7), 833–847.
13. Romero-Morales, C., de la Cueva-Reguera, M., Miñambres-Vallejo, B., Ruiz-Ruiz, B., Calvo-Lobo, C., Casado-Hernández, I., et al. (2020). Ultrasound assessment of the abdominal wall muscles in women with and without primary dysmenorrhea: A cross-sectional study. *Diagnostics*, 10(3).
14. Spears, L. G. (2005). A narrative review of medical, chiropractic, and alternative health practices in the treatment of primary dysmenorrhea. *Journal of Chiropractic Medicine*, 4(2), 76–88.
15. Banikarim, C., Chacko, M. R., & Kelder, S. H. (2000). Prevalence and impact of dysmenorrhea on Hispanic female adolescents. *Archives of Pediatrics& Adolescent Medicine*, 154(12), 1226–1229.
16. Jones, G., Jenkinson, C., & Kennedy, S. (2004). The impact of endometriosis upon quality of life: A qualitative analysis. *Journal of Psychosomatic Obstetrics &Gynecology*, 25(2), 123–133.

17. Polat, A., Celik, H., Gurates, B., Kaya, D., Nalbant, M., Kavak, E., et al. (2009). Prevalence of primary dysmenorrhea in young adult female university students. *Archives of Gynecology and Obstetrics,* 279(4), 527–532.

18. Mrugacz, G., Grygoruk, C., Sieczyński, P., Grusza, M., Bołkun, I., &Pietrewicz, P. (2013). [Etiopathogenesis of dysmenorrhea]. *Medycyna Wieku Rozwojowego*, 17(1), 85–89.

19. Proctor, M., & Farquhar, C. (2006). Diagnosis and management of dysmenorrhoea. *B MJ*, 332(7550), 1134–1138.

20. Lakkawar, N. J., et al. (2014). A study of menstrual disorders in medical students and its correlation with biological variables. *Scholars Journal of Applied Medical Sciences*, 2(6E), 3165–3175.

21. Veena, K. S., et al. (2013). Menstrual abnormalities in school going girls – Are they related to dietary and exercise pattern? Journal of Clinical and Diagnostic Research, 7(11), 2537.

22. मुक्तानन्द स्वामी. (2005). *नव योगिनी तंत्र* (पृ. 37). योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर.

23. Karmananda, S. (2001). *Yogic management of common diseases* (p. 189). Yoga Publications Trust, Munger.

24. Karmananda, S. (2001). *Yogic management of common diseases* (p. 190). Yoga Publications Trust, Munger.

शोध छात्रा,
योग विज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी सम विश्वविद्यालय
हरिद्वार उत्तराखंड
Email id harekrishnagroup377@gmail.com
Mo.no. 9784726557, 7976420377
पता – 8, Jeevan Deep Colony,
Road No 14, VKI Area,
Sikar Road, Jaipur – Rajsthan 302013A
निर्देशक – डॉ राकेश गिरी
सेवानिवृत्त प्रोफेसर,
गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय उत्तराखंड
सहायक निर्देशक – प्रोफेसर सुरेंद्र त्यागी
प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार उत्तराखंड

Pāñcarātra Āgama and its Epigraphical Presence

Dr. Pankaj Kumar Mishra

Abstract

The PāñcarātraĀgama, one of the most influential and philosophically sophisticated and ritually branches of the Vaiṣṇava tradition, occupies a central position within the broader Āgamic framework of Hindu religious thought and practice. Organised around the four domains of **Jñāna**, **Yoga**,**Kriyā**, and **Caryā**,it articulates a comprehensive theological and ritual system grounded in the supremacy of **Vāsudeva** and expressed through the celebrated doctrines of **Bhakti** and the **Caturvyūha**. While textual sources delineate the metaphysical and liturgical structures of this tradition, it is the extensiveEpigraphical archive that offers the most concrete historical testimony to its institutional presence, ritual authority, and socio-cultural impact. Inscriptions from Besnagar, Ghoṣuṇḍī, Mora, Nāṇāghaṭ, Udayagiri, and numerous South Indian temple sites portray a dynamic religious movement supported by royal patronage, integrated with temple administration and embedded in the devotional life of diverse communities. The epigraphsilluminate the early prominence ofVāsudeva-Saṅkarṣaṇa worship, the evolution of Pāñcarātra iconography, the interactions, sometimes collaborative, sometimes competitive, between Pāñcarātra and Vaikhānasa traditions, and the role of Ācāryas, scholars, and ritual specialists in sustaining its theological and institutional frameworks. Far from being a peripheral or heterodox development, the Pāñcarātra emerges through inscriptions as a **Veda-affirming**, **socially routed and widely diffusedVaiṣṇava system**, whose doctrinal and ritual, theological, and institutional dimensions shaped the religious landscape of early and classical India. The epigraphic record thus serves as an indispensable lens through which the historical depth, cultural vitality, and doctrinal coherence of the PāñcarātraĀgama are vividly illuminated.

This article offers a detailed exposition of the Pāñcarātra system as reflected in Indian epigraphy and analyses its historical, ritual, and theological implications.

Keywords

Pāñcarātra Āgama, Vaiṣṇavism, Epigraphy, Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa, Caturvyūha, Bhāgavata tradition, Āgamic literature, South Indian inscriptions, Gupta period, iconography

Introduction

Since the Vedic period, the Hindu religious landscape has been shaped by three principal Āgamic systems, **Vaiṣṇava**, **Śaiva**, and **Śākta**. Within the Vaiṣṇava canon, two major streams are traditionally recognised: the **Pāñcarātra** and the **Vaikhānasa** schools.

The Āgamic corpus universally structures its subject matter around four foundational categories:Jñāna, Yoga, Kriyā, and Caryā.

1. **Jñāna** denotes the metaphysical and philosophical knowledge that ultimately leads to liberation (*Mukti*).
2. **Yoga** concerns itself with contemplative disciplines that cultivate concentration and inner realisation.
3. **Kriyā** encompasses ritual action, ranging from the foundational tasks of temple construction to the elaborate procedures involved in consecrating sacred images.
4. **Caryā** pertains to the regulated performance of daily worship, observance of ritual duties, and celebration of festivals and sacred rites.

In a number of Pañcarātra Saṃhitās, the material is condensed into two principal divisions viz. the **Jñāna-kāṇḍa** and the **Kriyā-kāṇḍa**. Notably, most Āgama Saṃhitās present an extensive elaboration of the practical domains, particularly the sections on **Kriyā** and **Caryā**, which constitute the operative core of ritual life. In other words, Several Pāñcarātra Saṃhitās condense these into the **Jñāna-kāṇḍa** and **Kriyā-kāṇḍa**, though in practice the Āgamic tradition privileges *Kriyā* and *Caryā*, forming the operative core of temple ritual.

The **Pāñcarātra Āgama** presents a theologically sophisticated form of Vaiṣṇavism centred on **Vāsudeva**. According to the *Viṣṇu Purāṇa*, Viṣṇu possessing the six divine excellences (*ṣaḍguṇa*) is called as *Bhagavat*[1], and his adherents are known as *Bhāgavatas*. The central tenet of Vaiṣṇavism is **Bhakti**, a concept that receives extensive philosophical elaboration in the texts belonging to the Pañcarātra system.

For the Pañcarātrins, the supreme deity is **Vāsudeva**, and it is He who reveals the doctrines that constitute the Pañcarātra system. While traditional enumerations mention **108 Pañcarātra Saṃhitās**, manuscript surveys identify as many as **215** works[2]of which only **thirty-two** have been critically published.

A distinctive hallmark of Pañcarātra thought is the doctrine of the *Caturvyūha* (**fourfold manifestation**), Vāsudeva's emanation into Saṅkarṣaṇa, Pradyumna, and Aniruddha. It's Supreme Reality, conceived as the personal God manifesting under

different names and forms. Consequently, all four manifestations are enshrined iconically within temples, where each receives equal ritual veneration.

Although some scholars, such as van Butanen and Smith, have critiqued the system for deviating from Vedic ritualism, textual evidence, including Vedic attestations of early sacrificial practices, clearly establishes that the Pāñcarātra is **not anti-Vedic**. Its reduced emphasis on Śrauta ritual reflects not rejection but a devotional reorientation wherein affective and experiential aspects of worship supersede elaborate Vedic *Yajñas*. Hence, the tradition remains fundamentally Veda-affirming, with Bhakti serving as the principal spiritual pathway. That is to say, critics like JAB Van Butanen, Smith Daniel, etc., have argued that although the Pāñcarātra system may be rooted in the Vedic tradition, it diverges from the Vedic ritual system, particularly the *Yajñas*. However, textual evidence clearly disproves this claim. Vedic sources themselves attest that *Yajñas* were performed even at the inception of this tradition, thus invalidating the criticisms that portray Pañcarātra as anti-Vedic or dismissive of Vedic *Karma-kāṇḍa*. While Pañcarātra does not emphasise elaborate Vedic ritualism, this is not indicative of rejection; rather, it reflects its inherent devotional orientation.[3] As a tradition fundamentally centered on emotionally grounded devotion, the Pañcarātra system naturally prioritises the experiential and affective dimensions of worship such as the various forms of *Bhakti* over the technical intricacies of Vedic ritual procedures. This shift in emphasis must not be misconstrued as a distancing from Vedic practices.

The Pañcarātra is, therefore, rightly understood as Vedic in origin, with *Bhakti* serving as the principal means for devotees and spiritual aspirants to attain their highest goal.[4]

Meaning of the *Pāñcarātra*

The expression **Pāñcarātra** has long been a subject of debate among philosophers and scholars. Owing to the diversity of explanations found within Pāñcarātra literature and other scriptural sources, Western scholars like Schroder, Van Butanen and Daniel Smith etc. have often concluded that the term lacks a single, definitive meaning. While some Western scholars regard the term as indeterminate, a careful examination reveals a coherent semantic framework grounded in the tradition itself.

The *Śāntiparva* of the **Mahābhārata**[5] offers one well-known interpretation: it derives *Pāñcarātra* from a system that encompasses the **four Vedas** along with **Sāṃkhya-yoga**, declaring that this *Mahopaniṣad* was revealed directly from the mouth of Bhagavān Nārāyaṇa. Alternatively, the **Nārada Pāñcarātra** interprets *Rātra* as **Knowledge (Jñāna)**, identifying five subjects : ***mukti, bhukti, yoga, viṣaya*** (the world), and ultimately the nature of the Supreme.[6] These five make it the *Pāñcarātra* system.The

Īśvara Saṃhitā provides yet another explanation. It states that this doctrine was imparted by the Supreme Lord to five sages, Śāṇḍilya, Aupagāyana, Mauñjāyana, Kauśika, and Bhāradvāja over the course of **five consecutive nights**, which is why it came to be known as *Pāñcarātra*.[7]

The **Praśṇa Saṃhitā (II.40)** explains an etymological explanation where *Rātra* signifies ignorance and *Pañca* (from *Pac*, "to cook/destroy") as the destruction of ignorance. Thus, *Pāñcarātra* denotes *that which destroys ignorance*.

The **Agni Purāṇa** (XXIX.7) and the **Parama Saṃhitā**[8] define *Pañca* through cosmological constituents, carrying the *Pañca-mahābhūtas* (five elements), *Ahaṃkāra* (individuation), *Buddhi* (intellect), and *Avyakta* (the un-manifested) as the *Rātra*, the composite body or field of the *Puruṣa*. Hence, the system is termed *Pāñcarātra* as it explicates these fivefold foundations.

The explanation offered by the **Ahirbudhnya Saṃhitā (64.6)**, one of the most ancient and authoritative Pāñcarātra texts, is widely accepted among scholars. This text defines *Pāñcarātra* as the doctrine that recognises the five modes of divine manifestation: **Para** (transcendent), **Antaryāmin** (immanent), **Vyūha**, **Vibhava**, and **Arcā** (iconic form). A system that expounds these five manifestations is aptly designated *Pāñcarātra*.

The multiplicity of explanations reflects exegetical richness rather than semantic ambiguity. Traditionally, the doctrine is said to have originated from the **five-faced Śiva**, who revealed it to **Pārvatī**, the daughter of the mountain. It subsequently manifests as the supreme principle of **Vāsudeva**. As an Āgama, Pāñcarātra encompasses seven classical domains: creation, dissolution, deity-worship, means of attainment, expiatory rites, six-fold ritual procedures, and four forms of meditation, indicating the comprehensive nature of its theological system and therefore came to be known as the **Pāñcarātra Āgama**[9]**,** a system rich in meaning, philosophical depth, and doctrinal clarity.

Consequently, the Pāñcarātra Āgama deals with all seven of these aspects comprehensively both in depth and in detail demonstrating the extraordinary range and sophistication of its scriptural theology.

Epigraphical Presence of the Pāñcarātra

Epigraphic inscriptions engraved on stone, metal plates, pillars, and other durable materials serve as one of the most reliable sources for reconstructing the religious and cultural history of Ancient India. Beyond administrative purposes, inscriptions function as durable witnesses to ritual practices, patronage structures, doctrinal preferences, and institutional networks. As primary archaeological sources, these inscriptions offer an authentic glimpse, invaluable data on socio-political realities, ritual practices, and

theological movements into the ideological and institutional developments of the past. Their significance is therefore manifold: historically, they reconstruct chronological events; philosophically, they illuminate the changing contours of religious thought; and sociologically, they portray cultic activities, ritual practices, and devotional affiliations. Within this Epigraphical landscape, the Pāñcarātra tradition appears with striking frequency, enabling a reconstruction of its development from early Vṛṣṇi cults to a fully established Āgamic system.Within this broad domain of Indian Epigraphy, the Pāñcarātra tradition, one of the earliest and most influential Vaiṣṇava systems, finds repeated attestation, thus enabling scholars to trace its evolution from early cultic roots to a fully developed theological framework.

The Pāñcarātra Āgama, one of the most influential and philosophically nuanced traditions within Vaiṣṇavism, occupies a central position in the religious, ritual, and cultural history of the Akhaṇḍa Bhārata. While its theological foundations are articulated in the extensive corpus of Pāñcarātra Saṃhitās, its socio-historical vitality and institutional embeddedness are preserved with remarkable clarity in Epigraphical records across centuries. These inscriptions, engraved on stone, metal plates, temple walls, coins, and foundation charters, serve not merely as administrative documents but as cultural artefacts encapsulating the religious preferences, ritual systems, institutional structures, and doctrinal affiliations of the time. Epigraphy therefore becomes an indispensable medium for reconstructing the historical spread, ritual authority, and lived experience of the Pāñcarātra tradition.[10]

Inscriptions provide what may be termed "frozen moments" of cultural history precise, yet representative snapshots of the ritual, political, and theological milieu within which a tradition existed. The epigraphical presence of the Pāñcarātra is attested from the early centuries of the ADs, particularly in regions where Vaiṣṇava worship assumed an institutionalised, temple-oriented form. Numerous Tamil, Telugu, and Kannada inscriptions refer to Pāñcarātra rituals, teachers, temple functionaries, and the administrative rights accorded to them by monarchs and local elites.[11] When these records are studied alongside textual sources such as the *Jayākhya*, *Pādma*, and *Ahirbudhnya Saṃhitās*, one witnesses the translation of theological ideals into functional institutional practice.

Inscriptions from North Indian sites such as Besnagar, Ghoṣuṇḍī, Mora, Nāṇāghaṭ, and Udayagiri, as well as an extensive South Indian corpus from Pallava, Cōḷa, Hoysala, and Vijayanagara territories, document the presence of Pāñcarātra rituals, ācāryas, temple functionaries, and scriptural experts. Many explicitly prescribe that temple rites be conducted according to the *Pāñcarātra-vidhi*, attesting to its recognised ritual authority. The well-known competition between **Pāñcarātra** and **Vaikhānasa** traditions, particularly in Tirumala, Kanchipuram, Srirangam, and Melkote, is meticulously

recorded in inscriptions outlining ritual rights, revenue shares, and administrative privileges.

Several temple inscriptions explicitly state that the ritual procedures (*Kriyā*, *Paddhati*, *Utsava-vidhi*) must be executed according to the *Pañcarātra-vidhi*, thus establishing its normative authority within major Vaiṣṇava shrines.[12] The competition and coexistence between the Pāñcarātra and the Vaikhānasa traditions visible in inscriptions from Tirumala, Kanchipuram, Srirangam, and Melkote further testify to the high prestige enjoyed by the Pāñcarātra in both liturgical and administrative domains. Many records meticulously delineate the ritual duties (*Niyoga-s*) of Pāñcarātra ācāryas, their financial entitlements, and the shares (*Paṅkati-s*) they received in temple revenues, indicating the formal institutionalisation of this Āgamic system.[13]

Epigraphs attest to temple-based scholastic institutions where Pāñcarātra Saṃhitās were recited, preserved, and taught. Grants supported Brahmins, Bhāgavatas, and Āgama-paṇḍitas responsible for ritual supervision, theological instruction, and temple management, demonstrating that Pāñcarātra temples functioned as vibrant centres of learning. Several inscriptions describe the Pāñcarātra as *Vaidika-sammata* or *samyak-āgama,* publicly asserting its consonance with Vedic norms, an important theological and political claim within a milieu occasionally critical of Āgamic traditions.

Another salient feature of Pāñcarātra Epigraphy is its reflection of the tradition's inclusive devotional culture. Donations came from a wide spectrum of society including kings, feudatories, merchant guilds, women-patrons, and local communities.[14] The inscriptions record contributions of musicians, dancers, cooks, artisans, and temple servants, whose roles were integrated into the broader ritual-thematic framework of Pāñcarātra worship. This suggests that while the tradition is grounded in complex theological principles such as *Vyūha*, *Mantra*, and *Arcā*, its lived religious culture remained accessible and participatory.

Theological self-understanding also emerges clearly in epigraphs that describe the Pāñcarātra as *Vaidika-sammata* or *Samyak-āgama*, affirming its consonance with Vedic principles.[15] These declarations, often engraved in temples patronised by powerful dynasties, indicate an awareness of the need to articulate the āgama's legitimacy within the broader Brahmanical framework, especially in light of classical debates concerning the Vedic or non-Vedic status of Āgamic traditions. Such inscriptions functioned not only as religious affirmations but also as political assertions designed to stabilise ritual authority in public space.

Taken collectively, the Epigraphical presence of the Pāñcarātra Āgama forms a historically continuous archive preserving the dynamic evolution of this Vaiṣṇava

system. It reveals how complex theological doctrines were embodied in temple ritual, administrative norms, and social structures, shaping the lived religious experience of large communities across centuries. Through inscriptions, one perceives the Pāñcarātra not as a static scriptural system but as a vibrant, socially embedded, and politically endorsed tradition whose influence extended from textual theory to everyday devotional life. Epigraphy thus stands as one of the most reliable witnesses to the enduring cultural and spiritual significance of the Pāñcarātra across Indian history.

These Epigraphs, often terse yet authoritative preserve invaluable data about sectarian developments, ritual practices, patronage networks and the diffusion of theological ideas. From a religio-political and socio-philosophical perspective, they provide direct, contemporaneous testimony that textual sources alone cannot offer. Within this vast corpus, references to Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa, and associated Vṛṣṇi hero figures central to the Pāñcarātra system are of exceptional importance for tracing the early formation and institutional consolidation of this tradition.[16]

Several inscriptions from the second and first centuries BC attest to the worship of Vāsudeva and Saṅkarṣaṇa in shrines dedicated specifically to them, the earliest deities associated with the Vṛṣṇi cult, which later became foundational to the Pāñcarātra system. The most celebrated among these is the **Besnagar (Heliodorus) Pillar Inscription** of the 2nd century BC. This inscription identifies Vāsudeva with Kṛṣṇa and records a **Garuḍa-dhvaja** in honour of **Bhagavān Vāsudeva**.[17] erected by Heliodorus, son of Dion, and a native of Takṣaśilā, who served as the envoy of the Indo-Greek king Antialkidas at the court of King Kāśīputra Bhagabhadra. Significantly, Heliodorus describes himself as a *Bhāgavata*, providing the earliest definitive epigraphic evidence of the Bhagavata-Vāsudeva[18] cult and its appeal beyond Indian ethnic boundaries. It stands as the first concrete inscriptional proof of the popularity and prestige of early Vaiṣṇavism among both Indians and foreigners, demonstrating its trans-regional and cross-cultural appeal well before the Christian era.

A first-century BC inscription gives precedence to **Saṅkarṣaṇa** in the dvandva compound *Saṅkarṣaṇa-Vāsudevabhyām*, and designates both deities as *Bhagavata* and *Sarveśvara* (Lord of All),[19] demonstrating the well-established pairing of the two divinities in public worship and their recognition as supreme deities. This reflects the early theological elevation of Saṁkarṣaṇa within the Vṛṣṇi-Pāñcarātra framework.

The **Nāṇāghaṭ Cave Inscription** of Queen Nāyanikā (late 1st century BC) invokes them with the phrase *Namo Saṅkarṣaṇa-Vāsudevānām*[20] indicating the joint veneration of these deities. Nāganika's royal lineage, the Sātavāhana ruler, is associated with several

Vedic sacrifices, including the *Aśvamedha*, suggesting that devotion to these deities was integrated into elite religious life without contradiction to Śrauta ritualism.

Another inscription of the 1st century BC discovered at **Ghoṣuṇḍī (Rajasthan)** records the construction of a stone enclosure (*Nārāyaṇa-vāṭikā*) for the images of Vāsudeva and Saṅkarṣaṇa. Remarkably, the donor was a Śaiva devotee who performed the *Aśvamedha*,[21] indicating a remarkable degree of religious interaction and mutual influence between Vaiṣṇavas and Śaivas at this early stage. This reflects sectarian syncretism and the broad appeal of the Vāsudeva–Saṅkarṣaṇa cult even among non-Vaiṣṇava ritualists.

An important inscription from **Mora (near Mathurā), 1st century AD** records the installation of images of the five Vṛṣṇi heroes (*pañcavīrāḥ*) by a woman named Toṣā.[22] Lūders identified these heroes as Baladeva, Akrūra, Anādhṛṣṭi, Saraṇa, and Vidūratha using Jain sources.[23] However, J.N. Banerjee, assisted by a passage from the *Vāyu Purāṇa*, identified them instead as Baladeva, Vāsudeva, Sāmba, Pradyumna, and Aniruddha, the core figures of later Pāñcarātra theology,[24] precisely the figures connected with the Caturvyūha and its extended emanational lineage. This inscription confirms the prominence of the Vṛṣṇi heroes in sacred installations and their association with early Vaiṣṇava cults.

A noteworthy inscription from **Burhikhar (Bilaspur district, Madhya Pradesh)**, dated to the 1st century BC, records that a lady named Prajāvatī donated a four-armed image of Bhagavān Vāsudeva. The deity is described as *Caturbhuji Bhagavān*, holding the conch and mace in his additional hands, while the primary hands are joined in *añjali mudrā*, representing devotion an early articulation of the iconic and ritual motifs later standardised in Pāñcarātra iconography.[25] This inscription demonstrates not only the early presence of the four-armed iconography but also the personal piety and agency of women in the spread of the cult.

A later but significant inscription from **Udayagiri** (402 AD) refers to the reconstruction of a *Bhāgavata* shrine, testifying to the sustained worship of Pāñcarātra-related deities well into the Gupta era.[26]

From the fourth century AD onward, epigraphic references to Vaiṣṇavism and specifically to Bhagavata/Pāñcarātra elements become increasingly abundant, reflecting the expanding influence of the Pāñcarātra tradition. Gupta-period inscriptions frequently describe the grandeur of Vaiṣṇava temples, reflecting the flourishing and imperial patronage of the tradition.

The **Gadhwa Stone Inscription (468 AD)** mentions the installation of an image of *Anantasvāmin*, identified with the serpent-deity *Śeṣa-Saṅkarṣaṇa*, showing the theological integration of Saṅkarṣaṇa with the cosmic serpent motif.[27]

An inscription from the late 15th century AD near **Gauḍhī(Guwahati)** refers to the construction of a cave temple dedicated to *Bhagavat Balabhadra Svāmin*,[28] again linking the Pāñcarātra and attesting to the spread of early Vaiṣṇava cults in northeastern India as well.

Numismatic iconography evidence also corroborates this spread. Coins from Taxila bear the emblem of Saṅkarṣaṇa[29] and a coin of Viṣṇumitra of the Pāñcāla line (1st century AD) depicts a figure of Viṣṇu,[30] suggesting that Vaiṣṇava iconography was current in political symbolism.

Several Gupta and post-Gupta inscriptions, including those of **Pravarasena II**, **Skandagupta**, and the copperplate grant of **Prabhāvatī Gupta** (daughter of Candragupta II), use titles such as *Bhāgavata*, *Parama-bhāgavata*, and *Atyanta-bhagavad-bhakta*. These designations unmistakably point to the influence of Bhagavata-Pāñcarātra doctrines at the highest echelons of political power.[31]

In South India, inscriptions from the 9th to 11thcenturies mention Vaikhānasa priests and their interactions with powerful local patrons, some of whom may have been following Pāñcarātrika practices. The competition between the Pāñcarātra and Vaikhānasa traditions is evident in the texts, which suggests both were prominent enough in temple life to be vying for patronage.

Inscriptions from ancient Cambodia (Khmer inscriptions) offer extensive and early documentation of the Pāñcarātra system. These Sanskrit inscriptions reveal the influence of Pāñcarātra philosophical and theological conceptions and specifically mention the "five timely observances"(*Pañcakāla*), demonstrating the wide geographic reach and practical application of the tradition beyond the Indian subcontinent.

Temple inscriptions often detail provisions made for worship, specific offerings (*Havis*), and the duties of priests (*Devakarman*), which align with the organisational and ritual rules prescribed in the Pāñcarātra and other Āgamic texts.

A notable Kushana seal-matrix attributed to Huviṣka depicts a four-armed Viṣṇu carrying *śaṅkha*, *cakra*, *gadā*, and a ring-like object (in place of the lotus), illustrating the emergence of stable iconographic conventions associated with CaturbhujaViṣṇu. This device anticipates later Pāñcarātra iconography.[32] Kumāra Gupta I is also described as a devoted follower of the Bhagavata tradition, as evidenced by the *Bhītaṛī and Gadhwa inscriptions*,[33] both of which open with invocations to Viṣṇu and style the king as *Parama-Bhāgavata,* indicating Gupta royal endorsement of Bhagavata-Pāñcarātra traditions.

Archaeological excavations at Ahicchatra, Bhita, Rājghāṭ, Basarh, and Pāhāṛpur have yielded terracotta seals depicting Viṣṇu, Lakṣmī, Sūrya, and their emblems. Several seals bear the Vaiṣṇava formula *oṁ namo bhagavate vāsudevāya*, confirming that the theological vocabulary associated with Pāñcarātra worship was already well established.[34]

Conclusion

Last but not least, these inscriptions, coins, seals, and archaeological finds provide compelling evidence that the Pāñcarātra system was not merely an abstract theological construction but a vibrant, institutionally rooted religious movement. The cumulative epigraphic record reveals that the Pāñcarātra tradition was historically vibrant long before the crystallisation of its āgamic literature. The inscriptions not only confirm the antiquity of Vāsudeva and Saṁkarṣaṇa worship but also document the evolution of iconography, the formation of the Vyūha doctrine, and the broad acceptance of Bhāgavata-Pāñcarātra thought across social strata and political powers. These findings decisively establish the Pāñcarātra as a historically grounded and widely diffused religious system of early and classical India. By the early centuries BC, it had already taken recognisable shape, and by the Gupta era, it had achieved widespread prestige, sophisticated iconography, and extensive royal patronage. The epigraphic record thus demonstrates that the Pāñcarātra was a fully developed and socially influential system during the periods represented by these inscriptions.

Bibliography

Aiyangar, S. Krishnaswami (1919), *Sources of Vijayanagar History*, University of Madras.

Archaeological Survey of India, *Annual Report on South Indian Epigraphy,* Various years

Archaeological Survey of India, *EpigraphiaIndica*, Multiple volumes

Archaeological Survey of India, *South Indian Inscriptions*, Multiple volumes

Bhattacharya, Gouriswar (1980) *Pāñcarātra and Early Vaiṣṇavism*, In *Origin and Development of the Vaiṣṇava Religion*, edited by N.N. Bhattacharyya, MunshiramManoharlal.

Hudson, Dennis. *The Body of God: An Emperor's Palace for Krishna in Eighth-Century Kanchipuram*. Oxford University Press, 2008

Pandey, R(1969), *Hindu Saṁskāras and Rituals in Temple Worship*, MotilalBanarsidass, Delhi

Rastogi, N.V (1995), *The Kṛṣṇa Worship and the Pāñcarātra Tradition*. Rashtriya Sanskrit Sansthan.

Sastri, K.A. Nilakanta (1955) *The Cōḷas*, University of Madras.

Schneider, Senta (2000), *The Pāñcarātra Saṃhitās: A Historical and Doctrinal Study*, Austrian Academy of Sciences Press.

Shastri, B.N (1978), *Studies in South Indian Temple Inscriptions*, Banaras Hindu University

Sircar, D. C. *Indian Epigraphical Glossary*. Motilal Banarsidass, 1966.

Subbarayalu, Y (2012), *South India under the Cholas*, Oxford University Press.

Younger, Paul (1995), *The Home of Dancing Śivan: The Traditions of the Pāñcarātra Āgama*, Oxford University Press.

Endnotes

1. ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यं वीर्यं तेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥ 6.5.79
2. Schroder, *Introduction to Pāñcarātra and Ahirbudhnya Samhitā.,* P. 4-13.
3. SB 5.5.3.1/AB 2.1.6
4. Bhatt, S.R., *Philosophy of Pañcaratra*, p. 12
5. इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् साँख्ययोगकृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्
   नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत्पुनः। MBH *Santiparva* 326.100
6. रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधस्मृतम्। NP chap 339

7. पञ्चयुधाशास्ते पञ्च शण्डिल्यश्चौपगायनः। मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः।।
पञ्चापि पृथगेकैकादिवारात्र जगत्प्रभुः। अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः।
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते।। IS, 21.519, 532-33
8. महाभूतगुणाः पञ्च रात्रयो देहिनः स्मृताः। तद्योगादिनिवृत्तेर्वा पञ्चरात्रमिति स्मृतम्।।
भूतमात्राणि गर्वश्च बुद्धिर्व्यक्तमेव च। रात्रयः पुरुषश्चोक्ताः पञ्चरात्रं तत्स्मृतम्।। *Paramasamhità* 1, 39-41
9. आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते।। *Sabdakalpadruma* p. 177
10. D.C. Sircar, *Indian Epigraphical Glossary*, Motilal Banarsidass, 1966.
11. South Indian epigraphs containing references to Pāñcarātra rituals are catalogued in South Indian Inscriptions, *Archaeological Survey of India* (multiple volumes), esp. Vol. II, XII, XVII.
12. K.A. Nilakanta Sastri, *The CōḶas*, University of Madras, 1955, pp. 433–445; also *EpigraphiaIndica*, Vol. IX, XIV.
13. S. Krishnaswami Aiyangar, *Sources of Vijayanagar History*, University of Madras, 1919.
14. Burton Stein, *Peasant State and Society in Medieval South India*, OUP, 1980.
15. Y. Subbarayalu, *South India under the Cholas*, OUP, 2012, pp. 211–214.
16. Lüders, *Mathurā Inscriptions*, no. 148; J.N. Banerjee, *The Development of Hindu Iconography* (Calcutta, 1956).
17. H. Lüders, *EpigraphiaIndica* Vol. X, "The Heliodorus Pillar Inscription."
18. J. Gonda, *Aspects of Early Viṣṇuism*, pp. 44–47.
19. Lüders, no. 148.
20. *EpigraphiaIndica,* Vol. V: The Nāṇāghāṭ Cave Inscription.
21. Ghoṣuṇḍī Inscription: *EpigraphiaIndica*, Vol. XXIV.
22. *Corpus Inscriptionum Indicarum* (CII), Vol. III.
23. Mora Well Inscription, *Mathurā Inscriptions*, no. 14.
24. Lüders, ibid.
25. Banerjee, *Hindu Iconography*, pp. 221–223.
26. Udayagiri Inscription of 402 CE: CII, Vol. III.
27. Gadhwa Stone Inscription: CII, Vol. III.
28. Gauhati Cave Temple Inscription, *Epigraphia Indica*, Vol. XIX.
29. Rapson, *Catalogue of the Indian Coins in the British Museum*, Taxila Series.
30. Allan, *Catalogue of Coins of Ancient India*, British Museum.
31. Fleet, *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Gupta Inscriptions
32. Cunningham, *Coins of the Kuṣāṇas*.
33. Bhītari Pillar Inscription; CII, Gupta period.
34. Archaeological Survey of India (ASI) Reports, various volumes

Professor and Head of the Department
Department of Sanskrit
St. Stephen's College, Delhi-110007
Contact Details: 9818466653
pankajkmishra@ststephens.edu

The Cultural Imprint of the Pāñcarātra Āgama

Sakshi Kumari

Abstract

The Pāñcarātra Āgama, one of the most influential currents within the Vaiṣṇava scriptural tradition, has played a formative role in shaping the religious and aesthetic culture of India. Far beyond its ritual and theological foundations, the Pāñcarātra system has left a deep and enduring imprint on temple architecture, iconography, the performing arts, devotional music, and literary expression across regions and centuries.

A distinctive iconographic heritage emerges from the Pāñcarātra corpus, as evidenced in sculptural traditions throughout the subcontinent. Canonical Saṁhitās, particularly the *Sāttvata*, *Pauṣkara*, and *Jayākhya,* describe complex forms such as the Caturviṁśatimūrti, the Vaikuṇṭha Caturmūrti, and various multi-armed manifestations of Viṣṇu. These visual programmes, often accompanied by panels of the Vṛṣṇi-vīras, demonstrate a sophisticated theological imagination in which cosmology, mythology, and ritual aesthetics are intricately woven together.

The influence of the Pāñcarātra is equally evident in the sphere of music and devotional performance. Its emphasis on bhakti contributed to the evolution of liturgical singing traditions, *Kīrtana*, *Nāmasaṁkīrtana*, and temple-based musical repertoires. The compositions of the *Āḻvārs* in Tamil Nadu, the *Bargeet* of Śaṅkaradeva in Assam, the *Bhajans* of Nārsī Mehtā in Gujarat, and the *Padas* of Sūrdāsa and Mīrābāī in North India collectively illustrate how Pāñcarātra-inspired Vaiṣṇava devotion transcended linguistic and regional boundaries.

Parallel developments unfolded in Indian dance and dramatic traditions. Forms such as Bharatanāṭyam, Kathak, Manipuri, Mohiniyāṭṭam, and the *Rāsalīlā* of Braj draw extensively on the Pāñcarātra's theological motifs, narrative structures, and iconographies centred on Kṛṣṇa-Vāsudeva as the supreme aesthetic and divine ideal. Literary culture, both poetic and prose, likewise bears abundant testimony to the enduring presence of the Caturvyūha doctrine and the numerous mythic-theological forms articulated in Pāñcarātra texts.

Bringing together archaeological evidence, epigraphic records, and textual sources, this study examines the multidimensional impact of the Pāñcarātra on India's religious arts. It further highlights the tradition's significant role in shaping classical Vaiṣṇava schools, especially the Viśiṣṭādvaita system of Rāmānuja. Even today, the Pāñcarātra remains an operative liturgical framework in temples across India and in global diaspora communities. Overall, this paper argues that the Pāñcarātra Āgama is not merely a ritual or doctrinal system, but a foundational cultural force that continues to mould the religious imagination and artistic creativity of Bhāratavarṣa.

This paper examines the multifaceted impact of the Pāñcarātra system on Indian art and culture with specific focus on temple architecture, consecration rituals, iconography, music, dance-drama traditions, and literary production. Drawing on archaeological findings, epigraphic evidence, iconographic texts such as the *Sāttvata*, *Pauṣkara*, and *Jayākhya Saṁhitās*, and later devotional developments, this study demonstrates that the Caturvyūha theology and ritual system of the Pāñcarātra left an indelible mark on India's religious arts. The article also highlights how this Āgamic tradition informed the evolution of classical Vaiṣṇava schools, particularly the Viśiṣṭādvaita of Rāmānuja, and continues to be an operative liturgical system in India and diaspora communities today.

Keywords: *Pāñcarātra, Caturvyūha, Iconography, Temple Architecture, Vaiṣṇavism, Bhakti, Indian Culture.*

Introduction

The Pāñcarātra tradition occupies a distinctive and enduring position within the vast and multifaceted landscape of Hindu religio-philosophical thought. As one of the two principal Vaiṣṇava Āgamic systems, alongside the Vaikhānasa, it has shaped the ritual imagination, temple culture, and theological developments of Vaiṣṇavism for more than two millennia.

While the Pāñcarātra corpus is traditionally regarded as a divine revelation imparted by Nārāyaṇa to the sages during the primordial nocturnal cycle (*Pañcarātra*), its historical formation reflects a sophisticated confluence of Vedic, Tantric, Purāṇic, and regional currents of religious experience. The system elaborates an intricate framework encompassing ontology, cosmology, *Mantra-śāstra*, iconography, temple construction, ritual procedure (*Kriyā*), and devotional praxis, thereby offering a comprehensive and authoritative paradigm for the worship of Viṣṇu and his emanations.

Although the theological and ritual foundations of the Pāñcarātra have been preserved in its vast textual corpus, comprising *Saṃhitās*, *Tantras*, and exegetical

commentaries, the epigraphical record provides an equally compelling lens for tracing the historical diffusion and socio-cultural integration of the tradition. Inscriptions, by virtue of their public, durable, and institutional character, illuminate not only the geographical reach of Pāñcarātra influence but also its deep embedded-ness in royal patronage, temple economy, craft guilds, land-grant networks, and the religious practices of local communities. Copper plates, stone slabs, charters, and temple wall inscriptions preserve valuable references to *Pāñcarātra-śāstra*, *Bhāgavata-ācāryas*, Pañcāyatana-based rituals, consecration ceremonies, and the installation of icons according to Pāñcarātra prescriptions. Such material evidence attests to the presence of Pāñcarātra liturgy in major sacred centres including Kāñcī, Śrīraṅgam, Melkote, Tirumala, and various regions of Andhra, Karnataka, Odisha, and Nepal.

The significance of these epigraphical sources lies not merely in their ability to corroborate textual narratives, but in their capacity to reveal the lived history of religious traditions. Through them, one observes the dynamic interaction between doctrinal authority and regional adaptation, between the theoretical constructs of the *Saṃhitās* and their practical institutionalisation within temples and local communities. The inscriptions shed light on the role of kingship in legitimising Pāñcarātra priesthoods, the dependence of temple rituals on Āgamic norms, and the enduring influence of the tradition in shaping Vaiṣṇava identity across historical periods.

This study seeks to synthesise textual, historical, and inscriptional evidence to present a coherent and critically grounded account of the Pāñcarātra Āgama and its epigraphical footprint. By examining the interplay of theology, ritual practice, and public record, it aims to contribute to a nuanced understanding of how the Pāñcarātra system evolved from a scriptural canon into a living religious institution, intricately woven into the cultural and devotional fabric of pre-modern India.

Impact of Pāñcarātra on Indian Art and Culture

The Pāñcarātra's distinctive theological formulations, most notably the doctrine of the Caturvyūha and the canonical authority of the Pāñcarātra Āgamas, have become integral to the evolution of temple ritual, iconography, music, dance, drama, and literary expression across Bhāratavarṣa. Its cultural imprint is vast and historically layered, requiring a panoramic exploration of its multiple artistic and ritual domains.

1. Temples and architectural culture

Archaeological and epigraphic evidence unequivocally demonstrates that the Caturvyūha deities Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa, Pradyumna, and Aniruddha enjoyed immense

popularity in early Indian religious life. Excavations at Besnagar and Pawāyā (in the region of ancient Gwalior) have yielded *fan-palm* capitals and associated artefacts suggest the existence of shrines dedicated to Saṅkarṣaṇa and Vāsudeva as early as the second and first centuries BC. These findings constitute some of the earliest material testimonies to structured Vaiṣṇava temple worship and attest to the antiquity of early Pāñcarātra-based cults.

Further illumination comes from the Gadhwā inscription, which chronicles a close assimilation between Saṅkarṣaṇa and Vāsudeva worship. The deity *Antasvāmin*, identified with Saṅkarṣaṇa, is shown to be nearly indistinguishable from Vāsudeva-Viṣṇu, with the only distinction lying in the sequence of the four emblems (*śaṅkha, cakra, gadā,* and *padma*). This iconographic subtlety was eventually absorbed into a unified Vaiṣṇava visual vocabulary.

Similarly, the Sahasrabāhu (Sāsa Bahu) temple at Gwalior provides another significant example of theological synthesis. Here, the sculptural programme merges elements of Viṣṇu, Narasiṁha, and Lakṣmī, mirroring the Pāñcarātra conceptualisation of Vaikuṇṭha-Vāsudeva as a composite form embodying the four emanations. The temple inscription's six references to Aniruddha unmistakably point to its Pāñcarātra orientation and illustrate the explicit reception of Pāñcarātra theology in medieval temple design and consecration practices.

Additional corroboration comes from the celebrated Besnagar Garuḍa pillar inscription, which mentions a shrine dedicated to Vāsudeva. At Nāgari, Bhandarkar's excavations revealed structural traces indicative of wooden constructions, suggesting that the earliest shrines to Saṅkarṣaṇa and Vāsudeva were possibly built in perishable materials, further reinforcing the early antiquity of Caturvyūha worship.[1]

The Pāñcarātra tradition also codified sophisticated rules for temple construction and image installation. It prescribes that the supreme deity may be represented in standing, seated, or reclining postures corresponding respectively to the first, second, and third storeys of the temple structure. Temples such as those at Tirukkottiyur, Uttiramerūr, Madurai, and the Parmēśvara-Viṇṇagaram at Kāñcipuram clearly embody these ritual specifications.[2]

Moreover, the three foundational Saṁhitās-*Sāttvata*, *Pauṣkara*, and *Jayākhya* continue to guide worship practices in prominent South Indian temples. The *Sāttvata* Saṁhitā governs liturgy at Melukote (Yadugiri), the *Pauṣkara* Saṁhitā at Śrīraṅgam, and the *Jayākhya* Saṁhitā at Kāñcipuram.

The influence of the Pāñcarātra extends well beyond South Asia. Modern temple complexes such as the Birla Mandir, Yadagirigutta (Andhra Pradesh), and the

Venkateśvara Temple in Pittsburgh (USA) explicitly base their ritual cycles on the Pāñcarātra Āgamas and the corpus of 108 Saṃhitās. The adoption of Pāñcarātra protocols in diaspora communities underscores the tradition's remarkable adaptability and its central role in shaping contemporary global Vaiṣṇava identity.

2. Iconography and visual representation

Pāñcarātra iconography represents one of the earliest and most systematic attempts within the Hindu religious imagination to conceptualise and categorise the sacred form of Viṣṇu. The tradition establishes a hierarchical visual grammar beginning with the anthropomorphic manifestations of the Caturvyūha and extending to the twenty-four Caturviṁśatimūrtis, each corresponding to one of the twenty-four names of Viṣṇu in the *Viṣṇusahasranāma*. These twenty-four forms, typically depicted in *Sthānaka* (standing posture), are almost identical except for the meticulous variation in the arrangement of the four emblems, *Cakra, śaṅkha, gadā,* and *padma,* thus creating a sophisticated semiotic system based on the sequencing of attributes.

A particularly striking material testimony to this iconographic vision is found at Revati Kuṇḍa in Junāgaḍh, where twenty distinct forms of Viṣṇu are carved across three vertically organised niches, an arrangement unparalleled in the history of Indian art. These images exhibit a highly orchestrated spatial logic, where the conceptual categories of Vyūhaand Avatāra are visually encoded through deliberate variation in posture, attributes, and architectural placement.

The Pāñcarātra Saṃhitās also describe several complex, multi-armed and multi-faced forms. Among these, the six-armed Viṣṇu recorded in the *Sāttvata Saṁhitā* finds clear sculptural expression in Gujarat.[3] Equally significant is the celebrated Vaikuṇṭha Caturmūrti, integrating four faces, Vaikuṇṭha, Narasiṁha, Varāha, and Kapila.[4] The *Jayākhya Saṁhitā* provides the earliest extant textual description of this composite icon. Sculptures of this form, preserved across Gujarat, Maharashtra, and the Deccan, often depicted enthroned on Garuḍa in *lalitāsana,*[5] demonstrate how Pāñcarātra theological constructs were translated into temple image-making, thereby rendering intricate metaphysical doctrines accessible to diverse audiences.

Further iconographic evidence includes the ten-armed forms of Viṣṇu mentioned in the *Sāttvata Saṁhitā*, which find visual counterparts in sculptures from Kaira (Gujarat). Panels from Maharashtra, notably at *Ellora* and *Paṭāleśvara,* and the remarkable depiction of the five Vṛṣṇi heroes (Saṅkarṣaṇa, Vāsudeva, Pradyumna, Sāmba, and Aniruddha) housed in the State Museum, Hyderabad, affirm both the geographical spread and the cultural prestige of the Pāñcarātra tradition.

Taken together, this corpus reveals an iconographic system deeply informed by the theological vision of the Pāñcarātra and disseminated widely across the Indian subcontinent. References to eight- and ten-armed Viṣṇu images in both the standard iconographic manuals and the Pāñcarātra Saṃhitās confirm that these sculptural types were not isolated regional innovations but formed part of a coherent, doctrinally grounded visual tradition.

3. Music and the Sonic Imagination in the Pāñcarātra Tradition

Within the Pāñcarātra framework, music (*Saṅgīta*) functions not merely as ornament but as a primary medium of devotion and remembrance of the divine name, rooted in the metaphysical importance of *Praṇava* (*Om*) and its association with Viṣṇu's sustaining energy. While primarily philosophical and ritualistic, the Pāñcarātra contributed significantly to the devotional musical traditions that flourished in medieval India. Since Viṣṇu identified with the cosmic *Omkāra* is conceived as the source of *Nāda*, music becomes a direct mode of communion with the supreme deity. Accordingly, musical experience becomes a direct mode of communion with Viṣṇu, allowing devotees to participate in the divine rhythm that animates the cosmos.

Although the Pāñcarātra corpus is primarily philosophical and ritualistic, its theological concepts profoundly shaped the devotional musical traditions that flourished across medieval India. The Bhakti movement, overwhelmingly Vaiṣṇava in orientation, produced a rich body of musical literature centred on Viṣṇu and his incarnations. These traditions drew deeply upon Pāñcarātra notions, especially the identification of Vāsudeva with Kṛṣṇa, Nārāyaṇa, and Rāma, enabling diverse regional forms of devotion to converge within a shared theological horizon.

In South India, the *Nālāyira Divya Prabandham* of the Āḻvārs, later curated and systematised by Nāthamuni, became foundational to temple liturgy.[6] Many temples that follow Pāñcarātra Āgamas continue to incorporate the Prabandham in their daily and festival worship, demonstrating how musical recitation and Āgamic ritual became mutually reinforcing dimensions of liturgical practice.

In North India, *Prabandha* literature, *Bhajans*, and *Kīrtanas* by poets such as Narsinh Mehta, Sūrdās, Kabīr, and Mīrābāī reflect a devotional orientation consistent with the Pāñcarātra's emphasis on Vāsudeva as the Supreme Person. In the Tamil South, the Āḻvārs' Nālāyira Divya Prabandham, organised and systematised by Nāthamuni, became the liturgical soundtrack of Pāñcarātra temples, where their hymns continue to be sung as part of daily and festival worship.

In the eastern regions, particularly Assam, the Vaiṣṇava musical traditions shaped by Śaṅkaradeva and Mādhavadeva, including *Bargeet*, *Harījaraṇa Ghoṣā*, and the

institution of *Nāma-saṅkīrtana,* became central to the ritual life of *Nāma-ghars*.[7] Here too, the chanting of the divine name and the devotional musical pedagogy of the monasteries reflect a theological sensibility aligned with Pāñcarātra conceptions of Viṣṇu as the singular supreme deity.

Across these diverse contexts, instrumental music, bells, conches, drums, and other temple instruments, plays an essential role in shaping the affective texture of ritual. Such sonic environments evoke what later Vaiṣṇava theologians describe as *Divyonmāda*, an ecstatic "divine intoxication" in which the boundaries between ritual performance and inner devotion dissolve, enabling the devotee to experience an immediate and intimate connection with the chosen form of Viṣṇu.

Taken together, these developments reveal that the Pāñcarātra tradition not only offered a metaphysical rationale for sacred sound but also decisively shaped the devotional musical cultures of pre-modern India, creating a vast and vibrant sonic universe centred on the worship of Viṣṇu.

4. Dance, drama and narrative performance

Dance and drama thus became vehicles of theological communication, translating complex metaphysical ideas, such as the multiplicity of divine forms, the dynamics of Avatāra, and the intimacy of bhakti, into sensory, participatory experiences.

The aesthetic framework of these traditions, grounded in Nāṭyaśāstra theories of rasa, aligns closely with Pāñcarātra emphases on *ānanda, līlā,* and the accessibility of the divine through embodied emotion. When the dancer assumes the role of Kṛṣṇa, Rāma, Narasiṃha, or Mohinī, the stage becomes a ritual space wherein spectators momentarily transcend their individual identities and participate in a shared devotional consciousness.

Moreover, temple-centric dance ecosystems, such as the Devadāsī traditions of South India or the Vaishnava performance halls of the East and Northeast, demonstrate that Pāñcarātra influence extended beyond iconography and ritual manuals into the very grammar of embodied worship. The intertwining of music, gesture, costume, and narrative with liturgical rhythms reveals a culture in which aesthetic experience and ritual devotion were mutually constitutive.

In this way, the Pāñcarātra did not merely shape religious thought; it animated cultural performance, ensuring that philosophical doctrines found lasting expression in the living arts of India. Through dance and drama, the Pāñcarātra's theological universe became a shared emotional world, felt, enacted, and collectively remembered across centuries.

The concept of dance and Drama as a medium for expressing the jīvātman's yearning for union with the Paramātman is articulated both in Nāṭyaśāstra aesthetics and

in Pāñcarātrashaped temple culture, where dance becomes a ritual offering rather than purely secular entertainment.

The impact of Pāñcarātra influence is powerfully visible in India's classical dance and dramatic traditions. Forms such as Bharatanāṭyam, Kathak, Manipuri, and Mohiniyāṭṭam frequently dramatize narratives centered on the līlās of Viṣṇu and his incarnations particularly Kṛṣṇa-Vāsudeva.

Mohiniyāṭṭam, associated with Viṣṇu's *Mohinī* avatāra, reflects direct mythological inspiration from the churning of the ocean (*Samudramanthana*) episode, exemplifying how Pāñcarātra centred narratives supply etiological myths for regional dance forms and frame them as embodiments of divine beauty and enchantment. Similarly, the Rāsa-līlā traditions of Braj and Manipuri enact the *Rāsa Pañcādhyāyī* of the *Bhāgavata Purāṇa*, expressing the theological aesthetics of divine love centred on Kṛṣṇa. Village and temple theatre traditions such as the Nṛsiṃhacentred bhagavata mela at Melattur, the Rāsalīlā of Vraja, and various Vaiṣṇava dancedramas enact stories of Viṣṇu and his avatars, with the term "Bhāgavata" itself evoking the same devotional milieu that nurtured Pāñcarātra exegesis.

Descriptions of Rāsalīlā in texts like the Bhāgavata Purāṇa and Harivaṃśa, while not exclusively Pāñcarātra, resonate with its theology by presenting Kṛṣṇa-Vāsudeva as the single rasa manifesting in multiple forms to relish infinite modes of loving exchange with devotees. These performative traditions embed Pāñcarātra ideals into public religious experience, ensuring that even lay audiences encounter complex Vaiṣṇava theology through embodied art rather than scholastic treatises alone. Collectively, these forms illustrate how Pāñcarātra conceptions of God, devotion, and divine embodiment migrated from temple ritual into the expressive languages of movement, gesture, and dramatic narrative.

5. Prose, poetry and literary culture

The literary influence of the Pāñcarātra is equally profound. Classical and medieval Sanskrit literature abounds with eulogies of the Caturvyūha and their manifold forms Vāsudeva, Kṛṣṇa, Nārāyaṇa, Hari, Rāma understood as expressions of a single supreme reality. Works of kāvya, campū, purāṇic narratives, and regional vernacular literatures consistently draw on Pāñcarātra conceptual and theological motifs. Numerous anthologies draw on Pāñcarātra cosmology, soteriology and ritual vocabulary, often without explicit sectarian labelling, thereby diffusing its concepts across the broader literary field.

Theological prose works, commentaries and narrative texts produced within different Vaiṣṇava lineages frequently cite or presuppose Pāñcarātra Saṃhitās, treating

them as authoritative alongside the Veda, Upaniṣads and Gītā. In this way, Pāñcarātra has contributed not only thematic content (divine names, forms, abodes and modes of worship) but also conceptual frameworks for discussing devotion, grace and the relationship between the finite self and the infinite Brahman.

This inter-textual presence confirms the cultural prestige the tradition enjoyed across linguistic and geographical spheres.

Influence of Pāñcarātra on Schools of Vaiṣṇavism

The impact of Pāñcarātra on formal Vaiṣṇava Vedānta is particularly evident in the systems of Rāmānuja, Madhva, Nimbārka, Vallabha and Caitanya, who, despite doctrinal differences, converge in granting these Āgamas significant scriptural standing. Rāmānuja's Viśiṣṭādvaita Vedānta is closely aligned with Pāñcarātra in doctrine and praxis: South Indian Śrī Vaiṣṇava temples structure their daily worship, festival cycles and domestic rituals according to Pāñcarātra manuals, and Rāmānuja's own Nityagrantha reflects detailed borrowing from texts such as the Lakṣmītantra and Ahirbudhnya Saṃhitā.

The discipline of the paramaikāntin devotee one whose exclusive and decisive knowledge (ekānta) of God as both means and goal precludes reliance on any other deity or path is characteristic of both Pāñcarātra and Śrī Vaiṣṇava religious ethics. Practices such as *bhūta-śuddhi, hrdyāga* or *Mānasayāga* preceding external worship, the specific rules of prostration in different subtraditions, and the observance of festivals like Rāmanavamī and Narasiṃhajayantī according to *Āgamic tithi* considerations all point to a deep liturgical integration of Pāñcarātra norms.

Rāmānuja accepted the Pāñcarātra as a legitimate śāstra, arguing for its Vedic alignment in his Śrībhāṣya. For the Śrīvaiṣṇava tradition, the Pāñcarātra constitutes the primary liturgical authority regulating temple worship (Arcana), image consecration (Pratiṣṭhā), daily rituals (Nitya-karmas), festivals, and the theology of the divine body (Arcāvatāra).

Rāmānuja's acceptance and reinterpretation of Pāñcarātra doctrines provided the foundation for a system in which the divine is simultaneously transcendent, immanent, and accessible through ritual worship. This integration ensured the continued prestige and widespread application of Pāñcarātra ritual manuals in South Indian Vaiṣṇavism down to the present.

Madhvācārya's Dvaita Vedānta likewise honours Pāñcarātra as a principal authority: his Tantrasārasaṃgraha lays out practical worship patterns that include meditation on Viṣṇu in Cakrābjamaṇḍalas and prescribes recitation of the four Vyūha

names alongside traditional twelve name ācamanīya mantras. The inclusion of Vyūha names in foodoffering mantras and ritual gestures shows that Pāñcarātra categories are embedded in Madhva practice even as his metaphysics differs from Rāmānuja's.

Nimbārka's Bhedābheda Vedānta, with its identification of Brahman as RādhāKṛṣṇa endowed with innumerable auspicious qualities (including the six Guṇas highlighted in Pāñcarātra), embraces Pāñcarātra scriptures as conveying an authentic revelation of Viṣṇu's nature. Vallabhācārya's Śuddhādvaita, while critical of some Pāñcarātra positions (such as certain accounts of the jīva's origin), nevertheless mirrors its devotional and ritual ethos in the Puṣṭimārga, where tantric initiation (Dīkṣā) and continuous worship of Kṛṣṇa as the supreme Brahman are central.

Caitanya's Acintyabhedābheda Vedānta explicitly acknowledges Pāñcarātra Nārāyaṇa and the four Vyūhas as effulgent manifestations of Kṛṣṇa, free from the Guṇas of *Prakṛti* and endowed with distinct powers (*svarūpa, taṭastha, bahiraṅga*). The Gauḍīya Vaiṣṇava tradition treats obedience to Veda, Smṛti, Purāṇa and Pāñcarātra as essential for authentic *Bhakti*, integrating Pāñcarātra ritual injunctions into its emphasis on Nāmasaṃkīrtana, Prapatti and intense personal devotion.

Social and cultural influence

Through its widespread acceptance among Vaiṣṇava ācāryas, Pāñcarātra has attained a distinctive position among Indian philosophical and theological systems, shaping not only ritual and doctrine but also broader cultural patterns. The Caturvyūha deities continue to be worshipped with fervour in numerous temples, and Pāñcarātra Saṃhitās are routinely consulted in the scheduling of major festivals, the consecration of images and the regulation of daily worship.

Archaeological evidence for early Caturvyūha shrines, combined with the enduring authority of Pāñcarātra Āgamas in contemporary temple life, suggests an unbroken trajectory in which this system has become inseparable from what is commonly recognised as "Hindu temple religion". At the level of social organisation, prominent Vaiṣṇava Vedāntins broadly affirm the Varnāśrama framework as articulated in Dharmaśāstra, while simultaneously opening paths of devotion that transcend caste boundaries in practice, thereby allowing Pāñcarātra coloured *Bhakti* to permeate diverse strata of Indian society.

In sum, the Pāñcarātra system has not only contributed distinctive theological ideas foremost among them the Caturvyūha and a rich Āgamic ritualism but has also furnished durable paradigms for sacred space, divine image, sonic and kinetic worship, and literary expression, leaving an indelible mark on Indian art, culture and religious life.

Conclusion

The evidence surveyed here demonstrates that the Pāñcarātra system has wielded a profound and far-reaching influence upon Indian religious culture. From the earliest archaeological remains to the flourishing of medieval arts, from temple rituals to devotional literatures, from classical dance to regional musical repertoires, Pāñcarātra thought and practice have shaped the aesthetic, ritual, and theological landscape of the Indian subcontinent. Its enduring presence in contemporary temple worship within India and across the global diaspora, attests to its vitality as a living tradition.

References

Arthur Anthony Macdonell. (2015). A History of Sanskrit literature. Life Span Publishers And Distributors.

Avalon, A. (1960). Tantraraja Tantra. Vasant Press, The Theosophical Society. https://archive.org/details/ cQws_principles-of-tantra-tantra-tattva.-1960-ganesh-co-arthur-avalon/page/n9/mode/2up

Bhattacharyya, N. N. (1982). History of the Tantric Religion (A Historical, Ritualistic and Philosophical Study). Manohar Publications.

Chintaman Vinayak Vaidya. (1986). History of Sanskrit literature. Parimal Publ.

द्विवेदी प. ब्रजवल्लभ. (n.d.). आगम और तन्त्रशास्त्र (दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विवेचन). परिमल पब्लिकेशन. https:// archive.org/details/AgamAurTantraShastraVrajVallabhaDwivedi_201701/page/n45/ mode/2up

Dutta, S. (n.d.). Why a systematic study of the Agamas should be encouraged. https://www.indiachapter.in/ index.php?/user/article/1/3/26

Gonda, J. (1970). Viṣṇuism and Sivaism. Burns & Oates.

Jaiswal, S. (1981). The Origin and Development of Vaisnavism from 200 BC to Ad 500.

Kālīprasāda Siṃha. (1993). Thoughts on Tantra and Vaiṣṇavism. Punthi Pustak.

Kannan, S., & Prasanna. (2021). Issue 1 www.jetir.org (ISSN-2349-5162). JETIR2101009 Journal of Emerging Technologies and Innovative Research, 8(2349-5162). https://www.jetir.org/papers/ JETIR2101009.pdf

Kapoor, S. (2004). The Philosophy of Šaivism : History, Philosophy, and Literature of Saivism. Cosmo Publications.

Kumar, P. (1974). Sakti Cult in Ancient India.

कविराज डॉ गोपीनाथ. (n.d.) तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन (तिवारी पं. हंसकुमार, Trans.). बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्. https:// archive.org/details/vYAS_tantra-aur-agama-shastom-ka-digdarshan-by-gopinath-kaviraj-bihar-rastra- bhasha-parishad-hansa-t/page/n13/mode/2up

Lalan Prasad Singh. (2010). Tantra, Its Mystic and Scientific Basis. Concept Publishing Company.

Madhvācārya. (1996). The Sarva-Darśana-samgraha. Parimal Publications.

Ramkrishna Gopal Bhandarkar. (1965). Vaiṣṇavism, Śaivism and Minor Religious Systems. Indological Book House. https://archive.org/details/Vaishnavism Shaivism And Other Minor Religious Systems R.G. Bhandarkar/ page/n1/mode/2up

Ratan Parimoo. (1986). Vaiṣṇavism in Indian Arts and Culture.

S. Rangachar. (1991). Philosophy of Pancaratras.

स्वामी रामभद्राचार्य. (n.d.). रासपंचाध्यायी विमर्शः.https://archive.org/details/raas-panchadhyayi-vimarsh-swamiram-bhadracharya/page/2/mode/2up

Schrader, F. O. (1916). Ahirbudhnya Saṃhitā of the Pāñcarātrāgama (P. M. D. Ramanujacharya, Ed.). Vasant Press, The Theosophical Society, Adyar. https://archive.org/details/Ahirbudhnya Samhita Sanskrit Adyar/page/n1/mode/2up

Sharma, D. S. (1985). Studies in Tantra Yoga. Natraj Publishing House. https://archive.org/details/Studies In Tantra Yoga Debabrata Sen Sharma/page/n3/mode/2up

Surendranath Dasgupta, & Surama Dasgupta. (1922). A history of Indian Philosophy. Cambridge University Press.

Urban, H. B. (2009). The Power of Tantra. Bloomsbury Publishing.

Urmila Bhagowalia. (1980). Vaisnavism and Society in Northern India, 700-1200. Intellectual Publishing House . https:// archive.org/details/ in.ernet. dli.2015.125293/ page/n49/mode/2up

Varadachary, DR. V. (2001). Pāñcarātrāgama. Tirumala Tirupati Devasthanams. https:// ebooks tirumala org/downloads/pancharatragama.pdf

Endnote

1. Ed. Ratan Parimoo, p- 174
2. *Agamas and South Indian Vaisnavism*,Pg.365.
3. *Sättvata Samhita* XII. 22.
4. *Vişnu in Art thought and literature*, P 87
5. *Spread of Vaisnavism in Gujarat up to 1600 A.D.* p. 56,
6. *Agama and South Indian Vaishnavism*,Pg.508
7. Ibid, Pg. 512

Research Scholar (PhD)
Centre for Hindu Studies, University of Delhi
sakshivats6009@gmail.com
Contact No. 8595745734
Res : H 87 Street No. 16
Wazirabad Village
Delhi-110084

Integrative Metaphysics of Consciousness: A Scientific Reinterpretation of Śiva-Śakti-Bindu Dynamics in Tantra Philosophy

Dr. Sunita Barman

Abstract

This paper provides a comprehensive analysis of the metaphysical framework of the Tantra and Āgama traditions, with particular emphasis on the triadic principle of Śiva–Śakti–Bindu, the processes of creation, the evolution of consciousness, and the mechanisms of liberation. Drawing on primary sources such as the Kāmika, Svāyambhuva, and Mṛgendra Āgamas, as well as authoritative commentaries, the study examines the ontological, cosmological, and linguistic dimensions of Tantric philosophy. The investigation foregrounds the distinction between *śuddha sṛṣṭi* (pure creation) and *aśuddha sṛṣṭi* (impure creation), illustrating how the dynamic interplay of Śiva and Śakti catalyzes the emergence of Bindu as the matrix of manifestation.

The paper elucidates the evolutionary stages of sound and consciousness through the framework of speech (*vāk*)—Parā, Paśyantī, Madhyamā, and Vaikharī—demonstrating how transcendental consciousness becomes articulated into cognitive and physical phenomena. Similarly, the roles of Nāda, Aksara-bindu, and Varṇa are analyzed as the progressive expansions of Bindu, linking subtle cosmic vibrations with tangible linguistic expressions. The dual powers of Śiva—Samavāyinī-śakti (static consciousness) and Kriyā-śakti (dynamic energy)—are shown to govern both cosmic and individual processes, mediating the interplay of grace, bondage, and liberation in the metaphysical system.

Furthermore, the study explores the nature of the individual soul (*jīva* or *paśu*), emphasizing the mechanisms of limitation through Māyā, Karma, and Mol, and highlighting the necessity of divine grace (*anugraha-śakti*) for attaining ultimate freedom. The structured hierarchy of Mantreśvaras, mantras, and Vidyā-tattvas is discussed to illustrate how divine agency and instrumentality operate within the Tantra framework.

By integrating ontological, cosmological, linguistic, and soteriological perspectives, this paper demonstrates the conceptual coherence and philosophical sophistication of the Tantra–Āgama worldview. It argues that these doctrines provide not only a detailed account of the metaphysical and epistemological structures of reality but

also a profound guide for spiritual practice and consciousness evolution. The findings underscore the enduring relevance of Tantra metaphysics for contemporary scholarship in philosophy, theology, consciousness studies, and comparative metaphysics, offering a unified framework to understand the dynamic interrelation between consciousness, energy, and manifestation.

Keywords:

Tantra; Āgama; Śiva–Śakti–Bindu; ŚuddhaSṛṣṭi; AśuddhaSṛṣṭi; Vāk; Nāda; Bindu; ŚaivaSiddhānta; Metaphysics; Consciousness; Paśu–Jīva, the Tantric theories of speech (*vāk*)—Parā, Paśyantī, Madhyamā, and Vaikharī.

Introduction

Tantra and Āgama literature presents a highly integrated and sophisticated metaphysical framework that examines the origin, structure, and dynamic processes of the universe from a Śakti-centeredperspective. The foundational texts of this tradition—both the ancient canonical scriptures and later authoritative works—provide detailed philosophical expositions on how the Absolute (Śiva) manifests through dynamic power (Śakti) into the plurality of existence. While variations occur across different textual traditions, the essential metaphysical principles remain consistent and carry enduring authority.

Central to this system is the triadic principle of Śiva, Śakti, and Bindu, collectively known as the *Triratna*. Śiva represents pure consciousness, Śakti embodies the creative potency, and Bindu signifies the concentrated point of manifestation. Through the interaction of these three principles, the processes of pure creation (*śuddhasṛṣṭi*) and impure creation (*aśuddhasṛṣṭi*) unfold, giving rise to a variety of ontological realms, including Śiva-tattva, Śakti-tattva, Sadāśiva-tattva, Īśvara-tattva, and Śuddhavidyā-tattva.

The tradition further explores the nature of the jīva, or individual soul (paśu), providing a nuanced understanding of human bondage through the concepts of mol (impurities), karma (actions and their consequences), and māyā (limiting material power). Additionally, the Tantra theories of speech (*vāk*)—Parā, Paśyantī, Madhyamā, and Vaikharī—illustrate how transcendental consciousness becomes expressed as articulated sound. When considered alongside the evolution of Bindu into Nāda and Varṇa, these doctrines reveal a profound synthesis of metaphysics, linguistics, and spiritual philosophy.

This article aims to systematically present these doctrines with textual fidelity and philosophical precision, highlighting their continued relevance for contemporary scholarship in philosophy, theology, and consciousness studies. By integrating ontology, cosmology, linguistics, and soteriology, Tantra and Āgama thought provides a

comprehensive framework for understanding both the cosmic order and the spiritual evolution of the individual

1. Tantric and Āgamic Literature: Foundational Sources

Tantra and Āgama literature represents one of the most sophisticated systems of Indian metaphysics, addressing the origin, structure, and dynamics of the universe through a Śakti-centered worldview. Within this vast corpus, authoritative texts can broadly be classified into two categories. The first comprises the ancient scriptural corpus, including Dvaita–Advaita Śaiva Āgamas. The second category includes later canonical works, which, though they may exhibit divergences in listings or interpretative emphases, remain fully authoritative. Philosophically and methodologically, the ancient texts are considered foundational sources of Śakti-based metaphysics and Tantra doctrine.

The Tantra path emphasizes the gradual revelation of subtle spiritual principles according to the capacity, disposition, and eligibility of the practitioner. The primary sources of Tantra philosophy include original Āgamas and their associated treatises (prakaraṇagranthas). Among these, the Kāmika, Bourava, Svāyambhuva, and Mṛgendra Āgamas, alongside commentaries and treatises by notable Śaiva teachers such as Aghora Śiva, Sadyajāta, Rāmakaṇṭha, and Nārāyaṇakaṇṭha, form the textual foundation for doctrinal exposition. Within these texts, the philosophical system known as dvaita-siddhānta (dualistic conclusions) is meticulously elaborated.

Tantr Metaphysics: Śiva, Śakti, and the Evolution of Bindu

Tantra literature, as presented in the Tantra and Āgama Śāstras, can be broadly divided into two categories. The first comprises ancient scriptural texts such as the Dvaita–Advaita works and canonical Āgamas. The second includes later canonical treatises, which, despite divergences from earlier listings, retain full philosophical authority. From a Śakti-centered metaphysical perspective, these ancient texts are foundational and valid sources.

The primary focus of Tantra philosophy lies in the Āgamas and their associated *prakaraṇa granthas*. In the Dvaita Śaiva Āgamas, the principal doctrines derive from texts such as the Kāmika, Bourava, Svāyambhuva, and Mṛgendra Āgamas, along with treatises by Śaiva teachers including Aghora Śiva, Sadyajāta, Rāmakaṇṭha, and Nārāyaṇakaṇṭha. These works elaborate the Dvaita conclusions (*dvaita-siddhānta*), which serve as the foundation of the metaphysical system.

2. Triadic Reality: Śiva, Śakti, and Bindu

Central to Tantra metaphysics is the triad of Śiva, Śakti, and Bindu, collectively termed the *Triratna*. Śiva is the immutable substratum, Śakti the dynamic potency, and Bindu is sustained by Śiva. While Bindu is not directly identified as Śakti in fire-symbolic terminology, it can be considered so in certain perspectives. Śakti is the

transformative power of Bindu, and Bindu represents the power of containment. Analogous to the Nyāya–Vaiśeṣika principle of mutual inherent qualities among substance, action, and attribute, Śiva and Śakti are mutually inherent. Śiva embodies essential nature, Śakti embodies pure consciousness (*cit-svarūpa*), and their relationship is *avinābhāva* (inseparable dependence). Bindu, inseparably supported by Śiva and Śakti, is also designated as Śakti.

Śiva is the Supreme Lord; without Śakti, He is inert. With Śakti, Śiva becomes omniscient and omnipotent. Bindu functions as the material cause of creation, and the activation of Śakti is the primary cause of Bindu's agitation. Without the desire for creation (*sṛṣṭi-icchā*), activity (*kriyā*) does not arise, and Bindu remains undisturbed. In primordial unity, Śiva, Śakti, and Bindu exist inherently manifest but appear unmanifest, non-dual, and immanent.

3. The Dynamics of Creation

When the will (*icchā*) awakens, dynamic energy (*kriyā-śakti*) arises, diminution occurs, and creation begins. Creation emerging from Bindu is termed *ŚuddhaSṛṣṭi* (pure creation), also called the *Śuddhādhvā*. Bindu is also known as Mahāmāyā, Kuṇḍalinī, or Cidākāśa. Impure creation (*Aśuddha Sṛṣṭi*) results from Māyā. In the Dvaita Āgamas, Māyā and Mahāmāyā are understood as the pure and impure aspects of the same fundamental principle, though they appear separate.

Pure creation arises from Mahāmāyā. When Cit-śakti agitates Mahāmāyā by the will of the Supreme Lord, creation unfolds, differentiating into five forms: Śiva, Śakti, Sadāśiva, Īśvara, and Śuddhavidyā, collectively termed the *Śuddha Pañcatattva*. The agitation of Mahāmāyā is initiated by Śiva's pure, non-conceptual gaze (*nirvikalpa dṛṣṭi*). Māyā is disturbed only upon the emergence of determinate cognition (*savikalpa-jñāna*). The eternally pure Self—Śiva—remains devoid of conceptual cognition, identical with Cit-Śakti, representing His will, knowledge, and activity.

Conceptual knowledge (*vikalpa-jñāna*) arises only through the association of sound (*śabda*) and mind. The first emergent knowledge remains purely free from conceptualization. Only upon contact with the operational flow of sound and mind does conceptual knowledge manifest. In the Supreme Lord, such conceptualization cannot occur until Bindu is agitated, as the successive emergence of sound stages—from *parā-vāk* downward—cannot manifest. Thus, initial creation is beyond Māyā and is considered pure and immaculate.

When dormant Mahāmāyā vibrates under the influence of the Lord's dynamic power, the latent *cid-aṇus* (atomic units of consciousness) awaken. Upon awakening, these cid-aṇus pervade the pure realms according to their capacities. As they expand due

to Mahāmāyā's agitation, divine grace (*anugraha-śakti*) descends upon them, eternally radiating from the Lord's essence like sunlight.

4. Liberation of Souls

The liberation of souls (*baddha jīvas*) requires distinguishing between agents (*karta*) and instruments (*karaṇa*). Agents are the eight Mantreśvaras, and instruments are the mantras or vidyās, numbering seventy million. Among the Mantreśvaras, Ananta—also called Īśvara—is supreme and presides over Māyā. Through Ananta's power, Māyā produces the thirty-one tattvas from Kalā to Pṛthivī. Ananta-īśvara governs Māyā, while Śiva governs Bindu. Śiva's power is *nirvikalpaka-jñāna* (non-conceptual knowledge). Since Māyā is impure, it requires *savikalpa-jñāna* for its agitation.

5. The Nature of Paśu and Jīva

All individual souls (*jīvas* or *paśus*) are inherently eternal (*nitya*), omnipresent (*vibhu*), conscious (*cetana*), and endowed with Śiva's qualities. In worldly bondage, these qualities remain latent. Just as Śiva possesses omniscience (*sarvajñatā*) and omnipotent activity (*sarvakartṛtva-śakti*), so do jīvas, albeit veiled. The consciousness-power of jīvas is essentially Śiva's. Obstruction arises through three bonds (*pāśas*): Mol, Karma, and Māyā. Some souls are bound by one, two, or all three.

Souls with Māyika impurities subsided but retaining Mol and Karma are termed *Pralayākala*. Those with only Mol remaining are termed *Vijñānākala*. The removal of *Āṇava-mol* (self-contraction) is possible only through the Lord's grace (*anugraha-śakti*). Fullness (*pūrṇatva*) cannot be achieved without divine grace, irrespective of attainments like heavenly enjoyments or conceptual liberation.

6. Vijñānākalas: Types and Classification

Vijñānākalas arise from the gradual maturation of inner impurity (*Ātma-mol*) and are categorized as follows:

1. **Mantras and Vidyās in Vidyā-tattva**: Seventy million in number, operating under Vidyeśvaras. Employed to liberate souls bound by Kala, Karma, and Māyā, serving as instruments of grace (*anugraha-kārya*).
2. **Vidyeśvaras in Īśvara-tattva**: Eight beings, with Ananta as supreme. Each resides in distinct realms with gradations of qualities, embodiment, and enjoyments. Mala is pacified, with traces of *adhikāra-mol*. All are Śivānugṛhīta.

   सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिणः
   शिवार्ककरसम्पर्कविकाशात्मीयशक्रयः। (*शैरवागम तन्त्रे*)
3. **Beings in Sadāśiva-tattva**: Refined paśus (*saṃskārya-paśu*) dwelling above Śuddhādhvā, functioning as agents of divine activity.

योत्राभिलषेद भोगान् स तत्रैव नियोजितः।
सिद्धिभाक् मन्त्रसामर्थ्यात्। (*सूक्ष्म स्वायम्भूव*)

7. The Fourfold Function of Speech (Śabda-vṛtti or Vāk)

Tantric literature describes speech (*Vāk*) as a manifestation of consciousness and divine energy, and it is classified into four progressive stages: **Parā-vāk, Madhyamā-vāk, Paśyantī-vāk, and Vaikharī-vāk**. These stages represent the continuum from the subtlest, primordial vibration of consciousness to the gross, audible articulation, reflecting the metaphysical process of manifestation itself. Each stage has a distinct ontological status, purpose, and experiential relevance.

1. Parā-vāk

Parā-vāk is the subtlest, most transcendent form of speech and is also referred to as *Para-nāda*. It is the primordial vibration, inherently self-luminous, independent of external perception, and distinct from the empirical self. Parā-vāk is considered the seed of *abhidheya-buddhi*, or cognitive intention, serving as the source from which all intentional knowledge and subsequent expressions arise.

Unlike ordinary mental or verbal activity, Parā-vāk is imperishable and persists even in deep sleep (*suṣupti*), where ordinary cognition ceases. Its realization as separate from the individual self (*Puruṣa*) marks the cessation of all experiential enjoyment (*bhoga*) and the attainment of non-conceptual, transcendental knowledge (*nirvikalpa-jñāna*). Until this direct realization occurs, the individual remains a conventional "speaker," bound to conditioned cognition (*savikalpa-jñāna*) and incapable of apprehending the unmediated, pure consciousness underlying all manifestation.

In metaphysical terms, Parā-vāk is the primary vehicle of divine will (*icchā-śakti*), embodying the potentiality from which the manifest universe emerges. It is not sequential, nor is it mediated by sense organs or linguistic constructs; rather, it represents the primal vibration (*nāda*) of Śiva-Śakti.

2. Madhyamā-vāk

Madhyamā-vāk is subtler than ordinary speech but more accessible than Parā-vāk. It is inaudible and operates independently of the vital breath (*prāṇa*), appearing as internal ideation (*antaḥsañjalpa*) or as the intuitive apprehension of meaning (*paramarśa-jñāna*). Philosophically, it can be understood as the manifestation of intellect (*buddhi*) in its most refined form—structured yet non-verbal, sequential in cognition but not externalized.

Madhyamā-vāk serves as the causal stage for gross verbal expression. It organizes and prepares the latent content of consciousness for external articulation, while retaining its

subtle, internalized nature. It can be likened to the cognitive blueprint underlying speech, where thought and meaning coalesce before being projected into the audible world.

3. Paśyantī-vāk

Paśyantī-vāk, often identified with *Aksara-bindu*, represents the intermediate stage of speech. It is self-revealing, non-sequential, and non-dual in essence. Within it, all letters, sounds, and potential linguistic expressions exist in a latent, undifferentiated state. Tantric texts describe Paśyantī-vāk metaphorically as "like the essence within the peacock's egg," where infinite varieties of potentiality coexist in a single luminous point.

This stage is pivotal because it bridges the inner, subtle cognition of Madhyamā-vāk and the external, audible Vaikharī-vāk. It is here that the potential for articulation and manifestation crystallizes, yet remains intrinsically unified and non-dual. Paśyantī-vāk also serves a soteriological function: through meditation and realization of this stage, the practitioner directly apprehends the subtle interplay of consciousness and sound, bypassing ordinary conceptualization and duality.

4. Vaikharī-vāk

Vaikharī-vāk is the gross, audible form of speech that is perceptible to the ear and capable of conveying meaning in the empirical world. It manifests through the medium of air (*vāyu*) and the articulatory organs, including the throat, tongue, and lips. Its activity depends upon the vital breath (*prāṇa*) and the coordinated functions of the speech apparatus. In Tantric terminology, Vaikharī-vākis said to be "born of space and air" (*ākāśa-vāyu-prabhava*), emphasizing its material and physical grounding.

Vaikharī-vāk is the form of speech through which consciousness communicates with the external world. It is employed in ritual, mantra recitation, and daily communication, embodying both spiritual and pragmatic significance. When understood as the culmination of the subtle stages of speech, Vaikharī-vāk is not merely phonetic; it represents the culmination of an entire ontological process, wherein the unmanifest consciousness of Parā-vāk flows through internal ideation and the semi-manifest Paśyantī-vāk to become manifest and efficacious in the material world.

8. Expansion of Bindu

Bindu, the point of energy-consciousness, has three modes:

1. **Nāda**: Subtle resonance (*sūkṣma-nāda*), essence of Bindu, cause of cognitive intention.
2. **Aksara-bindu**: Represents intuitive or reflective knowledge (*paramarśa-jñāna*), containing infinite undifferentiated potential.
3. **Varṇa**: Gross letters or sounds, arising from space and air (*ākāśa-vāyu-prabhava*).

Bindu appears inert but is essentially pure. Across Tantric texts, it is also called Śabda-brahman, Kuṇḍalinī, Mahāmāyā, Vidyā-śakti, Anāhata, and Vyoma.

स्थूलं शब्द इति प्रोक्तं सूक्ष्मं चिन्तामयं भवेत्।
चिन्तया रहितं यत्तु तत् परं परिकीर्तितम्।। (***कालोत्तरतन्त्रे***)

9. Perspectives on Śiva and Bindu

Śiva possesses two powers:

1. **Samavāyinī-śakti**: Immutable consciousness-form, eternally united with Śiva (*tādātmya*).
2. **Parigraha-śakti**: Mutable, unconscious; identified as Bindu or Mahāmāyā. Its impure form is Māyā. Both are eternal.

Mahāmāyā/Bindu has three states:

1. **Parā**: Mahāmāyā, Kuṇḍalinī.
2. **Sūkṣmā**: Māyā, source of Kalā, Prakṛti, and evolutes.
3. **Sthūlā**: Prakṛti, triguṇātmikā, producing intellect and objects for Puruṣa.

10. Śiva's Samavāyinī Power

Śiva possesses:

1. **Dṛk-śakti**: Knowledge-power
2. **Kriyā-śakti**: Action-power (Kuṇḍalinī/Bindu)

Śiva performs five cosmic functions—creation, maintenance, dissolution, suppression, and grace—requiring a pure support (*śuddha-ādhāra*) provided by Śakti. The states of Bindu underpin Śiva's manifested body, consisting of five Kalās: Nivṛtti, Pratiṣṭhā, Vidyā, Śānti, and Śāntyatīta. In dissolution, Śiva is bodiless (*Niṣkala Śiva*); in manifestation, He assumes a body formed of five mantras. Consequently, Śakti is considered mantra-form in Tantra.

Conclusion

This study has examined the fundamental ideas of Tantra and Āgama—energy, consciousness, primordial vibration, the creation of life and the universe, the subtle structure of the human body, and the interrelationship between human beings and nature—from an integrated perspective. The ancient scriptures describe reality through various levels of energy, vibration, principles, and triadic processes. Interestingly, modern science is now discovering remarkable parallels with these concepts. Quantum fields, energy patterns, neurological resonance, and biological rhythms are all offering a new language to understand Tantra's notions of spanda (vibration), cakra (energy centers), prāṇa (life force), and the evolution of consciousness.

Knowledge that was once regarded as merely ritualistic or religious is, in fact, a profound psycho-scientific understanding of the human inner world and universal energy.

The concepts of Tantra are closely connected with the body's energy channels, mental forces, sleep–wake cycles, motivation for action, and even the rise and fall of emotions and intelligence. Contemporary scientific research increasingly demonstrates that a human being is a multi-layered energetic entity, and the evolution or degeneration of consciousness depends on the balance between body, mind, and nature.

From this perspective, the teachings of Tantra and Āgama remain relevant even today. Because—

In an age of mental stress, restlessness, and technological dependency, meditation, mantra, breath-regulation, and mental discipline—core elements of these traditions—are now scientifically validated as beneficial practices.

At a time when humanity's separation from nature is causing ethical, psychological, and physical crises, Tantra reminds us that human beings are not separate from nature, nor in opposition to it.

The philosophy of "unity-in-duality" presented in the Āgama–Tantra tradition will open new horizons for future scientific studies—especially in consciousness research, bioenergetics, and quantum-consciousness theories.

Bibliography

1. *KāmikaĀgama* – Critical edition edited by G. V. Devasthali, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series, *1968.*
2. *BouravaĀgama* – Edited by Gopinath Kaviraj, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series, 1950.
3. *Svāyambhuva Āgama* – Edited by *S. S.* Raghavan, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series, 1972.
4. *Mṛgendra Āgama* – Edited by K. Narayanaswami, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series, 1965.
5. *Raurava Tantra* – Edited by S. K. Dixit, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series, 1963.
6. *Aghora Āgama* – Edited by S. R. Bhattacharya, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series, 1960
7. *तन्त्र ओ आगम-शास्त्रस्य दिकदर्शनम्* — महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, प्राची प्रकाशनी,2013.

Associate professor& Head, Department of Sanskrit
Vivekananda Mission Mahavidyalaya
Haldia, Purba Medinipur, West Bengal.
Contact & email ID 9831384661, 7980641498
Sunita1sanskrit@gmail.com

Abhinavan Tantric Interpretationof Knowledge in the *Gītārtha-Saṅgraha*

Shradha Aggarwal

Abstract

Abhinavagupta's *Gītārtha-saṅgraha* represents one of the most sophisticated non-dual Śaiva engagements with the Bhagavad Gītā, offering a distinctly tantric reinterpretation of its doctrines of jñāna, karma, and bhakti. Although the Gītā has been extensively commented upon by Vedāntic thinkers like Śaṅkara, Rāmānuja, and Madhva, Abhinavagupta's perspective diverges sharply from theirs: he reads the Gītā through the metaphysical and experiential framework of **Trika–Kaula Śaivism**, grounding his interpretation in the ŚaivaĀgamas, particularly the *Mālinīvijayottara Tantra* and *Svacchanda Tantra*. This paper argues that Abhinavagupta's concept of knowledge (*jñāna*) in the *Gītārtha-saṅgraha* is inseparable from the fundamental Śaiva notions of **prakāśa** (self-luminous consciousness) and **vimarśa** (self-reflection), **spanda** (vibration), **śaktipāta** (descent of grace), and the hierarchical structure of the **upāyas** (means to realization).

Through a close reading of his Sanskrit glosses, it becomes clear that knowledge, for Abhinavagupta, is not an *intellectual apprehension* of metaphysical truth, but an *ontological recognition* (*pratyabhijñā*)—a re-cognition of one's own identity with Śiva. This forms a radical break from Advaita Vedānta, where liberation arises from negation of ignorance; for Abhinava, knowledge is positive, dynamic, and experiential. It is "the Self's recognition of its own luminosity," a process animated by Śakti. The Gītā's battlefield setting becomes, in his analysis, the inner battlefield of consciousness in which limited individuality (*aṇutva*) struggles against its own divine nature.

The paper shows how Abhinavagupta recasts the Gītā'skarmayoga as **kriyā-śakti**, bhakti as **inner Śakti-worship (śaktipūjā)**, and jñānayoga as **Śiva-recognition**. Each Sanskrit passage quoted—such as "*jñānaṃtupratyabhijñānam*," "*kriyā-śaktirevajñāna-śakteḥvistāraḥ*," and "*bhaktirantarmukhatāsvaśaktipūjanam*"—is analyzed not merely as commentary but as part of a sophisticated tantric epistemology.

Finally, this paper demonstrates that Abhinavagupta superimposes the Śaiva**fourfold upāya framework**—āṇava, śākta, śāmbhava, and anupāya—onto the Gītā's teaching structure, thereby revealing his hermeneutic intention to transform the Gītā into a universal tantra. The Viśvarūpa-darśana is interpreted as a manifestation of *śāmbhavopāya*, while Arjuna's final surrender is seen as an emergence into *anupāya*, the effortless state of pure recognition.

Thus, the *Gītārtha-saṅgraha* emerges not as a subsidiary commentary but as a tantric scripture of knowledge, integrating scripture, experience, and Śakti into a unified vision of liberation. Knowledge for Abhinavagupta is liberation itself—an awakening to one's eternal identity with Śiva.

Keywords

Abhinavagupta, Gītārtha-saṅgraha, Tantra, Kashmir Shaivism, Pratyabhijñā, Śaiva Āgamas, Jñāna, Epistemology, Prakāśa, Vimarśa, Śaktipāta, Spanda, Upāya.

1. Introduction

Abhinavagupta's *Gītārtha-saṅgraha* is often described as a "summary" of the Bhagavad Gītā, but it is more accurately a **tantric reinterpretation** of the text. He himself announces the purpose of his work:

"sarvaśāstrārthasāraṃyatgītā-śāstraṃ tad ucyate"[1] - *"The Gītā is the essence of all śāstras."*

While many commentators treat the Gītā as a text about action, devotion, or renunciation, Abhinavagupta sees it fundamentally as a text about **knowledge**—but knowledge understood not intellectually, but as an **epiphany of the Self's divine nature**.

His interpretative lens is grounded entirely in **Trika Śaivism**, whose metaphysics is based on non-dual consciousness (*cit*), Śakti, and recognition (*pratyabhijñā*). Thus, his Gītā is not a Vedāntic document but a **Śaiva Agamic scripture** in disguise.

2. Theoretical Foundations: Agamic Conception of Knowledge

2.1 Prakāśa–Vimarśa: The Ontology of Knowing

Trika philosophy affirms that reality is **prakāśa**, self-luminous consciousness, and **vimarśa**, its self-reflexive awareness. The ŚaivaĀgamas declare:

"prakāśa-vimarśa-rūpaṃ hi paraṃtattvam"[2] - *"The supreme reality is of the nature of illumination and self-awareness."*

Abhinavagupta's use of this doctrine to interpret Gītā'sjñāna is crucial:

"jñānaṃnāmaprakāśasyasvātantryātmanovimarśaḥ"[3] - *"Knowledge is the self-reflection of the autonomous light."*Here, he removes jñāna from the domain of intellect and places it in ontology. Knowing is not *thinking*, it is **the Self shining upon itself**. This is the reason his notion of knowledge is **non-dual, self-validating, and immediate**.

Why this is different from Vedānta

• Vedānta considers knowledge a *function of the mind* that removes ignorance. • Abhinava considers knowledge *the nature of consciousness itself*.• Thus liberation does not occur through "removal" of ignorance but through **expansion of awareness (vikāsa)**.

2.2 Śaktipāta: Knowledge as Descent of Grace

Abhinavagupta interprets key turning points in the Gītā as moments of **Śaktipāta**. He writes:

"śaktipātavaśādevabuddherudayaḥ"[4]- *"The awakening of understanding occurs only through Śaktipāta."*

Kṛṣṇa's teaching is therefore not pedagogical—it is *initiatory*. Knowledge dawns not because Arjuna reasons, but because Śakti descends and **illumines his inner awareness**. This aligns the Gītā with the Śaiva vision that the highest jñāna is **grace-born, not intellect-born**.

3. Knowledge as Recognition (Pratyabhijñā)

One of Abhinavagupta's central interpretive strategies in the *Gītārtha-saṅgraha* is the integration of the Pratyabhijñā doctrine into the structure of the Bhagavad Gītā. The Pratyabhijñā system of Kashmir Shaivism, principally articulated by Utpaladeva, is founded on the idea that liberation arises through recognition (*pratyabhijñā*) of one's true nature as Śiva. The tradition succinctly states this epistemic and soteriological claim as:

"pratyabhijñājīva-mukteḥkāraṇam"[5] - *Recognition is the cause of liberation.*

Abhinavagupta applies this principle directly to the Gītā, identifying its teaching not as a call to metaphysical speculation or devotional dependence but as an invitation to **self-recognition**. His gloss on Gītā 4.38 succinctly expresses this view:

"jñānaṃpratyabhijñānameva"[6] - *Knowledge is nothing other than recognition.*

Here, Abhinava emphasises that the knowledge praised in the Gītā is not intellectual comprehension (*buddhi-jñāna*) or scriptural learning (*śāstra-jñāna*), but the **inner recognition** of one's identity with Śiva. Knowing, in this tradition, is not a representational act; it does not mean "coming to know" something previously unknown. Rather, it is **self-revelation**—a re-cognition in which the Self recognises itself as the ground of all experience. This shift from cognition to recognition is foundational to Abhinava's epistemology.

From this perspective, Arjuna's crisis on the battlefield is not simply emotional or moral; it is fundamentally **epistemic**. Abhinavagupta characterises Arjuna's delusion (*moha*) in terms of contraction:

"aṇutā-saṃkoca-lakṣaṇaḥmohaḥ"[7] - *Delusion is marked by the contraction belonging to limitedness.*

Arjuna's problem, therefore, is not fear or compassion alone but the constriction of his awareness from universal consciousness (*Śiva-caitanya*) to individual self-identity (*aṇutva*). His sorrow arises because he has forgotten his true nature and has allowed his awareness to be reduced to the narrow standpoint of the finite agent. For Abhinava, this forgetting is the primary cause of bondage; the battlefield represents the field of inner conflict in consciousness where this misrecognition is played out.

The Gītā's teaching thus functions as a **method of de-contraction**, a progressive expansion of awareness (*vikāsa*) through which the limited individual re-discovers its essential identity with the universal Self. Kṛṣṇa's instruction is understood as an act of **śaktipāta**—the descent of divine power—which shocks the contracted awareness into reawakening. Knowledge arises when Arjuna recognises that the agent, the action, and the battlefield itself are manifestations of his own consciousness.

Abhinavagupta's reading transforms the Gītā into a text of **recognition-based liberation**, where the central spiritual act is the recovery of one's ever-present divine identity. In this light, the teaching of jñāna in the Gītā becomes fully compatible with the Śaiva Agamic view that liberation is not an achievement but a **return to self-awareness**—a realisation best summarised in the Trika affirmation: **"ahaṃevaśivaḥ"—"I myself am Śiva."**

4. Reinterpreting Karma, Bhakti, and Jñāna as Śakti

One of the most innovative features of Abhinavagupta's *Gītārtha-saṅgraha* is his re-reading of the Gītā's three central yogas—karma, bhakti, and jñāna—not as distinct or hierarchical disciplines but as **three modes of Śakti** operating within consciousness. For him, all spiritual practice is ultimately grounded in Śakti: the dynamic freedom (*svātantrya*) of consciousness. Therefore, every aspect of the Gītā's teaching becomes an expression of a single metaphysical reality—Śiva-Śakti—manifesting in different functional modalities.

4.1 Karmayoga as Activation of Kriyā-śakti

While traditional commentators often view karmayoga as preliminary and inferior to jñānayoga, Abhinavagupta dissolves such hierarchical distinctions by grounding action in the dynamic power of consciousness. In his gloss on Gītā 3.5, he declares:

"kriyā-śaktirevajñāna-śakteḥvistāraḥ"[8] - *Kriyā-Śakti is indeed an expansion of Jñāna-Śakti.*

This statement radically reconfigures the status of action. Action (*kriyā*) is not external to knowledge; it is knowledge's own outward unfolding. The power to act and the power to know arise from the same conscious source, Śakti, whose intrinsic nature is both illumination (*prakāśa*) and expression (*spanda*). Therefore, karmayoga becomes a **means of awakening**, not a detour from it. When action is performed without attachment, it reveals its true nature as the spontaneous expression of consciousness. In this sense, karmayoga becomes a practice of aligning one's outward engagements with the inward recognition of Śakti's presence.

For Abhinava, this interpretation harmonises the Gītā's emphasis on duty with non-dual Śaiva metaphysics: action is not abandoned but **divinised**, understood as the living pulse of consciousness in motion.

4.2 Bhakti as Inner Śakti-worship

Abhinavagupta similarly redefines bhakti, shifting it away from theistic devotion toward a non-dual, inward mode of awareness. He writes:

"bhaktirantarmukhatāsvaśaktipūjanam"[9] - *Bhakti is inwardness—the worship of one's own Śakti.*

This concise definition transforms the meaning of devotion. Instead of a relationship between devotee and divine Other, bhakti becomes the **turning inward** (*antarmukhatā*), an offering directed toward one's own innermost consciousness, which is Śakti. Worship (*pūjanam*) here signifies the recognition, honouring, and resting in that inner power that sustains all cognition and action. Thus, bhakti complements jñāna rather than opposes it; both culminate in the recognition of Śiva within. This interpretation aligns with the tantric principle that the divine is not external but resides as the very substance of awareness.

5. Spanda: Knowledge as Vibratory Activity

Underlying Abhinavagupta's reinterpretation of karma, bhakti, and jñāna is the Trika doctrine of **spanda**, the subtle pulsation of consciousness. The term does not mean physical vibration but denotes the *living dynamism* inherent in self-aware consciousness. Abhinava therefore describes knowledge itself as:**"jñānaṃspanda-rūpam"**[10]- *Knowledge is of the nature of spanda.*

This insight marks a fundamental departure from static conceptions of knowledge. In the spanda-theory, awareness is never inert; it continuously expands and contracts, revealing and concealing itself in rhythmic movement. Knowledge, then, is not a fixed cognitive state but the **active unfolding of consciousness**, a moment-to-moment

recognition of its own freedom. The Gītā's transformative experiences—Arjuna's despair, the revelation of the cosmic form, and the final return to clarity—are read by Abhinava as shifts in this vibratory field, where consciousness awakens to its own depths.

By grounding knowledge in spanda, Abhinavagupta affirms that understanding is always **dynamic, experiential, and alive**, consistent with the Śaiva Agamic vision that Śiva is both the stillness of being and the pulse of becoming.

6. The Four Upāyas: Mapping the Gītā's Pedagogy Through a Tantric Lens

Abhinavagupta's most distinctive interpretive move in the *Gītārtha-saṅgraha* is his application of the **fourfold upāya-framework** of Trika Śaivism—**āṇava, śākta, śāmbhava, and anupāya**—to the progression of the Bhagavad Gītā. Although the Gītā never explicitly speaks of upāyas, Abhinava reads its chapters as implicitly reflecting these graded means of spiritual realisation. In doing so, he transforms the Gītā from a text on duty and devotion into a **universal tantric śāstra** capable of guiding aspirants at differing levels of spiritual capacity.

The opening chapters of the Gītā are situated by Abhinava within **āṇavopāya**, the most external method, where discipline, duty, and controlled action guide the limited individual (*aṇu*). Arjuna's despair (*viṣāda*) is interpreted not merely psychologically but epistemologically. He describes Arjuna's state as **"aṇutā-saṃkoca-lakṣaṇaḥmohaḥ"**[11]—*delusion characterised by the contraction inherent to limited individuality*. In this stage, the Gītā prescribes karmayoga as a means of **steadiness and purification**, helping the individual transcend the inertia of emotional turmoil. For Abhinava, karmayoga is not in conflict with knowledge but prepares the inner field for higher insight by refining the oscillating mind and channelling **kriyā-śakti**, the active power of consciousness.

As the dialogue progresses, Kṛṣṇa's teachings enter the domain of **śāktopāya**, wherein the aspirant relies not on external discipline but on **refined cognition, mantra, and reflective awareness**. Abhinavagupta's gloss aligns this stage with his statement that——

"jñānaṃnāmaprakāśasyasvātantryātmanovimarśaḥ"[12]—*knowledge is the self-reflection of the autonomous light*. Here, the aspirant ceases to treat thought as an instrument for analysing objects and begins to turn it inward toward the **recognition of consciousness itself**. Doctrines such as the distinction between kṣetra and kṣetrajña (Gītā 13.1–3) exemplify śāktopāya, as they guide the seeker to discriminate between the mutable field and the immutable witness within.

The **śāmbhavopāya** corresponds to moments of intuitive, non-discursive insight. Abhinavagupta interprets the *Viśvarūpa-darśana* (Gītā Chapter 11) as such a śāmbhavic event, a sudden expansion of Arjuna's awareness in which the unity of all phenomena is

intuited directly rather than reasoned. This aligns with Abhinava's description of higher knowledge as a **direct flash of recognition**, grounded in the inner luminosity (*prakāśa*) rather than conceptual analysis.

Finally, Abhinavagupta detects in the Gītā a culmination in **anupāya**, the "methodless method," where recognition dawns effortlessly. He hints at this in interpreting Arjuna's final transformation (Gītā 18.73), characterising it as—

"idaṃjñānamanupāya-prakāśam"[13]—*knowledge belonging to the effortless method*. Here the distinction between effort and attainment collapses, and the seeker simply abides in the spontaneous self-awareness of Śiva.

Through this upāya-based reading, Abhinavagupta presents the Gītā not as a sequence of discrete doctrines but as a **progressive unfolding of consciousness**—from contraction, through disciplined engagement and refined awareness, into direct intuition and effortless recognition. This tantric reframing reveals the pedagogical sophistication underlying Abhinava's interpretation and situates the Gītā firmly within the experiential framework of the ŚaivaĀgamas.

7. Conclusion

Abhinavagupta's tantric reinterpretation of knowledge in the *Gītārtha-saṅgraha* fundamentally reconfigures the Bhagavad Gītā as a **manual of non-dual recognition (pratyabhijñā)** rather than a treatise on ethical duty or theistic devotion. His core assertion—

"jñānaṃpratyabhijñānameva"[14]**-** *knowledge is indeed recognition*—encapsulates his position that liberation is achieved not by negating ignorance but by **realising one's pre-existent identity with Śiva**. Knowledge, therefore, is not representational or conceptual; it is the **Self's self-illumination**, a manifestation of the intrinsic unity of **prakāśa (light)** and **vimarśa (self-awareness)**.

In Abhinavagupta's reading, even karma and bhakti are ultimately modes of knowledge. When he describes karmayoga as an expansion of knowledge's active aspect—**"kriyā-śaktirevajñāna-śakteḥvistāraḥ"**[15]—he underscores the insight that all genuine action is an expression of Śakti's dynamism. Similarly, his definition of bhakti as **"antarmukhatāsvaśaktipūjanam"**[16], *inwardness consisting of the worship of one's own Śakti*, dissolves the dualistic separation between devotee and deity. Devotion becomes a movement of consciousness toward itself.

Crucial to this framework is Abhinava's conception of **spanda**, the subtle vibration of consciousness. When he characterises knowledge as **"spanda-rūpa"**[17]—*vibrational in*

nature—he suggests that knowing is not a static state but a living, pulsating realisation in which consciousness unfolds its own depths. This idea harmonises with his interpretation of transformative moments in the Gītā, such as the Viśvarūpa-darśana, where Arjuna experiences an expansive recognition of the all-pervading nature of consciousness.

By mapping the Gītā's teachings onto the **four upāyas**, Abhinavagupta shows that the path to recognition can unfold at varying levels—through disciplined action, refined cognition, direct intuitive insight, or effortless abidance. The culmination of the text, as he presents it, is not Arjuna's readiness for battle alone but his entry into a state of **clarified awareness** in which the distinction between self and Śiva dissolves.

Thus, Abhinavagupta's *Gītārtha-saṅgraha* stands as a **tantric epistemology of liberation**. Knowledge is liberation because to know, in the highest sense, is to recognise: **"ahaṃśivaḥ"—"I am Śiva."**

Endnotes:

1. *Gītārtha-saṅgraha*, opening śloka.
2. *Mālinīvijayottara Tantra* 1.23.
3. *Gītārtha-saṅgraha1*.3 commentary.
4. Ibid., on *Gītā* 10.10.
5. *Utpaladeva*, *Īśvarapratyabhijñā*-kārikā1.1.2.
6. Abhinavagupta, *Gītārtha-saṅgraha*, commentary on Gītā 4.38.
7. Ibid., commentary on *Gītā* 1.30–33.
8. Abhinavagupta, *Gītārtha-saṅgraha*, commentary on Gītā 3.5.
9. Ibid., commentary on *Gītā* 12.6–7.
10. Ibid., concluding reflections.
11. *Gītārtha-saṅgraha*, commentary on Gītā 1.30.
12. Ibid., commentary on Gītā 4.38.
13. Ibid., commentary on Gītā 18.73.
14. Ibid., commentary on Gītā 4.38.
15. Ibid., commentary on Gītā 3.5.
16. Ibid., commentary on Gītā 12.6–7.
17. Ibid., concluding remarks.

Department of Sanskrit, University of Delhi
Email : shradhaaggarwal16@gmail.com
Res : 18/23 Ground Floor
Shaktinagar, Delhi-110007
Mob : 9999766622

Śaṅkara, Rāmānuja and Madhva: Vedāntic Interpretations of the Upaniṣadic Vision with Reference to the Kathopaniṣad and the Āgama Tradition

Dr. Krushna Chandra Panda

Abstract

The Vedāntic tradition is deeply indebted to the interpretative contributions of three towering ācāryas—Śaṅkara, Rāmānuja and Madhva—each of whom established a distinct philosophical system based on the Prasthānatrayī, while remaining grounded in the wider scriptural framework of Śruti, Smṛti, and the Āgamas. The Kathopaniṣad, one of the most celebrated Upaniṣads, offers profound insights into the nature of the Self, the path to liberation, and the relationship between the individual and the ultimate reality. Śaṅkara interprets these teachings through non-dual Advaita, Rāmānuja through the qualified non-dualism of Viśiṣṭādvaita, and Madhva through the dualism of Dvaita. This paper presents a systematic comparison of their interpretations, with particular attention to the role of the Āgama tradition, which underlies both Śaiva and Vaiṣṇava theological developments. The study highlights how the same Upaniṣadic verses give rise to three distinct philosophical visions, demonstrating the pluralistic strength of Vedānta.

Keywords: *Vedānta, Śaṅkara, Rāmānuja, Madhva, Kathopaniṣad, Āgama, Advaita, Viśiṣṭādvaita, Dvaita, Prasthānatrayī*

Introduction

Indian philosophy possesses a unique continuity, marked by an unbroken tradition of inquiry into the fundamental nature of reality, consciousness, and liberation. Among the systems of thought, Vedānta stands supreme in its influence, drawing upon the Upaniṣads, Bhagavadgītā, and Brahmasūtra—collectively known as the Prasthānatrayī. Yet, Vedānta is not a monolithic entity; it is a rich pluralistic tradition represented by the distinct schools of Advaita, Viśiṣṭādvaita, and Dvaita, founded by Śaṅkara, Rāmānuja, and Madhva respectively.

The Kathopaniṣad, one of the principal Upaniṣads, presents the dialogue between Naciketas and Yama, discussing the mystery of death, the nature of the Self, and the

highest good (śreyas). Its metaphysical and spiritual teachings become a foundational ground on which the three ācāryas construct divergent interpretations of Brahman, the individual self (jīva), and the world (jagat).

Furthermore, the Āgama tradition, encompassing the Śaiva, Śākta and Vaiṣṇava Āgamas, forms an essential scriptural foundation for both Rāmānuja's and Madhva's theological systems, and indirectly informs Śaṅkara's exegesis through the shared cultural milieu of mantra, tantra, and ritual praxis.

The Vedānta tradition stands upon a rich foundation of diverse philosophical lineages shaped by the profound insights of three towering ācāryas—Śaṅkara, Rāmānuja, and Madhva. While all three ground their interpretations in the authority of the Upaniṣads, Bhagavadgītā, and Brahmasūtras, their doctrinal conclusions vary significantly, resulting in Advaita, Viśiṣṭādvaita, and Dvaita Vedānta respectively. Furthermore, the Āgama tradition—encompassing the Śaiva, Śākta, and Vaiṣṇava Āgamas—serves as an essential scriptural foundation for the theological and ritual frameworks particularly of Rāmānuja and Madhva, and indirectly informs Śaṅkara's exegesis through a shared cultural milieu rooted in mantra, tantra, and ritual praxis. This paper examines four interconnected thematic strands: (1) the philosophical positions of the three ācāryas, (2) their interpretations of the major teachings of the Kathopaniṣad, (3) the role and relevance of the Āgamas in shaping their thought, and (4) a comparative analysis of their doctrinal conclusions.

1. Śaṅkara's Advaita Vedānta and the Kathopaniṣad

1.1. Philosophy of Advaita

Śaṅkara (8th century CE), the principal exponent of Advaita Vedānta, articulates a meticulous vision of absolute non-duality in which **Brahman alone is ultimately real**. According to him, Brahman is *nirguṇa*—devoid of qualities, attributes, or internal distinctions. The empirical world, including individual selves, emerges due to **avidyā** (ignorance), which veils the true nature of reality and creates the appearance of plurality. The mahāvākyas such as *"tat tvam asi"* (*Chāndogya* Up. 6.8.7) and *"aham brahmāsmi"* (*Bṛhadāraṇyaka* Up. 1.4.10) become key hermeneutical tools through which Śaṅkara affirms the identity of the individual self with Brahman. Central to this epistemic framework is the doctrine of adhyāsa (superimposition), described as the mutual misidentification of the Self with the non-Self. This misidentification sustains the cycle of bondage and transmigration until the dawn of liberating knowledge (*jñāna*), which reveals the Self as the unchanging consciousness underlying all experience.

1.2. Śaṅkara's Interpretation of the Kathopaniṣad

Śaṅkara approaches the *Kaṭhopaniṣad* as a text that unequivocally proclaims the non-dual nature of the Self. For him, the Upaniṣad systematically dismantles the appearance of multiplicity and establishes the identity of ātman and Brahman. Several key verses serve as pillars of this Advaitic interpretation. The statement *"na jāyate mriyate vā kadācit"* (Kaṭha 2.18), which declares the unborn and immortal nature of the Self, is read by Śaṅkara as affirming the absolute and unconditioned reality of Brahman—free from birth, death, and change. Similarly, in interpreting *"aṇor aṇīyān mahato mahīyān ātmāsya"* (1.2.20), Śaṅkara highlights the paradoxical formulation that the Self is subtler than the subtlest and greater than the greatest, revealing both the transcendence and immanence of Brahman. For the Advaitin, such passages point toward aparokṣa jñāna (direct intuitive knowledge) as the only means to realizing the identity of the individual Self with the supreme reality. Thus, in Śaṅkara's view, the *Kaṭhopaniṣad* becomes a profound spiritual dialogue culminating in the affirmation that knowledge alone liberates, while ritual action functions merely as a preliminary discipline.

1.3. Advaita and the Āgama Tradition

Although Śaṅkara's philosophical system is firmly grounded in the authority of the Vedas and Upaniṣads, he does not dismiss the value of Āgamic traditions outright. Instead, he integrates Āgamic practices—including mantra recitation, meditation, pūjā, and yogic disciplines—as provisional means for cultivating mental purity (*citta-śuddhi*). These practices help prepare the seeker for the ascent to higher knowledge but do not, in Śaṅkara's view, constitute the direct cause of liberation. Elements of Śaiva Āgamas, particularly in ritual and monastic organization, exerted notable influence on Advaita institutions. Nevertheless, Śaṅkara consistently subordinates them to the supremacy of brahmajñāna, asserting that ultimate liberation arises solely from the intuitive realization of non-dual Brahman. Thus, while Advaita acknowledges the functional role of the Āgamas, it situates them within a hierarchical framework that prioritizes metaphysical knowledge as the highest spiritual attainment.

2. Rāmānuja's Viśiṣṭādvaita Vedānta and the Kathopaniṣad

2.1. Life and Works

Śrī Rāmānuja (1017–1137 CE), one of the foremost exponents of Vaiṣṇava Vedānta, systematized the doctrine of Viśiṣṭādvaita by grounding it deeply in the Pāñcarātra and Vaikhānasa Āgamas. His corpus includes major philosophical and devotional works such as the *Śrībhāṣya*, *Vedārthasaṅgraha*, *Gītābhāṣya*, and the

Gadyatraya, all of which emphasize a personal and accessible Supreme Brahman. In Rāmānuja's interpretation, Brahman is identified with Nārāyaṇa, who is qualified by *cit* (sentient beings) and *acit* (insentient matter). His famous dictum—*cit-acit-viśiṣṭo nārāyaṇaḥ parabrahma*—encapsulates this vision: Brahman is not an abstract, attributeless reality but the supreme personal God endowed with consciousness and matter as His modes or inseparable attributes.

2.2. Core Doctrines of Viśiṣṭādvaita

The metaphysical foundation of Rāmānuja's Viśiṣṭādvaita rests upon the inseparable unity of Brahman, *cit*, and *acit*. Reality is composed of three eternally existing elements: Brahman as the independent reality, and *cit* and *acit* as dependent but real attributes of Brahman. Souls and matter are not illusory; they are ontologically real and eternal, though always subordinate to God. Brahman is *saviśeṣa*—endowed with infinite auspicious qualities (*kalyāṇa-guṇas*) such as omniscience, omnipresence, and compassion. The world is understood as a real transformation of Brahman (*pariṇāma-vāda*), reflecting divine purpose rather than illusion or projection. Liberation (*mokṣa*) in this system is achieved through a gradual spiritual ascent: **karma** purifies, **jñāna** illuminates, and **bhakti** matures into complete surrender (*prapatti*), culminating in eternal communion with Viṣṇu.

2.3. Rāmānuja's Interpretation of the Kathopaniṣad

Although Rāmānuja did not compose a direct commentary on the *Kaṭhopaniṣad*, his philosophical framework allows for a coherent reconstruction of how he would interpret key passages. Concerning Naciketas' third question, the statement *"asti ity eke nāyam asti iti caike"* (*Kaṭha* 1.1.20) is viewed not as expressing existential doubt but as a pedagogical device used by Yama to lead the seeker toward a deeper conviction about the immortality of the soul. For Rāmānuja, the persistence of individuality after death is undeniable, reinforcing his affirmation of the eternality of the *jīva*. The Upaniṣad's declaration—*"sa kāṣṭhā sa parā gatiḥ"* (1.3.11)—is interpreted as expressing the supremacy of the personal God, who alone is the highest and ultimate destination of all beings. Similarly, the verse *"aṅguṣṭha-mātraḥ puruṣo'ntarātmā"* (2.3.17) is understood as referring to the indwelling Lord, Viṣṇu, whose presence within all beings aligns perfectly with Pāñcarātra doctrines concerning divine immanence. Thus, the *Kaṭhopaniṣad*, in the Viśiṣṭādvaita framework, becomes a text affirming personal theism, divine grace, and the path of devoted surrender.

2.4. Rāmānuja and the Āgamas

Rāmānuja's Vedānta is inseparably linked to the Vaiṣṇava Āgamas, particularly the Pāñcarātra Saṃhitās, which he regarded as authoritative complements to the Vedic tradition. These Āgamas expound the **fivefold manifestation of Nārāyaṇa**—*para*, *vyūha*, *vibhava*, *antaryāmin*, and *arcā*—offering a theologically rich framework for understanding divine presence. They also prescribe rituals, mantras, and temple worship, thereby shaping the lived dimension of Viśiṣṭādvaita spirituality. Rāmānuja drew upon Āgamic theology to reinforce core doctrines such as *viśiṣṭaikya* (unity-in-diversity), where Brahman is one but expressed through real and dependent modes. Hence, the Āgamas are not peripheral texts but **foundational pillars** supporting his theological, ritualistic, and philosophical vision.

3. Madhva's Dvaita Vedānta and the Kathopaniṣad

3.1. Life and Contribution

Madhvācārya (13th century CE), revered as Ānandatīrtha, is the founder of the Dvaita or dualistic tradition of Vedānta. His intellectual corpus is extensive and systematic, comprising major works such as the Brahmasūtra-bhāṣya, the Anuvyākhyāna, the Gītābhāṣya, and the Mahābhārata-tātparya-nirṇaya. Through these texts, Madhva presents a robust theological framework grounded in a realist metaphysics and an unambiguous affirmation of the supremacy of Viṣṇu. His commentarial approach is marked by clarity, linguistic analysis, and strong polemics against Advaita, which he considered philosophically untenable. Madhva's contribution extends beyond metaphysics into devotional theology, ethics, hermeneutics, and institutional organization, shaping the identity of the Tattvavāda school for centuries.

3.2. Fundamentals of Dvaita

At the heart of Madhva's philosophy lies the doctrine of pañca-bheda, the five eternal distinctions that structure all of reality. These include the distinctions between Brahman and the individual soul (jīva), Brahman and the world (jagat), one soul and another soul, soul and world, and between different entities within the world itself. This comprehensive framework rejects any notion of ontological unity between the Absolute and the created realm. For Madhva, Brahman is Viṣṇu, the only independent reality (svatantra-tattva), while all other beings and objects are eternally dependent (asvatantra). Souls are not only distinct from God but also differ intrinsically from one another in capacity and destiny. Madhva classifies souls into three categories: nitya-mukta (eternally

liberated), mukta (those who attain liberation), and baddha (those bound in saṃsāra). The world is real, diverse, and purposeful, reflecting Viṣṇu's omnipotence and omniscience.

3.3. Madhva's Interpretation of the Kathopaniṣad

Madhva reads the Kaṭhopaniṣad through the lens of dualism and personalist theism, emphasizing a permanent distinction between the Supreme Lord and the individual soul. In interpreting the dialogue between Naciketas and Yama, Madhva asserts that the uncertainties expressed—"anye tv evāhuḥ"—pertain not to the existence of the soul after death but to the nature of liberation, specifically whether it entails identity with God or eternal proximity. Madhva firmly rejects the Advaitic reading and upholds liberation as the soul's realization of its dependent nature in relation to Viṣṇu. The verse "yaḥ sarvajñaḥ sarvavit" (*Kaṭha* 2.2.7) is interpreted as referring solely to Viṣṇu, the omniscient and omnipresent Lord who alone possesses independent existence. Furthermore, the Upaniṣadic description of the inner puruṣa—aṅguṣṭha-mātraḥ puruṣaḥ—is identified by Madhva as Paramātman, the indwelling Supreme Lord, who remains eternally distinct from the finite soul residing in the same heart-space. Such interpretations reinforce Madhva's doctrine that difference is real, eternal, and spiritually significant.

3.4. Madhva and the Āgamas

Madhva accords due authority to the Vaiṣṇava Āgamas, recognizing them as valid complements to Vedic revelation. However, he places strong emphasis on śuddha-bhakti—pure devotion grounded in accurate metaphysical understanding. Ritualism, though acceptable, is secondary to devotion informed by correct knowledge of difference (bheda-jñāna). Madhva's strong critique of Advaita is evident in his characterization of Śaṅkara's philosophy as "pracaṇḍa-bauddha", a radicalized form of Buddhist nihilism that undermines the real existence of God and world. For Madhva, the Āgamas support a theological vision centered on Viṣṇu's supremacy, the reality of creation, and the eternal duality between the divine and the human. Consequently, his Vedānta synthesizes scriptural authority, devotional practice, and metaphysical realism into a coherent and theologically vibrant system.

4. Comparative Study of the Three Systems

A comparative study of Śaṅkara, Rāmānuja, and Madhva reveals the rich philosophical plurality within the Vedānta tradition. Ontologically, Śaṅkara's Advaita posits a nirguṇa, non-dual Brahman, where the jīva is ultimately identical with Brahman and the world (*jagat*) is *mithyā*, a dependent reality. Liberation occurs through the

realization of this identity. In contrast, Rāmānuja's Viśiṣṭādvaita affirms a saguṇa Brahman, identified with Nārāyaṇa, who is a unity qualified by cit (souls) and acit (matter). The jīva is a prakāra (mode) of Brahman, and the world is real, forming the body of the Lord; liberation consists in loving union and service to Viṣṇu attained through karma, jñāna, and especially bhakti culminating in *prapatti*. Madhva's Dvaita develops a sharply dualistic ontology in which Brahman, Viṣṇu, is eternally distinct from souls and matter; the jīva is an independent entity only in a limited sense and remains forever dependent on God. Liberation here is eternal, blissful service to Viṣṇu, rooted in pure bhakti supported by the correct understanding of ontological difference (*bheda*). Their hermeneutics of the *Kathopaniṣad* reflect these positions: Śaṅkara interprets the text as teaching non-duality, Rāmānuja as affirming a personal, sagacious Lord who is the supreme goal, and Madhva as establishing eternal duality and devotion. In their relationship to the Āgamas, Śaṅkara accepts Agamic rituals only as auxiliary practices for mental purification, while Rāmānuja accords the Vaiṣṇava Āgamas foundational scriptural authority, integrating their theology and ritual systems into his Vedānta. Madhva too upholds the Āgamas, regarding them as supportive of his devotional theology, though subordinate to the primacy of Vedic revelation. Together, these interpretations demonstrate how a single Upaniṣadic text can generate three robust but distinct metaphysical and theological systems.

Conclusion

The Kathopaniṣad serves as a rich philosophical tapestry that accommodates diverse hermeneutical interpretations. Śaṅkara, Rāmānuja, and Madhva, through their profound commentarial traditions, reveal the depth and plurality of the Vedāntic vision. Śaṅkara presents the Upaniṣadic message as an uncompromising non-duality wherein Brahman alone is real. Rāmānuja interprets the same text through the lens of divine personalism rooted in the Āgamas, affirming both unity and diversity. Madhva strengthens the devotional and dualistic elements, emphasizing the eternal distinction between God and sentient beings.

The Āgama tradition, often underemphasized in Vedāntic studies, emerges as a key scriptural foundation for both Rāmānuja and Madhva, while remaining an auxiliary support for Śaṅkara. The coexistence of these systems illustrates the unique pluralism of Indian philosophy, where multiple pathways coexist toward a shared goal: realization of the Ultimate Truth.

References

Primary Texts

- *Kaṭhopaniṣad*, with commentaries of Śaṅkara.
- *Śrībhāṣya* of Rāmānuja.
- *Brahmasūtra-bhāṣya* of Śaṅkara, Rāmānuja, and Madhva.
- *Anuvyākhyāna* of Madhva.
- *Pāñcarātra Āgamas* (Sātvatasaṃhitā, Jayākhya-saṃhitā).
- *Śaiva Āgamas*.

Secondary Sources

Chari, S. M. (1997). *The Philosophy of the Upaniṣads*. Motilal Banarsidass.

Clooney, F. X. (1996). *Seeing Through Texts: Doing Theology Among the Śrivaiṣṇavas of South India.* SUNY Press.

Deutsch, E. (1969). *Advaita Vedanta: A Philosophical Reconstruction.* University of Hawaii Press.

Hiriyanna, M. (2000). *Outlines of Indian Philosophy.* Motilal Banarsidass.

Mishra, R. (2018). *Rāmānuja's Philosophy of Viśiṣṭādvaita.* MLBD.

Nakamura, H. (1989). *A History of Early Vedānta Philosophy*. Motilal Banarsidass.

Sharma, B. N. K. (2000). *Philosophy of Śrī Madhvācārya*. Motilal Banarsidass.

Suthren Hirst, J. (2005). *Rāmānuja's Philosophy of Divine Body.* Oxford University Press.

Research Scholar At Paikasahi,
P.O. : Bhogada
Distt. : Khordha
Odisha
Pin. 752061
Email: sbkrushnachandra@gmail.com
Mob - 08895007456

Contribution of Sri Aurobindo in the field of Indology: A Critical Study

Dibyajyoti Hazra & Dr. Subhrajit Sen

Sri Aurobindo, Indian Yogi, Maharishi, and Indian nationalist was born on 15 August 1872 in a wealthy family of Calcutta (Calcutta). His father Krishnaghan Ghosh was a famous doctor of Calcutta and a follower of Western culture. His employees also spoke English. But they were very kind by nature. Sri Aurobindo was born and brought up in such a family. He also edited the newspaper *Bande Mataram*.

At the age of seven, he was taken to England for education. There he studied at St. Paul's School, London, and at King's College, Cambridge. Returning to India in 1893, he worked for the next thirteen years in the Princely State of Baroda in the service of the Maharaja and as a professor in Baroda College. During this period, he also joined a revolutionary society and took a leading role in secret preparations for an uprising against the British Government in India.

He became increasingly involved in the nationalist politics of the Indian National Congress and the nascent revolutionary movement in Bengal with the *Anushilan Samiti*. After a number of bombings linked to his organization, he was arrested in a public trial where he was charged with sedition for the Alipore Conspiracy and then released. He then moved to Pondicherry and developed a spiritual practice he called Integral Yoga. He wrote *The Life Divine*, which deals with the philosophical aspect of Integral Yoga and Synthesis of Yoga, which deals with the principles and methods of Integral Yoga.

After his return from England, Aurobindo Ghosh not only studied the divine Sanskrit language while working as a teacher at the *Vatodara Kalashala* in the presence of the Maharaja in Vatodara, but soon became completely immersed in the *shastra*s. He initially taught Sanskrit, sometimes directly through Sanskrit and English, and enhanced his familiarity with the language and its capacity by repeatedly reading the context of the *Nalopākhyāna* of *Mahābhārata*. It soon combined the boundless Sanskrit Ocean of the *Veda*s, *Upaniṣad*s, *Purāṇa*s, History and the works of Kālidāsa, Bhavabhūti and others with the essence of Indian culture underlying it. Aurobindo's Sanskrit connoisseurship and references to it are often seen in his compositions. For example, in his book *The Life*

Divine, every chapter mentions Vedic mantras, Upanishadic words and spiritual Sanskrit verses and then writes an article based on them. In many cases, critical references to poets like Kālidāsa are more praiseworthy. Out of pride that the copy of Aurobindo's well-known collection of works should almost indicate his Sanskrit knowledge, only a brief account of his Sanskrit relationship is presented here.

Philosophical thoughts of Sri Aurobindo:

Sri Aurobindo was an ardent devotee of the *Gītā*. He presented a scientific analysis of the *Karmayoga* and *Dhyānayoga* of the *Gītā*. According to him, *yoga* is a blend of human and divine energy. In other words, *yoga* is the medium through which man experiences divine energy. Sri Aurobindo did not teach people to experience the innermost essence of the soul and assimilate it into *Brahman*, but he wanted to lead the entire human race from ignorance, darkness and death to knowledge, light and immortality. Therefore, his ideology is called *Sarvanga Yoga Darshan*. An understanding of metaphysics, epistemology, logic, axiology and ethics is essential in his *Sarvanga Yoga Darshan*.

Aravind's philosophy of life is a combination of idealism, realism, naturalism and realism. According to him, knowledge (*Jñāna*), devotion (*Bhakti*) and action (*Karmanīti*) can lead man to the divine path. But synthesis of spirituality, creativeness and intellectuality is essential for a sound personality. Spirituality is the master key of the Indian mind. He also believed in India's creativity and its strong intellect.It is the balance between the multi-colored shades of life that makes life holistic. In the *Gītā*, he had deep faith that there should be a proper balance between knowledge, devotion and action. God (*Puruṣottama*) can be achieved through selfless action, infinite meditation, devotion and a sense of unity of all things in God. Hence Aurobindo was a strong advocate of the basic unity of truth through the synthesis of various approaches of Indian thought. Such a holistic approach can solve various problems of human life.

Sri Aurobindo's concept of the Integral Yoga system is described in his books, *The Synthesis of Yoga* and *The Life Divine*[1]. *The Life Divine* is a compilation of essays published serially in *Arya*.Sri Aurobindo argues that the divine Brahman reveals itself as an empirical reality through *līlā*or divine play. Rather than claiming that the world we experience is an illusion (*māyā*), Aurobindo argues that the world can evolve and become a new world with new species, above and beyond the human species, just as the human species evolved after the animal species. Therefore, he argues that the ultimate goal of spiritual practice is not only liberation from the world in samadhi, but also the descent of the divine into the world so that it may be transformed into a divine being. Thus, this

constituted the purpose of Integral Yoga[2]. Regarding the emergence of consciousness into matter, he writes that: 'This descent, this sacrifice of the *Puruṣa*, the Divine Soul submitting itself to Force and Matter so that it may inform and illuminate them is the seed of redemption of this world of in-conscience and Ignorance.'[3]

Sri Aurobindo believed that Darwinism only describes a phenomenon of evolution of matter into life but does not explain the reason behind it, while he finds life already present in matter, as all existence is a manifestation of *Brahman*. He argues that nature (which he considered divine) has evolved life from matter and mind from life. He argues that all existence is striving to manifest itself at the level of the super-mind – i.e. evolution had a purpose. He said that he found the task of understanding the nature of reality difficult and hard to justify by immediate concrete results.

At the center of Sri Aurobindo's spiritual system is the Supreme Being, a mediating power between the unmanifested Brahman and the manifested world[4]. Sri Aurobindo claims that the super-mindis not entirely alien to us and can be experienced within us as it is always present in the mind since mind is actually identical with the former and holds it within itself as a potentiality. Sri Aurobindo does not portray the super-mind as his fundamental quest, but he believes that it can be found in the Vedas and that the Vedic deities represent the power of the super-mind[5]. In *The Integral Yoga,* he declares that 'By the super-mind is meant the full Truth-Consciousness of the Divine Nature in which there can be no place for the principle of division and ignorance; it is always a full light and knowledge superior to all mental substance or mental movement.[6]' The super-mind is a bridge between the bliss of *Saccidānanda* and the lower manifestations, and only through the super-mind can mind, life and body become one. One may be transformed spiritually, but not in consciousness. The descent of a supernatural lineage means the creation of a supernatural race.

Although Sri Aurobindo was familiar with the most important currents of Western philosophy, he did not acknowledge their influence on his writings[7]. He wrote that his philosophy 'was formed first by the study of the *Upaniṣad*s and the *Gītā* … They were the basis of my first practice of Yoga'. With the help of his readings, he tried to move on to actual experience, 'and it was on this experience that later on I founded my philosophy, not on ideas themselves'.

He assumes that the seers of the *Upaniṣad*s had basically the same approach and gives some details of his vision of the past in a long passage in *The Renaissance of India*. 'The Upanishads have been the acknowledged source of numerous profound philosophies and religions', he writes. Even Buddhism with all its developments was merely a 'restoration' with a new approach and new words.And, furthermore, the ideas of the

*Upaniṣad*s 'can be rediscovered in much of the thought of Pythagoras and Plato and form the profound part of Neo-platonism and Gnosticism ...'.

Sri Aurobindo's interest in the Indian tradition is also evident from his choice of a large number of quotationsfrom the *Ṛgveda*, the *Upaniṣad*s and the *Gītā* at the beginning of the chapters in *The Life Divine*, showing the connection of his own thought to Veda and Vedanta. The *Īśopaniṣad* is considered one of Sri Aurobindo's most important and more accessible writings[8]. Before the publication of his final translation and analysis, he wrote ten unfinished commentaries. In a key passage, he explains that Brahman, or the Supreme Creator, is both immovable and immovable.

We must see it in eternal and immutable Spirit and in all the changing manifestations of universe and relativity. Sri Aurobindo's biographer K.R.S. Iyengar quotes R.S. Mugali as stating that Sri Aurobindo might have obtained in this Upanishad the thought-seed which later grew into *The Life Divine*[9].

R. Puligandla supports this viewpoint in his book *Fundamentals of Indian Philosophy*. He describes Sri Aurobindo's philosophy as 'an original synthesis of the Indian and Western traditions." "He integrates in a unique fashion the great social, political and scientific achievements of the modern West with the ancient and profound spiritual insights of Hinduism. The vision that powers the life divine of Aurobindo is none other than the Upanishadic vision of the unity of all existence".[10]

Puligandla also discusses Sri Aurobindo's critical attitude towards Śaṅkarāchrya and his theory that his (Śaṅkarāchrya) *Vedānta* is anti-universal because it teaches that the world is false and illusory. From Puligandla's point of view, this is a misrepresentation of Śaṅkarāchrya's views, which may have been caused by Sri Aurobindo's attempt to reconcile Hindu and Western ideologies by comparing Śaṅkara's *Māyāvāda*to George Berkeley's individualistic idealism[11].

According to the Vedic philosophy of Aurobindo, the counter-deity and counter-essence symbolize the various levels and elements of consciousness from a spiritual point of view. For example, *Vāyu* becomes Master of Energies, Sarasvatī becomes Truth-audition, Īelā becomes Truth-vision and so on. Thus Sri Aurobindo, with his yogic experience and keen intellectual instinct, revealed the well-hidden and well-concealed yogic meanings unnoticed in the Vedas in major works like *The Secret of the Vedas*, *Hymns to the Mystic Fire*.

Aurobindo's knowledge of the Vedas was not imagined by his brain but was gained through direct experience. Aurobindo acknowledged Krishna as the inspirer of his Vedic discourses and the giver of Vedic knowledge, through which he revealed something new

to reveal the mysteries of the Vedas from a new perspective. He said, 'Sri Krishna has shown me the true meaning of the Vedas, not only so but he has shown me a new Science of Philology showing the process and origins of human speech so that a new *Nirukta* can be formed and the new interpretation of the Veda based upon it.'[12]

According to him, 'The *Upanishad*s are epic hymns of self-knowledge and world-knowledge and god-knowledge'. In his view, the knowledge of the Upanishads is not some intellectual assumption but directly attainable knowledge where the distinction between the knower and the known knowledge is destroyed. One of Aurobindo's descriptive sentences of the *Upanishad*s summarizes the importance of the *Upanishads* in his opinion:

'Upanishads are at once profound religious scriptures, for they are a record of the deepest spiritual experiences,documents of revelatory and intuitive philosophy of an inexhaustible light, power, and largeness...spiritual poems of an absolute an unfailing inspiration inevitable in phrase, wonderful in rhythm and expression'[13].

Therefore, the *Upaniṣad*s are not characteristic of the Vedic instinct but are the endless and unbroken remaining parts of the Vedas which directly discover the Vedic mysteries and philosophically reveal the knowledge of the Vedas, which has been removed from the veil of symbols. Thus, by the process of unveiling the mysteries of the Vedas, Aurobindo also translated and explained the *Upaniṣad*s. In his study of the *Upaniṣad*s, Aurobindo studied the *Upaniṣad*s of *Īśa, Kena, Katha*, *Praśna*, *Muṇḍaka*, *Māṇḍukya*, *Taittirīya,Aitareya*, *Chāndogya*, *Bṛhadāraṇyaka*, *Śvetāsvatara*, *Kaivalya* and *Nīlrudra*. There, he made a complete translation with explanation of the *Īśa, Kena, Katha*, *Praśna*, *Muṇḍaka*, *Māṇḍukya Upaniṣad*s and translated a part of the other *Upaniṣad*s. Thus,Aurobindo clearly reveals the essence of the *Upaniṣad*s consisting of *Brahma-Vidyā* and asserts the distinctiveness and peculiarity of the *Upaniṣads* in his research[14].

In the field of philosophy, he wrote *Essays on the Geeta* and a famous work based on the teachings of the *Gītā* called *Gita Bhumika* in Bengali. In two essays, *The Notes on the Mahabharata* and *The Problem of the Mahabharata*, he critically discussed the origin, author, date of composition, verse style and number of verses of the *Mahābhārata* in the form of a thesis.

Introduction to Sanskrit Literature: Aurobindo's Approach:

Aurobindo extensively describes, appreciates and discusses the literary era and the poets of that period in his books entitled *The Foundations of Indian Culture* and *The Future Poetry*. There is a lot of discussion of Kālidāsa, Bhaṭṛhari, Māgha and Bhāravi in particular. There are also references to the subjects of Bhāsa, Śūdraka, Jayadeva, Somadeva, Bānabhaṭṭa, VişņuŚarmā, Viśākhadatta and Pandit Nārāyaṇa. Instead,

Aurobindo has described in detail the greatness of Kālidāsa, and Bhatṛhari, and a discussion of almost all their main works.

Inspired by Sanskrit literature, Aurobindo translated *Vikramorvarśīyam* under the title *The Hero and the Nymph.* Three translations of the first canto of *Kumārasambhava* were composed by him and the first thirteen verses of the fifth verse with anadvanced explanation named *Skeleton notes on the Kumārasambhavam: Canto 5*, were translated. He praised *Meghadūtam* as'The most marvelously perfect descriptive elegiac poem in the world's literature'. He was once translated this poetry entirety. But that translation is lost in time. Eventually Aurobindo was offered to write a detailed seventeen-chapter research paper on Kālidāsa's works.Bhatṛhari's *Nītiśatakam* was translated into English by Aurobindo as *The Century of Life.* Apart from literature, it is known from his writings that Aurobindo read *Dharmaśāstra, Arthaśāstra*, *Sāṁkhyakārikā*, *Vedāntasāra*, Śaṅkara's works and *Lakṣṇaṇa* texts. So, all the above clearly indicate his excellent erudition in Sanskrit and his deep knowledge of Sanskrit literature.

Contribution of Sri Aurobindo to Creative Sanskrit Literature:

Although Aurobindo is a Sanskrit lover and Sanskrit scholar, his Sanskrit works are very few compared to English and Bengali works. But even in them, the variety of articles in prose, verse, commentaries and verses proves Aurobindo's ability in Sanskrit. Similarly, they attest to the developmental parallel of his freedom struggle life involved in *Vatodara* and the compound life part involved in his arrival in Puducherry. Moreover, they soon make clear the progress of his Sanskrit learning and his acquisition of knowledge of Indian culture. Almost all of these are incomplete and unrevised. It can therefore also be inferred that many of them were not written for publication purposes but were often spontaneously composed by him personally at the time to express his thoughts in his file. Further, these works of Aurobindo are described in detail as far as possible following the chronology of their composition as inferred by the publishers of the texts.

Sri Aurobindo's Sanskrit works are much less elaborate than his Bengali works, but they also include verse and prose on a wide variety of subjects. These works show in a brief scope the development of Sri Aurobindo, from the period when he was absorbing the cultural heritage of India after his return from England, to his days as a nationalist leader to his rise as a yogi, scholar and thinker who contributed to the recovery of the ancient knowledge of the *Veda*s and the *Upaniṣad*s. These works were not published in his lifetime, but were discovered in his manuscripts after his death. Many of these works are being published here for the first time.Aurobindo wrote several original classical & Sastric texts and poems in Sanskrit. The texts are *Prāṇa idaṃ sarvam, Bhavānī Bhāratī,*

Tāntrikasiddhiprakaraṇam, Saptacatuṣṭayam, Śrīaravindopaniṣat, Sā Sarvā, Kaivalyopaniṣad-vyākhyā etc. All these works are found in the ninth volume of *Writings in Bengali and Sanskrit*in the *Complete Works of Sri Aurobindo* published by Aurobindo Ashram.

(1) Prāṇ aidaṃ sarvam

This prose collection of Sri Aurobindo, untitled in the manuscript, was apparently composed as part of a philosophical dialogue in which only one discourse was written. The object of this prose is defined as a philosophical dialogue, reminding the reader of the elements found in the *Yogavāśiṣṭha*, as well as suggesting the views of Western philosophers. It is found in the same notebook as the preceding verses and is clearly of the same period (1900–1903).

(2) *Bhavānī Bhāratī*

Sri Aurobindo wrote this Sanskrit poem sometime between 1904 and 1908, possibly at the same time as he wrote the English text of the pamphlet 'Bhawani Mandir' published in 1905; the notebook in which it was written was confiscated by the Calcutta police in May 1908 and never seen again. It was first published with an English translation in December 1985 in *Sri Aurobindo: Archives and Research* under the title *Bhavānī Bhāratī*. The references in the poem to Bhavānī (verses 22,70, 78, 84), Bhāratī (verse 73), Bhāratamātaram (verse 30) and Mātā Bhāratānām (verses 12, 33) suggest the title.

Among the few Sanskrit works of Aurobindo Ghosh, *Bhavānī Bhāratī* is the largest and most literary work. It is believed that this ninety-nine-verse composition in the *Upajātivṛtta* was composed by Aurobindo sometime between 1904 and 1908 during the country's struggle for independence. Because in this poem, by allegorically describing the British rule as a demon and by painting in words the war prowess and victory of Mother India, he inspires Indians to fight the movement of the time, he also reveals his poetry in Sanskrit. *Bhavānī Bhāratī* is a prayer, which reverberates beneath this soil, forever invoking the Shakti, the Mother of the nation, the nation itself.

This work was also stolen among the various works such as articles, papers, poems and others stolen by the guards when Aurobindo entered the prison in. Then, thirty-five years after his death, the work was recovered in a handwritten booklet dated 1904 by the Aurobindo Ashram from the treasury of Aurobindo manuscripts stolen during his imprisonment in Alipore.

Thus, this part of his article summarizes the main element of the poem: "When, therefore, you ask who is Bhavānī the mother, she herself answers you, I am the Infinite

Energy which streams forth from the Eternal in the world and Eternal in yourselves. I am the mother of the Universe, the mother of the Worlds, and for you who are children of the Sacred land, Āryabhūmi, made of her clay and reared by her sun and winds, I am *Bhavānī Bhāratī*, Mother of India."[15]

The poem begins with the pitiful state of the children of Bharat, who are indulged in pleasures –

Sukhe nimagnaḥ śayane yadāsaṃ madhośca rathyāsu manaścacāra/
sa cintayāmāsa kulāni kāvyaṃ dārāṃśca bhogāṃśca sukhaṃ dhanāni// (1)
kāntaiśca śṛṅgārayutaiśca hṛṣṭo gānaiḥ sa chandola litaṃ babandha/
jagau ca kāntāvadanaṃ sahāsyaṃ pūjye ca mātuścaraṇe gariṣṭhe[16]// (2)

Just as we find the description of the suffering mother in this poem[17], we also see the appeal to one's own child expressed in various verses[18]. Sri Aurobindo pays homage to *Bhavānī Bhāratī* in 73rd verse of the poem –

Tubhyaṃ namo devi viśālaśaktyai bhīmavra tetāriṇ ikaṣṭasādhye/
tvaṃ bhāratī rājasi bhāratānāṃ tvamīśvarī bhāsi carācarasya//

(3) *Tāntrikasiddhiprakaraṇam*

The *Tāntrikasiddhiprakaraṇam* is an unfinished work of Aurobindo based on the principles of *Tantra* which was composed in the Sūtra tradition. The worship of the Supreme Power and the processes of distinguishing it are the main subjects in this work. This work seems to have been written by Aravinda about two years after his arrival in Puducherry. Composed of formulas and short sentences, this work suggests the magical power of the Supreme Power in words.Kālī enters the body of one who is sitting still and comfortably, abandoning his thoughts of righteousness, unrighteousness, sin, religion, good, joy and happiness.But we find a verse describing how Kālī enters the body–

Yogakriyāpravartanena vā//

sā praviṣṭāhaṅkāramapanudati/

tāmasaṃ nikṛṣṭamahaṅkāramapanudati/

rājasaṃ tadanantaramahaṅkāramapanudati/

parastādrājasatāmasamiti miśramapanudati/

sāttvikamahaṅkāramapanudati/.....[19]

(4) *Saptacatuṣṭayam*

This is another spiritual composition of Aurobindo in which the *saptacatuṣṭaya* elements of the relationships of the means of yoga, namely the four peace (*śānticatuṣṭayam)*, the four powers (*śakticatuṣṭayam)* etc., and the twenty-eight (*aṣṭaviṃśatiḥ)* emotions, have been enlightened by the Sūtra tradition. The very brief statement of some of the emotions in this quatrain indicates the incompleteness or lack of perception of Aurobindo in his writing. This composition is also found in the same *sañcikā* as the *Tāntrikasiddhiprakaraṇa.*

(5) *Ekamevādvitīyam (Aravindopaniṣad)*

This work is a philosophical work of Aurobindo in which he presents his philosophy in the style of the *Upaniṣad*s. Therefore, here he established the truth of *Brahman* and the universe. Untitled in the manuscript, it was first published with an English translation in *Sri Aurobindo: Archives and Research* in December 1978 under the title *Ekamevādvitīyam Brahma*[20], with the subtitle *Śrīaravindopajñā Upaniṣad*. As the editorial subtitle suggests, it maybe considered a new *Upaniṣad* with Sri Aurobindo as its Rishi—*upajñā* indicating a text received by individual inspiration, not handed down by tradition.

This anonymous work was published in 1987 by the publishers of the *Aurobindo Ashram* with the preface inspired by the *Chāndogyopaniṣad*. This work was found in the *sañcikā* used in 1912-1913 for the study of the Vedic *Upaniṣad*s. That *Aurobindo Darṣan* seems to be the word of the Scriptures perceived from the spiritual vision.Theshastric book begins with the following verses:

'……ekamevādvitīyaṃ brahma sadasadrūpaṃ sadasadatītaṃ nānyatkiñcidasti trikāladhṛtaṃ trikālātītaṃ vā sarvantu khalu brahmaiva yatkiñca jagatyāmaṇu vā mahadvodāraṃ vānudāraṃ vābrahmaiva tad brahmaiva jagadapi brahma satyaṃ na mithyā'[21]

(6) *Sā Sarvā*

This short, untitled and unfinished paragraph (ending in the manuscript with a cancelled word and no punctuation) is found in the first volume of the notebook used by Sri Aurobindo in or around 1927. This text was also used to compose the final chapter of the famous book *The Mother*. Although this text deals with the *Brahman Tattva*, it seems that in the last two sentences it indicates the Śakti *Tattva*, that is, *Sā sarvā sā sarvamayī* (She is all, she is omnipresent). Therefore, even this small and incomplete work is recognized by its publishers as *Sā Sarvā* (Everything)[22].The first two words of the penultimate sentence have been used as the title.

(7) *Mantras & Verses*

YogīAurobindo himself is the seer of the four mantras. The first three original mantras were seen on 1927. Thus, the fourth mantra was seen in *Gāyatrī* meter on 1933. These mantras are also revealed in his own handwriting in Devanagari script in the book *Letters on Himself and the Ashram*.

Ānandamayi caitanyamayi satyamayi parame

tat sat jyotiraravinda

satyaṃ jñānaṃ jyotiraravinda...

They are reproduced with facsimiles of the manuscripts on pages 829-31 of *Letters on Himself and the Ashram*, volume 35 of *The Complete Works of Sri Aurobindo* only the Sanskrit texts in Devanagari are duplicated here.

The *Gāyatrī Mantra* composed by Aurobindo is: *Tatsaviturvaraṃ rūpaṃ jyotiḥ parasya dhīmahi yannaḥ satyena dīpayet.*

Aurobindo's original creative talent is evident from the few Sanskrit verses he wrote at different times and in different contexts. Aurobindo's complete works include a total of four verses. The first of these is quoted here -

Na vāco me sārthāitimanujasamākhyā hi saphalā

na vṛttairbuddhyarnara iti upapadyeta paśuṣu/

pralāpo yasyārtho na hi phalati viśiṣṭaṃ paśuṣu kiṃ

kṛtairyo devatvaṃ vrajati nṛṣu sa siddho nṛcaritaiḥ//

Aurobindo was adept at using new *Chand*a or *Bṛtta* (rhythm) in languages such as English, Greek, etc. Therefore, he composed the aforementioned verse in Sanskrit in a new *Chand*a as well.

(8) *Kaivalyopaniṣad-vyākhyā:*

This Sanskrit commentary on the first verse of the *Kaivalyopaniṣad* was written around 1912. In the manuscript, it is followed by an English translation and commentary under the title *Kaivalyopaniṣad*. The English translation with commentary is published in *Kena* and Other *Upaniṣad*s, Volume 18, *The Complete Works of Sri Aurobindo* (pp. 288-89); it was previously published in Volume 12, The *Upaniṣad*s, in the Sri Aurobindo Birth Centenary Library. The Sanskrit commentary is published here for the first time. In both cases the original Sanskrit text of the *Upaniṣad*, which is not quoted in the manuscript, has been supplied by the editors.

(9) *Ṛgvedaḥ*.

(1) Sri Aurobindo's commentary on the first verse of *Ṛgveda* VII.1 is reproduced here as in the manuscript, including an English translation and notes on selected words followed by a commentary in Sanskrit. Only the translation and notes are reproduced in *Hymns to the Mystic Fire*[23], omitting the Sanskrit commentary. This commentary was written probably around 1920.

(2) Sri Aurobindo wrote out the first verse of *Ṛgveda* X.124 (with accents) followed by a commentary in Sanskrit in a notebook he used in 1916 for various writings mainly in English and Bengali.

This great yogi did not spend his life in austerities and spiritual practices, but gave birth to a new trend in the discussion of philosophy. Sanskrit and Indian culture were his soul mates. He integrated the Vedas, Upanishad literature and classical Sanskrit literature with his philosophy of life. Such great people are born one or two in every era. Mother India is proud to have given birth to this Maharishi.

Bibliography

Aurobindo, Sri (2005), *The Life Divine*, Pondicherry: Lotus press.

…… (2006), *Autobiographical Notes and Other Writings of Historical Interest*, Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.

…….(2002), *Bande Mataram : Political Writings 1890-1908*, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

……..(1972), The Foundations of Indian Culture (Vol. 12 of Sri Aurobindo Birth Centenary Library SABCL), Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

……..(2017), *Writings in Bengali and Sanskrit*(Vol 9 of CWSA), Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

……...(2017). *Bhavānī Bhāratī,*Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

McDermott, Robert A. (1994), *Essential Aurobindo*, SteinerBooks.

Nirodbaran (1973), *Twelve years with Sri Aurobindo*, Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram.

Thakur, Bimal Narayan (2004), *Poetic Plays of Sri Aurobindo*, Northern Book Centre.

Sharma, Ram Nath (1991), *Sri Aurobindo's Philosophy of Social Development*, Atlantic Publishers.

End Notes:

1. McDermott, Robert A. (1994), *Essential Aurobindo*, Steiner Books, p 281
2. Aurobindo, Sri. *The Synthesis of Yoga.* Lotus Press, 1996. p. 7-8
3. Ibid, p 107

4. Aurobindo, Sri. *The Life Divine* Lotus Press, 1990. P. 132
5. Ibid, p 134
6. Ibid, p. 65
7. *Evening Talks with Sri Aurobindo*, p. 106
8. Heehs, Peter (2008), *The Lives of Sri Aurobindo*, Columbia University Press, p 267
9. K. R. Srinivasa Iyengar (1972) *Sri Aurobindo – A Biography and a history.* Pondicherry, Sri Aurobindo Ashram. p. 441.
10. Ramakrishna Puligandla (1997). *Fundamentals of Indian Philosophy*. D.K. Printworld. pp. 267–268
11. Ibid
12. *Autobiographical Notes and Other Writing of Historical Interest,* Sri Aurobindo, p 178
13. *The Upanishads,* (Vol. 12 of SABCL), Sri Aurobindo, p 68
14. *Sri Aurobindo and Sanskrit*, p 26
15. *Bande Mataram: Political Writings 1890-1908*, p 89
16. **English Translation:**As I lay sunk in the comfort of my couch and my mind wandered on the roads of Spring, I thought of my people, of poetry, of wife and enjoyments, pleasure and possessions. I shaped my delight into elegant verse in lyrical stanzas of sensuous passion; I sang of the smile on my beloved's face and of the revered and most sacred feet of the Mother.
17. *BhavānīBhāratī*(5)
18. *Bhobhoavantyomagadhāścabaṅgāaṅgāḥkaliṅgāḥkurusindhavaśca/ bhodākṣiṇātyāḥśṛṇutāndhracolāvasanti ye pañcanadeṣuśūrāḥ//* (Ibid, 23)
19. *Writings in Bengali and Sanskrit,* p 694
20. 'Brahman, one without a second", the first words of the text'
21. Ibid, p 699
22. Ibid, p 715
23. Volume 16 of *The Complete Works of Sri Aurobindo*

Assistant Professor, Department of Sanskrit,
Vivekananda Mahavidyalaya, Burdwan, WB,
9382293943
Assistant Professor, Department of Sanskrit,
University of Gour Banga, Malda, WB
Pin : 732101
8100232021

श्रीयन्त्रम्

श्रीविद्या साधना पीठ, वाराणसी

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) ने सन् १९९६ ई० में श्रीविद्या मन्त्रयोग द्वारा भगवती पराम्बा ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना तथा श्रीविद्या साधना पीठ की स्थापना की। भारतवर्ष में अपने प्रकार की अद्वितीय इस संस्था की स्थापना स्वामी करपात्री जी महाराज के द्वारा उत्तर भारत में लुप्तप्राय श्रीविद्या उपासना को पुनरुज्जीवित व समृद्ध करने के उद्देश्य से की।

संस्था का भवन

वाराणसी में नगवा क्षेत्र में गंगाजी के सुरम्य तट के निकट ही अत्यन्त प्रशस्त और शान्त स्थल में नवनिर्मित चार मंजिल के भवन में यह आश्रम प्रतिष्ठित है। इसमें दो विशाल सभाकक्ष एवं तेरह कक्ष हैं, जिनमें यज्ञमण्डप, अर्चनकक्ष, ग्रन्थालय, शिक्षा एवं अनुसंन्धान प्रकाशन विभाग एवम् अतिथि कक्ष आदि स्थित हैं।

श्रीविद्या साधना पीठ के अङ्ग विभाग एवम् गतिविधियाँ

उपासना, अनुसन्धान एवं शिक्षण, (अध्यापन एवं छात्रावास सहित), प्रकाशन, ग्रन्थालय साधक प्रशिक्षण/साधकावास एवम् अतिथिकक्ष।

साधना पीठ में निगमागम शास्त्रों द्वारा विहित उपासना यथाविधि नियमित रूप से सम्पन्न होती है। दीक्षित साधक/साधिकायें पारम्परिक आचार्य के निर्देशन में यह साधना सम्पन्न कर रहे हैं।

शिक्षण विभाग में छात्रों को सुयोग्य विद्वानों द्वारा वेद शास्त्र का नियमित अध्ययन कराया जाता है एवं उन्हें आगमतन्त्र का सामान्य रूप से तथा श्रीविद्या का विशेष रूप से प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

श्रीविद्या-साधकों के पथप्रदर्शन, श्रीविद्यायन्त्रार्चन पद्धति के प्रशिक्षण आदि के साथ-साथ श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ वाङ्मय का प्रकाशन, श्रीविद्यासाधकों की सेवा, सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए पीठ का द्वार सदा उद्घाटित है। श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन कम में श्रीविद्यारत्नाकर, श्रीविद्यावरिवस्या (पूजापद्धति), भुवनेश्वरीवरिवस्या, साम्बपञ्चाशिका (हिन्दी व्याख्या), विरूपाक्षपञ्चाशिका (हिन्दी व्याख्या), श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र, श्रीमहागणपतिवरिवस्या, उपचारमीमांसा आदि के अनन्तर साङ्गोपाङ्ग श्रीविद्योपासना का अपरिमेय सागर श्रीविद्यार्णवतन्त्र (भाग १-२) हिन्दी भावविवृति सहित सुलभ है।

साधनापीठ में करपात्र स्वामी स्मृति आगम के ग्रन्थों का एक ग्रन्थागार है इसमें आगम पर देश विदेशों में प्रकाशित ग्रन्थों, आगम-तन्त्र की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आरम्भ कर पाण्डुलिपि सङ्ग्रहालय स्थापित कर अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन भी आरम्भ किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ के सम्मुख भव्य उपासना मण्डप एवं श्रीविद्यासाधना की प्रधान अङ्गभूत अनुत्तराम्नायअधिष्ठात्री श्री श्रीशांकरी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की भव्य प्रतिमा एवं श्रीयंत्र की स्थापना भी की गयी है। जहाँ प्रतिदिन श्रीयंत्र की महापूजा होती है।

शिक्षण/प्रशिक्षण

साधनापीठ में इस समय २० छात्र भोजन एवं आवास की सुविधा के साथ निःशुल्क शिक्षण एवं साधना का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

उपर्युक्त सुविधाओं के साथ ही नियमित छात्रवृत्ति एवं छात्रों की शिक्षा पूरी होने पर उनके नाम जमा की गयी एक निश्चित धनराशि देने का भी प्रावधान किया गया है।

अनुसन्धान एवं प्रकाशन

साधनापीठ अपने अनुसन्धान एवं प्रकाशन के कार्यक्रम का और विस्तार करेगा और श्रीविद्या के विभिन्न श्रेत्रों में तथा सामान्यतः आगमतंत्र के रहस्यों को साधकों तक उपलब्ध कराने हेतु षाण्मासिक पत्रिका श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

साधना

साधना के क्षेत्र में भी देश और विदेश के जिज्ञासु साधकों को समुचित निर्देश और प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये आवश्यक तन्त्र का विस्तार किया जा रहा है।

श्रीविद्यासाधना पीठ द्वारा प्रकाशित श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा सम्पादित एवं रचित ग्रन्थों की सूची

१.	श्रीविद्यारत्नाकरः	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	८००/-
२.	श्रीविद्यावरिवस्या	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	५००/-
३.	श्रीमहागणपतिवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	३००/-
४.	श्रीभुवनेश्वरीवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	३००/-
५.	श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	१५०/-
६.	उपचारमीमांसा	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	५०/-
७.	मन्त्रमहायोग	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	२०/-
८.	श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	२०/-
९.	श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् (प्रथम एवं द्वितीय भाग)	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	प्रति सेट ३५००/-
१०.	श्रीविद्या-साधना-मीमांसा	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	६००/-
११.	श्रीविद्यापञ्चरत्नम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	-/-
१२.	तान्त्रिकपंचांग (श्रीविद्यासाधनाऽष्टाङ्गम्)	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	१००/-
१३.	आगमतन्त्र की षाण्मासिक शोध पत्रिका (प्रति अंक)		१२५/-